दोहे से सिद्ध होती है—

संवत् सोलहसौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तजौ शरीर॥

वेणीमाधवदास रचित तुलसी की जीवनी

गुसाईं जी के शिष्य बाबा वेणीमाधवदास के मूल गोसाईं-चरित ने तुलसीदास जी के जीवन पर विशेष प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ में किंवदन्तियों को यथार्थ घटनाओं के साथ मिला दिया गया है, फलतः इसे सर्वांशेन सत्य मानना अदूरदर्शिता है। वेणीमाधवदास ने अपने गुरु तुलसीदास को अलौकिक सिद्ध करने के निमित्त उनके जीवन में बहुत सी असंभाव्य तथा असामान्य घटनाओं का प्रक्षेप कर दिया है। ऐसी संभावनाओं को छोड़ इनकी शेष बातों के स्वीकार करने में हमें किसी प्रकार की हिचक नहीं होनी चाहिये। मूलचरित के अनुसार गोस्वामी जी के जीवन की उल्लेखनीय घटनाएं कालक्रम से नीचे उद्धृत की जाती हैं। वे वैयक्तिक, साहित्यिक और व्यावहारिक संज्ञाओं से तीन वर्गों में विभक्त हैं—*

	घटना	संवत्	घटना काल की गुसांई जी की वयस
	१ जन्म	१५५४	
१ वैयक्तिक—			
	२ यज्ञोपवीत	१५६१	७ बरस
	३ विवाह	१५८३	२९ ,,
	४ स्त्री त्याग वैराग्य ग्रहण स्त्री की मृत्यु	१५८९	३५ ,,
	५ रामदर्शन	१६०७	५३ ,,

* नागरी प्रचारिणी पत्रिका.

STORY OF HINDI LITERATURE.

(WITH A CRITICAL STUDY OF THE MAJOR POETS)

BY

SURYA KANTA SHASTRI,

VYAKARANATIRTHA, M. A., M. O. L.,

Professor of Hindi Literature, D. A. V. College,

LAHORE.

With a chapter on Hindi language

BY

Dr. Banarsi Das, M. A., Ph. D.

Publishers

MEHAR CHAND LACHMAN DAS

The Sanskrit Book-Depot, Saidmitha Bazar

LAHORE.

1930.

त्यागमूर्ति महात्मा

हंसराज !

निराकार की आरसी, तुम्हरी ही यह देह।
लखा जो चाहे अलख को, या में ही लखि लेह॥

महात्मन् !

आर्यभूमि भारत के पश्चिमोत्तरीय द्वार,
पंजाब में स्फूर्तिमय—

दयानन्द एङ्लो वैदिक कालेज

की

स्थापना कर के आप ने आक्रान्त माता को
अनमोल आश्वासन दिया है।

इसी

आश्वासन को सफल
बनाने के लिये मैंने
यह साहित्यिक प्रयत्न
किया है।

यह आप ही के चरण कमलों में

सादर समर्पित

है।

विनीत—सूर्यकान्त.

१. १. १९३१.

PREFACE.

No attempt has hitherto been made to present adequately the history of Hindī literature in a single volume either in English or Hindī. Sir George Grierson's work is mainly philological. The F. E. Rev. Keay's booklet entitled, "A History of Hindī Literature", is an accurate, but a very brief survey of the subject. Miśrabandhu Vinoda is a monument of industry, but it does not serve the purpose of a text-book.

The present book is designed to meet the needs of advanced students of Hindī. It lays particular stress on all those factors that have contributed to the growth and development of Hindī literature, and attempts a new and more vital interpretation of the major Hindī poets of the various periods.

The present writer has at places questioned the validity of several theories of

Western scholars. For example, Sir George Grierson's view that Kabīr derived much from Sufism and Christianity, and that specially Christian is the use by Kabīr of the expression Śabda, the *Logos* of St. John, has led the author to pen an elaborate chapter on Kabīr and Sufism. Again, the view of Barth that Vaiṣṇavism is much indebted to Christianity, and that Rāmānuja had a fruitful contact with the Nestorian Church of the South, has been challenged herein, with the support of eminent authorities like Sir Charles Eliot and others.

All this has been done in the hope that a more balanced and fairer view may be presented to Indian students of the true extent of India's indebtedness to Christianity and Islam in the sphere of her religio-literary development. Special pains have, therefore, been taken to show the actual, not the fancied or sentimental, beauties of Kabīr, Tulasī Dās, Sūr Dās and some modern mystic poets, and to bring out the universality of their outlook. A patient and

intelligent study of these poets, particularly that of Tulasī Dās has made the present writer inclined to believe that, so far as poetical genius and religious fervour are concerned, Hindī poetry is in no way inferior to Sanskrit poetry. And believing as he does that the greatest question of mankind *i.e.*, how to live, and how to solve life's riddles, are practically the same all the world over, he has instituted a careful comparison between the Rāmāyaṇa and the famous Bibles of Professor Moulton, and shown that in the ultimate criticism of life Tulasī Dās is equal to, if not greater than, other world poets.

Those who are interested in the detailed study of any one branch of the subject, should find the footnotes and the bibliographies at the end of this book very useful.

I have freely drawn upon the standard works on the subject, a reference to which will be found at the end of this work.

My thanks are due to Dr. Banarasi Das, M. A., Ph. D. of the Oriental College,

who has very kindly written a chapter in the book on Indian philology with special reference to Hindī; to Professor Veda Vyas, M.A., who has kindly read through some chapters and offered valuable suggestions, and lastly, to Sardar Mohan Singh, M.A., who has provided me with useful information concerning modern Hindī fiction.

I have further to confess to the immense help I have received from my learned wife Śrīmatī Sukhadā Devī who has taken great pains to prepare an elaborate index to this work and read through its final proofs with me, besides letting me profit by her wide reading in Sanskrit and Hindī.

5, Krishna Gali, Lahore
25th October 1930.

SŪRYA KANTA.

शुद्धि-पत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	६	detailde	detailed
१६	११	जिखका	जिसका
१८	१८	compect	compact
१९	२९	La musiqueArab	La Musique Arab
२०	३	Aryan Persi ans	Aryan-Pesrians
२०	१०	myrters	martyrs
२३	२१	Indian Muslim	Indian-Muslim
३५	१५	Henotheisn	Henotheism
४६	१०	cosmas	Cosmas
६१	२७	J. H. Farcuhar	J. N. Farpuhar
८१	४	shelley	Shelley
९१	१६	Shalley	Shelley
९५	२७	life	Life
९६	११	skylark	Skylark
८६	१२	गर्मस्तल	गभस्तल
१०२	१७	१४५९	१४६९
१०४	२७	Macaliffe	Macauliffe
१८५	२६	चन्द्रिकेन्दु	चन्द्रकेन्दु
२३७	१७	Kiss	kiss
२३७	१९	Kisses	kisses
२५१	४	strets	struts
२५१	२७	largenesso	largeness
२६२	२	heard	based
२६२	२	morel	moral
२६२	२७	1930	1913

३०२	१०	shakespeare	Shakespeare
३०४	४	shakespeare	Shakespeare
३०७	२४	Sourse	source
३०७	२५	thinge	things
३७७	२०	हु	हुए
३७८	१६	शीर्य	धीया
४०१	२७	literature	Literature
४०६.	१६,२१,२५.	Bentick	Bentinck
५१६	१५	jiants	giants
५१६	१६	fos	for
५२८	४	आप के भी	आप के
५२८	१५	के अस्वाभाविक	का उत्कृष्ट
५२८	१९	चुसते हुए	चुभते हुए

भूमिका।

History must from time to time be rewritten, not because many new facts have been discovered, but because new aspects come in to view, because the participant in the progress of an age is led to standpoints from which the past can be regarded and judged in a noval manner. Goethe.

इतिहास का यथार्थ उद्देश्य युगविशेष की घटनाओं का वर्णन करना नहीं, प्रत्युत घटनाओं के तारतम्य पर विचार करते हुए उनके पीछे विराजने वाले ऐतिहासिक ऐक्य का उद्भावन करना है। जो घटना इतिहास के सामान्य विद्यार्थी के लिये समय तथा देशविशेष तक ही परिसीमित है, वही इतिहास की एकता पर ध्यान देने वाले विद्यार्थी के लिये वर्तमान, भूत, और भविष्यत् को आलोकित करने वाली बन जाती है। वास्तव में इतिहास, साहित्य, तथा विज्ञान, सब का प्रमुख ध्येय घटनाओं की भिन्नता में ऐतिहासिक अभेद का संप्रदर्शन कराना है।

* इतिहास के इस ऐक्य पर फ्रीमैन ने बहुत अधिक बल दिया है, और यह है भी ठीक। हम देखते हैं कि मनुष्य के आचार विचार में तारतम्य है; उसके विकास में एक प्रकार का क्रम है। व्यक्तियों की समष्टि का नाम ही समाज है। फलतः समाज के विकास में तारतम्य का होना न्यायसङ्गत है। प्रकाण्ड परिवर्तन होते हैं, एक युग दूसरे युग में चुपचाप सरक जाता है। समाज और राजनीति में प्रचण्ड विप्लव होते हैं। परन्तु जिन सुधारकों के प्रयत्नों से यह विप्लव होते हैं उन्हें इन का भान तक नहीं होता। वे बहुधा अपने प्रयत्नों का फल देखने से

---

* ईश्वरीप्रसाद रचित Mediaeval India की भूमिका.

पहले ही संसार से विरत हो चुके होते हैं। यूरोप के इतिहास को देखिये। ज्ञात होगा कि अठारहवीं सदी में होनेवाली फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति की जड़ें रिशेलियो (Richelieu) तथा चौदहवें लुई की शासनप्रणाली में प्ररूढ हुई थीं। विश्वव्यापी जर्मन युद्ध का सूत्रपात प्रिंस बिस्मार्क ने किया था। रूस के भीषण नाटक का उपक्रम मार्क्स, बकानिन, तथा क्रोपाट्किन आदि समष्टिवादियों के स्वार्थत्याग में हुआ था। यूरोप की सभ्यता तथा राजनीति में एक प्रकार का तारतम्य है। यूरोप की भिन्न भिन्न घटनाओं के इतिहास में एक प्रकार का ऐक्य है।

इतिहास का यह ऐक्य भारत में नहीं दीखता। भारत का राजनीतिक पथ भग्न है। उस पर अत्यन्त प्राचीन काल से विदेशियों के आक्रमण होते आए हैं। पारसी, ग्रीक, शक, हूण, आदि जातियों ने बार बार हमारे आन्तरिक विकास में बाधाएं डाली हैं। इन्हों ने अनेक बार हमारी नैसर्गिक संस्थाओं को पददलित किया है। फलतः भारत के राजनीतिक इतिहास में स्वाभाविक विकास का अभाव है।

राजनीतिक पथ के बार बार भग्न होते रहने पर भी भारत की धार्मिक तथा सामाजिक दशा में मौलिक परिवर्तन नहीं हुए। प्राकृतिक सौकर्य तथा ऐसे ही अन्य कई कारणों से भारत प्राचीन काल से आध्यात्मिक क्षेत्र का सामन्त रहता आया है। उसका नैसर्गिक जीवन सदाकाल से गांवों में बीता है, और बीत रहा है। फलतः नगरों तक परिसीमित रहने वाले वैदेशिक आक्रमणों से जहां भारत की राजनीतिक परिस्थिति में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए वहां गांवों में बसने वाले आर्यों की सामाजिक तथा धार्मिक दशा मुख्य बातों में साधारणतया एक सी बनी रही।*

---

* भारतीय ग्रामव्यवस्था के विषय में एक अंग्रेज विद्वान् लिखता है:—

The village communities are little republics, having nearly everything they can want within themselves; and almost independent of any foreign

भारत के अभग्न राजनीतिक इतिहास की संभावना न होने पर भी उसका धार्मिक तथा साहित्यिक इतिहास लिखा जाना संभव है। भारतीय इतिहास के प्राचीन युग के साथ हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध सीधा नहीं है। फलतः उसके विषय में हमें यहां विस्तार के साथ विचार नहीं करना है।

सम्राट् हर्ष के साथ भारतीय इतिहास का मध्ययुग आरम्भ होता है। सम्राट् हर्ष का निर्वाण ६४७ ए. डी. में बताया जाता है। उससे देश को मार्मिक आघात पहुंचा। लगभग ४०० वर्ष से जैसी तैसी चली आने वाली शासनप्रणाली का अन्त होगया और भारत की राजनीतिक एकता नष्ट होगई। हर्ष के पश्चात् ५०० वर्ष तक भारत में एकच्छत्र राज्य की स्थापना नहीं हुई।

राजनीतिक शैथिल्य का धार्मिक परिस्थिति पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। हर्ष के समय में राजनीतिक सहिष्णुता थी, एकदेववाद का प्रचार होगया था। हर्ष की मृत्यु के उपरान्त वैयक्तिक स्वातन्त्र्य

---

relations. They seem to last where nothing else lasts. Dynasty after dynasty tumbles down; revolution succeeds revolution, but the village community remains the same. This union of village communities, each forming a separate little state in itself has, I conceive contributed more than any other cause to the preservation of the peoples of India, through all the revolutions, and changes which they have suffered, and is in a high degree conducive to their happiness and to the enjoyment of a great portion of freedom and independence.

Report of the Select committee of House of Commons. 1832.

की धूम मच गई, सम्प्रदायों का दौरदौरा हो गया। सम्प्रदायों के बाहुल्य का वर्णन आनन्दगिरि के शब्दों में इस प्रकार है—

केचिच्चन्द्रपराः परे कुजपराः केचित्तु मन्दाश्रिताः।
केचित् कालपराः परे पितृपराः केचित्तु नागेशगाः।
केचित्तार्क्ष्यपराश्च सिद्धिनिचयं सेवन्ति केचिद्धिया॥
केचिद् गन्धर्वसाध्यादीन् भूतवेतालगाः परे।
एवं नानाप्रभेदानां नृणां वृत्तिर्यथेप्सिता॥
केचित् स्ववृत्तिं वेदार्थैः प्रतिपाद्यां समूचिरे।
केचिद्धर्मैरियं मुक्तिरिति जल्पं समास्थिताः॥
अन्योन्यमत्सरग्रस्ताः परस्परजयैषिणः।
निजेच्छाकृतिसङ्केषु धारयन्ति रुपान्विताः॥

शङ्कर के अद्वैतवाद ने कुछ काल के लिये संप्रदायों को दबा दिया, किन्तु शङ्कर का प्रभाव स्थायी न रहा। नवम शताब्दी में संप्रदायों ने फिर बल पकड़ा और धार्मिक वितण्डावाद की धूम रही। समाज का शिक्षित समुदाय नास्तिक होगया और अशिक्षितवर्ग अंधविश्वासों में फंस गया। रामानन्द तथा कबीर आदि के अभ्युदय तक सक्षेप में यही दशा बनी रही।

बारहवीं सदी में आने वाला अल इद्रिसी Al Biruni के लेखों की पुष्टि करता हुआ भारतीयों के साहित्य, आचार, तथा दर्शनशास्त्र की प्रशंसा करता है। परन्तु कोरे दर्शनों से साम्राज्यों की रक्षा नहीं होती। दर्शन के साथ कृपाण का होना आवश्यक है। भारत ने सदाकाल से 'सत्यं शान्तं शिवम्' की पूजा करते हुए दर्शन को अपनाया और तलवार का बहिष्कार किया। परन्तु आततायी जगत् ने उपनिषद् के इस मन्त्र में क्रियात्मक आस्था कभी नहीं रक्खी। उसने बार बार शान्ति को ठेस पहुंचाई हैं। फलतः* शान्त भारत को विदेशियों के सम्मुख सिर

---

* हिन्दुओं की दर्शनप्रियता और उसके हानि लाभों पर विचार करते हुए प्रो० ईश्वरीप्रसाद लिखते हैः—

झुकाना पड़ा। जब भारत में महमूद आया, उसका मार्ग निष्कण्टक था, उसकी विजय निश्चित थी। सोमनाथ के मन्दिर में क्रूरता नंगी नाची। पुजारियों ने उसे देखा, राजपूतों ने उसे देखा, परन्तु उनकी मोहनिद्रा न टूटी, उन में एकता का संचार न हुआ।

'गजनी साम्राज्य के पतन होने पर विजयश्री उस सिपाही (मुहम्मदगोरी) के चरणों में पहुंची जो चातुर्य तथा विवेक का प्रतिरूप था'। भाग्य ने उसका हाथ बंटाया। सिपाही ने भारतमाता की छाती पर इस्लाम का झण्डा गाड़ दिया, सदा के लिये उसे हिन्दू और मुसलमानों की समस्या में कस दिया।

शान्ति के साथ नवीन युग ने प्राचीन युग को बिदा किया। 'शिवास्ते पन्थानः सन्तु' कहते समय किसे ज्ञात था कि आज से भारत में रणचण्डी का नाच होगा, हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के प्रति बद्धवैर रहेंगे। परन्तु 'भवितव्यं भवत्येव कर्मणो गहना गतिः' जो होना

Al Biruni has vividly portrayed the conditions of Hindu Society which he saw with his own eyes, and from his account we can form some idea of the high degree of civilisation attained by the Hindus. But the philosphical and religious spirit of the Hindu made him supremely indifferent to political revolution, and *conseqently deprived him of that energy and capacity for practical action,* which alone could have enabled him to deal with such powerful enemies as the Turks. The vast bulk of the Indian people had allowed their numerous invaders to pass in patient, deep, disdain and when the Muslims came to India, they adopted an attitude of similar indifference.

था वह होकर रहा।

आर्यसभ्यता धर्मप्राण है, वह आदर्श की चितेरी है। इस्लामिक सभ्यता धर्मप्रिय है, वह व्यावहारिकता की चेरी है। पहली दर्शन के पीछे चलती है, दूसरी प्रवर्तक के आदेश को सिरमाथे रखती है। मोहम्मद सैनिक नेता होते हुए भी किसी सीमा तक सहिष्णु थे*। इस्लाम में सहिष्णुता का अभाव है। हिजरा की दूसरी सदी में देश देशान्तरों को तलवार तथा† अग्निकाण्डों के बल से जीत कर मुसलिम सेनानायक प्रमत्त हो उठे थे। उन्होंने कुरान की बातों पर अधिक ध्यान न दे विजित प्रदेशों पर मन माने आदेश आरोपित कर दिये। इस युग के मुसलिम नेता गैरमुसलमानों के सम्मुख दो बातें रखते थे। 'Abjure or die; abjure or be a slave.'‡ सत्ता के मद में आ इन लोगों ने इस्लाम को अन्धा तथा उन्नति के अयोग्य बना दिया। इस्लाम की कट्टर असहिष्णुता इसी युग से प्रारम्भ होती है।

'Let there be in you a nation summoning unto the good' कुरान का यह वाक्य महत्त्व का है। इस्लाम राजनीति प्रधान धर्म है।§ इस में धर्म के यथार्थ रहस्य पर ध्यान न दे अपने मन्तव्यों को दूसरों पर आरोपित किया जाता है। एक दिन गेब्रील ने मुहम्मद साहब से पूछा कि इस्लाम का रहस्य क्या है। मोहम्मद साहब बोले 'In professing that there is but one

---

* Andre Servier रचित Islam and the Psychology of the Musalman. पृष्ठ ७२

† With fire and sword and all manner of tortures.........उक्तपुस्तक का पृष्ठ ८६

‡ Islam and the Psychology of the Musalman. पृष्ठ ७९

§ सर जदुनाथ सरकार रचित Studies in Mughal India. पृष्ठ २१०

God and that I am His prophet, in observing exactly the hours of prayer, in giving alms, and in making the pilgrimage to Mecca.' पूजा के पांच साधनों में पांचवां साधन 'पवित्रयुद्ध' है। इस्लाम का उद्देश्य है 'दरुलहर्ब' को 'दरुल इस्लाम' (=मुसलमान प्रदेश) में परिवर्तित करना। इस ध्येय की पूर्ति में शान्ति तथा जिहाद दोनों से काम लिया जाना कुरान को अनुमत है। 'Extend the house of Islam to all parts. The house of war is God's. God gives it to you. Fight the infidels until there shall be none left' इस वाक्य का तथा There can be no peace with the infidle' इत्यादि वाक्यों का यही आशय है।

कुरान की इन आयतों का मुसलिम सेनापतियों ने भरपूर पालन किया। *Margoliouth के अनुसार 'पैगम्बर साहब का विधेयात्मक राजनीति के क्षेत्र में सब से अधिक महत्त्वशाली काम सह्य संप्रदायों की स्थापना करना था। समाज की गैरमुसलिम श्रेणियों को विशेष विशेष प्रतिबन्धों के साथ राज्य में रहने की अनुमति दी जाती थी।' किन्तु मुहम्मद साहब की इस नीति के रहने पर भी मुसलिम नरेश गैर मुसलमानों को, केवल इस कारण से कि वे इस्लाम को नहीं स्वीकार करते सताने से बाज न आते थे। †

---

* Early Development of Mohammadanism. पृष्ठ ६६।

† 'The duty of the Muslim sovereign to reduce all non-muslim states to subjugation by force of arms never actually lapsed, though circumstances may have rendered it difficult or even impossible to execute'.

Early Development of Mohammadanism. पृष्ठ १०४

धार्मिकवर द्वितीय ओमर के नियमों में से एक नियम यह भी था कि मुसलमानों की अपेक्षा ईसाई तथा ज्यू लोगों को व्यापारिक कर द्विगुणित देना पड़ेगा*। तीसरी सदी के पश्चात् ओमर के नियमों का कठोरता के साथ पालन होने लगा। इन नियमों में से कुछ का वर्णन Sir William Muir के शब्दों में इस प्रकार है—

The dress of both sexes and of their slaves must be distinguished by broad stripes of yellow; they were forbidden to appear on horseback and if they rode a mule or an ass the stirrups must be of wood and the saddle known by knobs of the same material. Their graves must be level with the ground, and the mark of the devil placed on the lintel of their doors. Their children must be taught by Muslim masters. Besides the existing churches spared at the time of conpuest, no new building must be erected for the purpose of worship, no cross must remain in view outside, nor any hammer be struck. They must refrain from processions in

---

The Christians were treated as idolaters and apostates with fire and sword and all manner of tortures according to the letter of Abu Bekr 's barberous order. And this proves that Islam only enjoins moderation when under restraint.'

Islam and the Psychology of the Musalman पृष्ठ ८६.

* Early Development of Mohammadanism. पृष्ठ ११९

the streets at Easter and other solemn seasons.†

इस प्रकार मुसलिम आततायिता ने शनैः शनैः मुहम्मद के इस नैतिक काम को भी मट्टी में मिला दिया। जिस जाति तथा धर्म के बीज में इतनी असहिष्णुता हो उसकी शाखा प्रशाखाओं में साहिष्णुता की कल्पना करना मरु की चमक में प्यास बुझाना है। मुसलमान जहां गये वहीं तलवार और अग्नि का रोमाञ्चकारी ताण्डव हुआ। मुसलमान भारत में आए। उन्होंने भारतभूमि के तिल तिल को अपनी निरङ्कुशता का परिचय दे दिया। Zia Barani के अनुसार अलाउद्दीन दोआबा के हिन्दुओं से उनके उत्पादों का ९० प्रतिशत लगान के रूप में ले लेता था। नादिरशाह तथा औरङ्गजेब आदि मुसलिम सम्राटों की आततायिता पर इतिहास भी आंख मीच लेता है।

ऐसी आततायी परिस्थिति में किसी भी जाति से किसी भी प्रकार की असामान्य उन्नति करने की आशा करना मनोविज्ञान को धता बताना है। मुसलमानों की प्रमत्त सैनिकता के परिणामों पर विचार करते हुए प्रोफेसर जदुनाथ सरकार (अब Sir) लिखते हैं—

‡ 'When a class are publicly depressed and harassed by law and executive caprice alike, they merely content themselves with dragging on an animal existence. With every generous instinct of the soul crushed out of them, with intellectual culture merely adding a keen edge to their sense of humiliation, the Hindus could not be expected to produce the utmost of which they were capable; their lot was to be hewers of wood and drawers

---

† Early Development of Mohammadanism पृष्ठ ११८

‡ History of Aurangazeb भाग ३. पृष्ठ २८६-२८७.

of water to their masters, to bring grist to the fiscal mill, to develop a low cunning and flattery as the only means of saving what they could of the fruits of their own labour. Amidst such social conditions, the human hand and the human mind cannot achieve their best; the human soul cannot soar to the highest pitch. The barrenness of the Hindu intellect and the meanness of spirit of the Hindu upper classes are the greatest condemnation of Muhammadan rule in India. The Islamic political tree, judged by its fruit was an utter failure"

उपर्युक्त सन्दर्भ से स्पष्ट होजाता है कि भारतीय इतिहास के उस युग में मौलिकता का इतना अभाव और प्रशस्तियों की इतनी अधिक भरमार क्यों रही। इस रहस्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिये पर्शियन साहित्य के शफावी युग (१३३४ ईसवी में मरने वाले शफी सन्त द्वारा प्रवर्तित) पर ध्यान देना चाहिए।* पौरस्त्य कवि स्वभावतः उपजीव्यों की प्रशंसा करते आये हैं। किन्तु शफावी युग के राजा आत्म-श्लाघा को अनुचित समझते थे और इस लिये उन्होंने तात्कालिक कवियों को इस प्रकार की प्रशंसा करने से रोक उन्हें इमामों की स्तुति करने की ओर प्रवृत्त कर दिया था। परन्तु Browne के कथनानुसार अर्थगृध्नु कवि (बदायूनी के मत में १७० के लगभग) इमामों से विशेष प्रकार का अर्थलाभ न देख दिल्ली के मुगल सम्राटों की शरण में आए और उन्होंने वहां प्रशस्त्यात्मक काव्य की भरमार कर दी।

मोहम्मद के पश्चात् होनेवाले अरब कवियों के विषय में Andre Servier लिखता है—

In contact with Byzentines and Persians, the

---

* Browne रचित Literary History of Persia. भाग ४ पृष्ठ २८-२६

poets, like the warriors, became more effeminate. They sang no longer of battles or of vengeance; they changed themselves into courtiers, and sang the praises of the Caliph and of influential personages from whom they hoped to receive favours and presents. To please the all-powerful master, who lived in the style of a king of Persia or of a Byzentine Emperor, *in the midst of luxury and pleasure, they sang of good cheer, of wine, and the love of women. As these subjects lack variety they endeavoured to brighten them up by a studied refinement of expression, by virtuosity of style, by the use of archaic and erudite expressions, by flashes of wit, and the play upon words.*"*

भारत में मुसलमानों के आने से पूर्व ही भारतीय कविता इस ओर को चल रही थी, किन्तु मुसलिम सम्राटों तथा उनके पीछे आने वाले पार्शियन कवियों ने उस प्रवृत्ति को बहुत अधिक सहारा दे पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया।

हिन्दी साहित्य ११ वीं सदी से प्रत्यक्ष होता है। वह संभवतः १ या २ सदी इस से पूर्व भी रहा होगा। १४४० में उत्पन्न होने वाले कबीर के अभ्युदय तक मौलिकता छिपी रही। क्या हिन्दी, क्या संस्कृत, इस युग में दोनों के साहित्य का यही हाल था। कवि लोग पेट भरने के लिये उपजीव्य नवाबों की प्रशंसा किया करते थे। कबीर के पश्चात् भी यही दशा चलती रही। फलतः जहां विहारी आदि दरबारी कवियों में भौतिक शृङ्गार का लोकोत्तर परिपाक है वहां उन में प्रस्तुत परिस्थति से विद्रोह कर जीवन का रागात्मक व्याख्यान करने वाली प्रतिभा की

---

* Islam and the Psychology of the Musalman. पृष्ट २२१

न्यूनता है। यही बात केशव तथा उसके अनुयायी रीतिमार्गी कवियों के विषय में चरितार्थ होती है। इन्होंने दरबारी टीपटाप से प्रभावित हो छठी सदी के लगभग होने वाले भामह तथा दण्डी आदि आलङ्कारिक कवियों का अनुकरण करते हुए रीतिमार्ग के परिपोषक अलङ्कारों की लोकोत्तर छानबीन की है, परन्तु यथार्थ कविता के नाम पर 'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' ही चढ़ा कर सन्तोष कर लिया है।

इसमें सन्देह नहीं कि कबीर तुलसी और सूर ने इसी युग में अत्यन्त मौलिक विश्वजनीन कविता की थी, परन्तु स्मरण रहे यह लोग रूढिवादों के प्रभट प्रत्याख्यायक थे और सत्ताधीशों के दूषित प्रभाव से कोसों दूर रहते थे। जनश्रुति के अनुसार एक बार दिल्लीश्वर अकबर ने सूरदास को अपने दरबार में निमान्त्रित कर उनसे अपना यश गाने के लिये कहा। इस पर सूरदास ने उपेक्षाभाव से यह पद गाया:—

मनारे ! तू करि माधव सों प्रीति।
काम क्रोध मद लोभ मोह तू, छांडि सबै विपरीति।

इत्यादि.

इस पद में वैराग्य, सन्तमहिमा, भागवतधर्म, तथा धनाधिकारियों के प्रति उपेक्षा का उत्कृष्ट चित्र खींचा गया है। अकबर के दुबारा प्रार्थना करने पर आप ने यह पद गाया—

नाहिं न रह्यौ मन में ठौर।
नन्द नन्दन अछत उर में आनिये कस और॥
चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत राति।
हृदय में वह वदन मूरति छिनु न इत उत जाति॥
कहत कथा अनेक ऊधो, लोभ दिखाय दिखाय।
कहा करौं चित प्रेमपूरन घट न बिन्दु समाय॥

इत्यादि पद्यों से स्पष्ट हो जाता है कि कविता के सच्चे पुजारी इस युग में भी सत्ताधीशों से घृणा नहीं तो उनकी उपेक्षा अवश्य करते थे। फलतः इन कवियों की कृतियों में भावमयी कविता का सर्वाङ्गीण

प्रतिफलन है, जीवनका लोकोत्तर व्याख्यान है, और सत्ताके चरम ध्येयका अनोखा संप्रदर्शन है।

एक बात और। तुलसी और सूर अकबर के युगमें हुए थे और अकबर की नीति अन्य मुसलमान सम्राटों की अपेक्षा उदार थी। अकबर हिन्दूसमाज की विशेषताओं को पहचानता था, उसने हिन्दुओं की धर्मपरायणताको परख लिया था। फलतः उसने हिन्दुओं के साहित्य तथा उनकी कलाओं को अपनाया और उनमें इस्लामके लावण्य की पुट दे यथेष्ट सुधार किये। हिन्दी का वसन्त यही था। उसके साहित्य का यौवन इन्हीं दिनों था।

एक बात और। हमें हिन्दी साहित्य में श्रव्यकाव्य भरपूर मिलता है, किन्तु दृश्य, अर्थात् अभिनयात्मक काव्य के दर्शन नहीं होते। इसका क्या कारण है ?

भारत में नाटक का जन्म बहुत पहले हो चुका था। ऋग्वेद में आनेवाले (सविनियोग) संवादसूक्तों से (जिनकी संख्या २० के लगभग है) इस बात का अनुमान होता है कि उस समय किसी न किसी रूप में धार्मिक नाटक अवश्य रहे होंगे। किन्तु डाक्टर Keith के मत में संस्कृत नाटक का विकास—

'By the combination of epic recitations with the dramatic elements of the Krishna legend, in which a young god strives against and overcomes enemies'*

रामायण महाभारत के श्लोकोच्चारण तथा कृष्णगाथा के नाटकीयतत्त्वों के संमिलन से हुआ है। कुछ भी हो, इस बात में तनिक भी संन्देह नहीं कि भारतीय नाटक का जन्म भारत में हुआ है और उस पर किसी भी समय में किसी भी प्रकार का ग्रीक प्रभाव नहीं

---

* Sanskrit Drama. पृष्ठ ४९

* पड़ा । अश्वघोष (२०० ए. डी.) के रचे शारीपुत्र प्रकरण (Turfan, Central Asia में प्राप्त) से ज्ञात होता है कि २०० ए. डी. में भारतीय नाट्य कला उन्नति के शिखर पर पहुंच चुकी थी। उसके पश्चात् भास (३०० ए. डी.), कालिदास (५०० ए. डी.) शूद्रक, हर्षदेव (७वीं ए. डी.), भवभूति (८वीं ए. डी.), भट्टनारायण (८वीं ए. डी से पूर्व), विशाखदत्त, राजशेखर (६वीं ए. डी. का अन्तिमभाग) तथा मुरारि आदि कवि उत्कृष्ट नाटकों की रचना करते रहे।

११वीं ए. डी. से १४वीं ए. डी. तक भारतीय नाट्य कला का पतनकाल है। इसी युग में भारत पर मुसलमानों के बार बार भयङ्कर आक्रमण हुए थे।

Schuyler ने अपनी सूची में ५०० के लगभग संस्कृत नाटक गिनाये हैं, जो इतने सुविशाल संस्कृत साहित्य को देखते हुए नहीं के तुल्य हैं। नाटकों की इस न्यूनता का क्या कारण है ?

† 'हम जानते हैं कि संस्कृत नाटक की उत्पत्ति में प्रमुखभाग प्राचीन ब्राह्मणों का है। संस्कृत नाटक का ध्येय चरित्रचित्रण नहीं, किन्तु गिने चुने शिक्षित पुरुषों का भावोद्बोधन कराना है। लोकप्रियता की ओर धारण किये गये इस एकान्त उपेक्षा भाव से संस्कृत नाटक के सब पहलू स्पष्ट हो जाते हैं। इससे हमें ज्ञात होता है कि संस्कृत साहित्य में इतने कम नाटक क्यों बने, और उनकी भाषा संस्कृत और उनका दृष्टिकोण धार्मिक क्यों रहा।

धार्मिक अनुष्ठानों को अभिनयात्मना मनानेके उद्देश्यसे उत्पन्न हुई नाट्यकला के ये पुष्प देवताविशेषके लिए पवित्र मानी जाने वाली ऋतुविशेष के दिनों में तैयार किये जाते थे। उनका उद्देश्य अनिवार्यरूपसे अनुष्ठानविशेष का संप्रदर्शन कराना होता था। और यही

---

* Encyclopedia. Britanica Drama नामक प्रकरण.

† Encyclopedia Britanica (अन्तिमसंस्करण). Drama नामक प्रकरण.

कारण है कि उत्तर भारत के सब नाटक संस्कृत में लिखे जाते थे और अन्त तक संस्कृत में लिखे जाते रहे। वास्तव में संस्कृत नाटक जातिय अथवा राष्ट्रीय नाटक नहीं, किन्तु पठितसमाज के लिये धार्मिक अवसरों को आनन्दके साथ मनानेका रागात्मक साधन है।'

११ वीं सदी में लोग संस्कृत को भूल रहे थे। इन दिनों भारत में मुसलमानों का पदार्पण भी हो चुका था। हिन्दू जनता प्रत्यक्ष-रूप से अपने धार्मिक अनुष्ठानों को नहीं मना सकती थी। फलतः हिन्दू विद्वानों ने नाटक लिखने वन्द कर दिये और इसके साथ ही भारतीय नाट्यकला भी बहुत दिनों को सोगई।

सभी देशों में नाटक का जन्म किसी न किसी रूप से धार्मिक अनुष्ठानों में हुआ है। किन्तु ग्रीस, रोम, इङ्गलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस आदि देशों में ज्यों ज्यों सभ्यता उन्नत होती गई त्यों त्यों नाटक का उद्देश्य बदलता गया, यहां तक कि अन्त में आज वह जनता के मनोरञ्जन की सामग्री बन गया है। फ्रांस का नाटक एकान्त रूप से कभी भी पुरोहितों के हाथ में नहीं पड़ा और इसी लिये वह और देशों के नाटकों की अपेक्षा आधुनिक नाटक के यथार्थ उद्देश्य को पूरा भी शीघ्रता तथा परिपूर्णता के साथ करने लगा। यही बात नाट्यशास्त्र के उद्भट विद्वान् एक अंग्रेज ने इन शब्दों में कही है—

'In France, where dramatic performances had never fallen entirely into the hands of the clergy, the progress was speediest and most decided towards forms approaching those of the modern drama'*

इसके विपरीत भारतीय नाट्यकला एकबार धर्म के चक्रव्यूह में फंसकर आजीवन उससे बाहर न निकल सकी और उसी में तपस्या

---

* Encyclopedia Britanica. (अन्तिम संस्करण). French Drama नामक प्रकरण.

करती करती शान्त हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार भारत की धार्मिक प्रवृत्ति को बनाये रखते हुए वैष्णव आचार्यों ने संस्कृत को छोड़ हिन्दी भाषा के द्वारा जनसाधारण में अपने भक्ति संप्रदाय का प्रचार किया था इसी प्रकार यदि वे चाहते तो भारतीय नाट्यकला को संस्कृत के कोष में से निकाल हिन्दी आदि जनसाधारण की भाषाओं में प्रवृत्त कर उसकी उन्नति कर सकते थे, किन्तु स्मरण रहे वैष्णव लोग गीता के इस श्लोक का पालन करते हुए—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

सब प्रकार के प्रकारवाद तथा अनुष्ठानवाद को घृणा की दृष्टि से देखते थे और भारतीय नाटकों का मुख्यरूप से संबन्ध था ऋतुविशेषों में होने वाले धार्मिक अनुष्ठानों के साथ। फलतः यदि अर्वाचीन वैष्णवों ने नाटकरचना में विशेष भाग नहीं लिया तो इस में आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

भारतीय नाटक की एकान्त समाप्ति का दूसरा प्रमुख कारण मुसलमानों का भारत में पदार्पण करना है। इस उक्ति के आशय को स्पष्ट करने के लिये नाटक के आरंभिक विकास पर प्रकाश डालना आवश्यक है। नाटक के मूल कारणों पर विचार करते समय Aristotle ने लिखा है:—

'Imitation is natural to man from childhood, one of his advantages over the lower animals being this, that he is the most imitative creature in the world, and learns at first by imitation. And it is also natural for all to delight in work of imitation.

किन्तु ज्यों ही आमोद प्रमोद के लिये किया जाने वाला अभिनय धार्मिक प्रक्रियाओं में नियमित हो जाता है त्यों ही अभिनय में एक प्रकार की गंभीरता आजाती है और उसमें भाग लेने वाले पात्र धार्मिक दूरदर्शिता से काम लेने लगते हैं। सभंव है सब से पहले अनुकरण

जाती है। इसे "थरेची" या "ढाटका" भी कहते हैं। मारवाड़ी भाषा में 'ढाट' नाम थल का है। (३) तीसरी बोली लासी है जो कराची के उत्तर की ओर लस बेला में बोली जाती है। (४) चौथी बोली लाड़ी है जो लाड़ू में बोली जाती है। लडु शब्द का अर्थ है 'ढलवान'। (५) पांचवीं बोली कच्छी है जो कच्छ प्रदेश में बोली जाती है। यहां कच्छी के अतिरिक्त मारवाड़ी और गुजराती भी बोली जाती हैं।

सिन्धी लोग उत्तरी सिन्ध में बोली जाने वाली "सिरायकी" को पृथक् बोली मानते हैं। परन्तु सर जार्ज ग्रियर्सनने इसका समावेश 'विचोली' में किया है।

सिन्धी में कुछ अधिक साहित्य नहीं है। इसका सब से प्रसिद्ध कवि अब्दुल लतीफ है जो अठाहरवीं शताब्दी में हुआ। इस की रचना का नाम "शाह जो रिसालो" है जिस में सूफी मत के सिद्धान्त कथानकों द्वारा समझाए गए हैं। सिन्ध के लोग इसे सिन्ध का हाफिज कहते हैं। वीर रस से भरी हुई कुछ और कविताएं भी इस भाषा में मिलती हैं।

२२—उत्तर-पश्चिमीय वर्ग की दूसरी भाषा लहिन्दी है जिसे पश्चिमी पञ्जाबी, जटकी, हिन्दको, मुलतानी, चिभाली आदि भी कहते हैं। लहिन्दी शब्द का अर्थ है लहिन्दे की बोली और लहिन्दा (अर्थात् 'उतरता हुआ, अस्त होता हुआ), नाम है पश्चिम का। इस के बोलने वालों की संख्या ८० लाख के लग भग है। लहिन्दी की तीन बोलियां हैं १. दक्षिणी बोली जो ठेठ समझी जाती है। २. उत्तर पूर्वी और ३. उत्तर-पश्चिमी। लहिन्दी में साहित्य का अभाव है। सोलहवीं शताब्दी की लिखी हुई एक जन्मसाखी अर्थात् गुरु नानक का जीवन चरित्र और कुछ कविताएं मिलती हैं। लहिन्दी की पोठहारी बोली में कितना ही मुसलमानी साहित्य है, परन्तु लोग उसे पञ्जाबी साहित्य के अन्तर्गत गिनते हैं।

२३—कश्मीरी तथा इस के निकटवर्ती शीना को सर जार्ज ग्रियर्सन् ने एक पृथक् वर्ग में सम्मिलित किया था जिस का नाम उन्हों ने "दारद" या पैशाच वर्ग रक्खा था। इन के मतानुसार दारद वर्ग आर्य भाषाओं के बाहिर है। परन्तु प्रो० ब्लाक और टर्नर के अनुसन्धान से इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती। उन का ख्याल है कि यह भाषाएं भी आर्य ही हैं।

दारद वर्ग में कश्मीरी ही ऐसी है जिस में कुछ साहित्य पाया जाता है। यह कश्मीर देश में बोली जाती है और इस के बोलने वालों की संख्या दस लाख के लग भग है। हिन्दू और मुसलमान लोगों की भाषा में कुछ २ भेद है। हिन्दू लोग कश्मीरी को प्रायः शारदा (या कभी नागरी) अक्षरों में लिखते हैं और मुसलमान लोग इसे फारसी अक्षरों में लिखते हैं।

कश्मीरी भाषा की आदि कवि एक देवी है जिस का नाम "लल्ला" या "लाल देद" था। यह चौदहवीं शताब्दी में हुई और नङ्गी फिरा करती थी। यह कहती थी कि मैं लज्जा किस से करूं, पुरुष तो कोई दिखाई नहीं देता। वास्तव में पुरुष वह है जिस के हृदय में ईश्वर का भय हो। परन्तु संसार में ईश्वर का भय मानने वाला कोई विरला निकलता है। कश्मीरी भाषा के इतर पुस्तक प्रायः संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद हैं, या उनके आधार पर लिखे गए हैं। मुसलमान लेखकों में से महमूद गामी का नाम उल्लेखनीय है। इस की मृत्यु सं० १८१२ में हुई। इस ने फारसी पुस्तकों के आधार पर "यूसफ जुलेखां" "लैला मजनू" और "शीरीं फरहाद" के उपाख्यान लिखे हैं।

२४—दारद वर्ग की भाषाओं में कश्मीरी से उतर कर दूसरे स्थान पर शीना है जिसका सभ्य संसार को कुछ ज्ञान है। यह गिलगित में बोली जाती है। इस वर्ग की अन्य भाषाओं के विषय में अधिक ज्ञात नहीं।

२५—भारत वर्ष की आर्य भाषाओं का वर्णन पूरा करने के लिये सिंहली और जिप्सी भाषाओं का उल्लेख भी आवश्यक है। सिंहली तो उस आर्यभाषा की सन्तान है जिसे लगभग २५००वर्ष पहिले विजयकुमार और उसके अनुयायी अपने साथ सिंहलद्वीप में लेगए थे। इस का अपनी दूसरी भारतीय बहिनों से सम्बन्ध टूट गया था। सिंहली का प्राचीन नमूना दसवीं शताब्दी का है। इस के पुराने रूप को "इलू" कहते हैं। यह शब्द "सिंहल" शब्द का अपभ्रंश है। सिंहली से सम्बन्ध रखने वाली मालद्वीप की भाषा है, जो पुरानी सिंहली की ही सन्तान है।

२६—पश्चिम एशिया (आरमीनिया, टर्की और सीरिया) तथा यूरप के कई भागों में निरन्तर पर्यटन करने वाली कुछ जातियां हैं जिन्हें "जिप्सी"

कहते हैं। इन की भाषा का नाम जिप्सी है जो पांचवीं शताब्दी की प्राकृत की सन्तान है। इसीलिये इसे आर्यभाषा समझना चाहिये। यद्यपि चिर काल तक अन्य देशों में भ्रमण करने से इस में अन्य भाषाओं के अनेक अंश मिल गए हैं तथापि इस के शब्द भण्डार और शब्द रूपावली में आर्य प्रकृति के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

सिंहली और जिप्सी तथा भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं का संस्कृत और प्राकृत से सम्बन्ध प्रतीति गोचर है। भारत की आर्य भाषओं में परस्पर मेल जोल रहने से उन में एक दूसरे के साथ बहुत कुछ समानता भी है। परन्तु सिंहली और जिप्सी का भारत के साथ सम्बन्ध न रहने से, तथा इन का एक दूसरे से पृथक् २ विकास होने से उन में बहुत अन्तर पड़ गया है। इस लिये भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं की तुलना करते समय सिंहली और जिप्सी पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। परन्तु कई विषयों में ये आर्य भाषाओं के इतिहास पर बड़ा भारी प्रकाश डालती हैं।

२७—इस प्रकार भारतीय आर्य भाषा का संक्षिप्त इतिहास वर्णन करके अब हिन्दी को लेते हैं। यहां पर यह बतला देना अनुचित न होगा कि "हिन्दी" शब्द फारसी भाषा का है और इसका अर्थ है "हिन्द सम्बन्धी"। मुसलमान लेखकों ने हिन्द शब्द को भारतवर्ष के लिये प्रयुक्त किया है। "हिन्दी" शब्द को "हिन्दू" शब्द से अलग समझना चाहिये, क्योंकि "हिन्दू" शब्द को वे लेखक ऐसे भारतवासी के लिये व्यवहृत करते हैं जो मुसलमान न हो। अमीर खुसरो ने जो चौदहवीं शताब्दी में हुआ है अपने ग्रन्थ (गुर्रतुल कमाल) में एक ही स्थल पर दोनों शब्दों का प्रयोग किया है, जहां वह फ़ीरोजशाह खिलजी के सम्बन्ध में लिखता है कि जो कोई जीवित "हिन्दू" बादशाह के हाथ चढ़ा वह हाथी के पैरों तले रोंदवाया गया लेकिन जो भारतवासी (हिन्दी मुसलमान थे) उनकी प्राण रक्षा हुई।

ऊपर कही व्युत्पत्ति के अनुसार "हिन्दी" शब्द और उसका शुद्धतर रूप "हिन्दवी" भारत वर्ष की भाषा या भाषाओं के लिये व्यवहृत होते रहे हैं। फारसी पुस्तकों में ऐसे बहुत से स्थल हैं जहां "हिन्दी" और "हिन्दवी" शब्द

न केवल हिन्दी या उर्दू के लिये ही प्रत्युत संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं के लिये भी प्रयुक्त हुए हैं।

२८—पाश्चात्य लेखक हिन्दी शब्द का दो अर्थों में प्रयोग करते हैं—(१) जिसे हम खड़ी बोली कहते हैं उसके लिये, (२) या कभी २ बङ्गाल और पञ्जाब के मध्यवर्ती प्रदेश में बोली जाने वाली बोलियों के लिये। परन्तु सर जार्ज ग्रियर्सन ने हिन्दी शब्द के अन्तर्गत उन बोलियों को लिया है जो सरहन्द (पञ्जाब) और काशी के दरमियान बोली जाती हैं। मोटे तौर पर वह दो भागों में विभक्त हैं—पूर्वी हिन्दी और पश्चिमी हिन्दी। जैसा ऊपर कहा गया है पश्चिमी हिन्दी के अन्दर पांच बोलियां हैं। हिन्दुस्तानी, बांगरू, ब्रज, कन्नौजी और बुन्देली। यह बोलियां जिस इलाके में बोली जाती हैं वह संस्कृत पुस्तकों में प्राय: मध्यदेश के नाम से वर्णित हैं। भेद केवल इतना है कि पश्चिमी हिन्दी तो पूर्व की ओर कानपुर तक बोली जाती है और मध्यदेश की पूर्वी सीमा प्रयाग (अलाहाबाद) है। पश्चिमी हिन्दी बोलने वालों की संख्या चार करोड़ के लग भग है।

२९—पश्चिमी हिन्दी की बोलियों में सब से प्रधान बोली हिन्दुस्तानी है जो साधारण बोल चाल की भाषा के रूप में रोहिल खण्ड, गङ्गा-दोआब के उत्तरी भाग और पञ्जाब के जिला अम्बाला में बोली जाती है। मुसलमान लोग इसको अपने साथ भारत के दूसरे भागों में भी ले गए हैं। इसका प्रयोग साहित्य में भी हुआ और साथ ही इसका संमार्जन होता रहा है। साहित्यिक अवस्था में इसके तीन रूप हैं—

(१) हिन्दुस्तानी जिसे हिन्दू मुसलमान लिखते हैं तथा परस्पर बात चीत में व्यवहृत करते हैं। (२) उर्दू जिसे मुसलमान और वह हिन्दू जिन्होंने फारसी की शिक्षा प्राप्त की हो व्यवहार में लाते हैं। और (३) हिन्दी जिसे वह हिन्दू जिन्होंने संस्कृत शिक्षा पाई हो काम में लाते हैं। उर्दू के भी दो रूप हैं—

(१) ठेठ उर्दू जो कि देहली और लखनऊ की शिष्ट भाषा है। (२) दखनी उर्दू जिसे दक्षिण के मुसलमान बोलने तथा लिखने पढ़ने में प्रयुक्त करते हैं।

पश्चिमी हिन्दी की दूसरी बोली बांगरू है जिसे "जाटू" या "हरियानी"

भी कहते हैं। यह पूर्वी पञ्जाब अर्थात् हिसार, रोहतक और करनाल के जिलों में तथा देहली के एक भाग में बोली जाती है। इस की निकट वर्ती पञ्जाबी तथा राजस्थानी से बहुत कुछ समानता है।

व्रज भाषा गङ्गा दोआब के मध्य भाग में बोली जाती है। कन्नौजी व्रज से मिलती जुलती है तथा व्रज के पूर्व में बोली जाती है। बुन्देली ग्वालियर और बुन्देल खण्ड की बोली है।

३०—नीचे के कोष्ठक में इन के बोलने वालों की संख्या दी है जो "लिङ्-ग्विस्टिक सर्वे" के आधार पर है। अब संख्या में कुछ भेद पड़ गया है।

१—हिन्दुस्तानी।	
(क) साधारण बोल चाल की भाषा रूप में	५२, ८२, ७३३
(ख) साहित्यिक रूप (उर्दू तथा हिन्दी साहित्य)	७६, ६६, २६४
(ग) दखनी	३६, ५४, १७२
	१६६ ३३ १६६
२—बांगरू	२ १६५ ७८४
३—व्रज भाषा	७८६४ २७४
४—कन्नौजी	४ ४८१ ५००
५—बुन्देली	६८६६ २०१
	३८० १३६२८

३१—अब इनका कुछ विस्तृत वर्णन किया जाता है। हिन्दुस्तानी शब्द का अर्थ है हिन्दुस्तान की (भाषा), और फारसी में हिन्दुस्तान कहते हैं हिन्दुओं के देश को अर्थात् हिन्दुस्तान को। भारत के लोग हिन्दुस्तान कहने से उस प्रदेश को लेते हैं जिस के पश्चिम में पञ्जाब, पूर्व में बङ्गाल, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्य पर्वत है। जब हिन्दुस्तान का यह अर्थ हो तो हिन्दुस्तानी के अन्तर्गत पश्चिमी हिन्दी की अन्य बोलियां, पूर्वी हिन्दी, बिहारी और राजस्थानी भी आजाती हैं।

३२—हिन्दुस्तानी के दो रूप हैं —साधारण बोल चाल की हिन्दुस्तानी और साहित्यिक हिन्दुस्तानी जो बोल चाल की हिन्दुस्तानी का ही संमार्जित रूप है।

साधारण बोल चाल की हिन्दुस्तानी गङ्गा-दोआब के उत्तर भाग और रोहिल खण्ड के पश्चिम भाग में बोली जाती है, परन्तु साहित्यिक हिन्दुस्तानी को उत्तर भारत के पढ़े लिखे मुसलमान तथा दक्षिण भारत के सभी मुसलमान प्रयोग में लाते हैं। असल बात तो यह है कि हिन्दुस्तानी बोली समग्र भारत वर्ष में समझी जाती है और जब भिन्न २ प्रान्तों के लोग आपस में बात चीत करते हैं तो हिन्दुस्तानी के ही किसी न किसी रूप का आश्रय लेते हैं।

जैसा कि अभी बतलाया गया है साहित्यिक हिन्दुस्तानी साधारण बोल चाल की हिन्दुस्तानी का ही संमार्जित रूप है। मुसलमान राज्य में देहली दरबार के भिन्न २ भाषा-भाषिओं के लिये एक साझी भाषा की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता ने हिन्दुस्तानी को जन्म दिया और मुसलमान राज्य के कर्मचारी जहां २ भारत में गए इसे भी अपने साथ लेते गए।

३३—साहित्यिक हिन्दुस्तानी के कई रूप हैं जिन में उर्दू, रेखता, दखनी और हिन्दी प्रधान हैं।

उर्दू, साहित्यिक हिन्दुस्तानी का वह रूप है जो फारसी अक्षरों में लिखा जाता है तथा जिस में फारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग करने में कोई संकोच नहीं किया जाता। इसका "उर्दू" नाम तुर्की भाषा के शब्द "उर्दू ए-मुअल्ला" से पड़ा है जो देहली शहर के बाहिर की छावनी का नाम था। इसको पढ़े लिखे मुसलमान और वह हिन्दू जिन्होंने फारसी की शिक्षा पाई हो बोलते हैं। इस में सन्देह नहीं कि फारसी और अरबी शब्द हर प्रकार की हिन्दुस्तानी में मिलते हैं। बहुत से शब्द तो पूरी तरह हिन्दुस्तानी बन गए हैं, क्योंकि यह अनपढ़ लोगों की बोली में तथा बाबू हरिश्चन्द्र जैसे हिन्दी लेखकों की कृति में भी पाए जाते हैं। इनके प्रयोग का निषेध करना थोथा पाण्डित्य है। जिसे बढ़िया उर्दू कहते हैं उसमें फारसी शब्दों का प्रयोग उचित सीमा को लांघ गया है। इस प्रकार की भाषा में कई बार ऐसे वाक्य मिलते हैं जिन में व्याकरण, शैली

तथा अन्तिम क्रिया-पद को छोड़ और सब शब्द फारसी तथा अरबी के होते हैं। आश्चर्य की बात है कि हिन्दुस्तानी भाषा में फारसी शब्दों की भरमार का काम कायस्थ और खत्री लोगों ने किया है। मुसलमान शासक तो चिरकाल तक फारसी भाषा में लिखते पढ़ते रहे। ठीक, इसी भांति आज कल अंग्रेजी शब्दों का प्रचार भारतीय भाषाओं में होता जाता है। अंग्रेजी जानने वाले बाबू लोग जब आपस में बात चीत करते हैं तब प्रायः आधे शब्द अंग्रेजी के बोलते हैं।

३४—साहित्यिक हिन्दुस्तानी का दूसरा रूप रेखता कहलाता है। "रेखता" शब्द का अर्थ है "बिखरा हुआ"। इसको 'रेखता' इस लिये कहते हैं कि इस में फारसी शब्द बिखरे रहते हैं। एक प्रकार से यह नाम हिन्दुस्तानी का ही है जिस में थोड़े बहुत फारसी के शब्द हों। जब स्त्रियों की बोली में कविता रची जाय तो उसे 'रेखंती" कहते हैं।

३५—साहित्यिक हिन्दुस्तानी का तीसरा रूप "दाखिनी" के नाम से प्रसिद्ध है। उर्दू की भांति यह फारसी अक्षरों में लिखी जाती है, परन्तु इस में फारसी शब्द अधिक नहीं होते।

३६—साहित्यिक हिन्दुस्तानी का चौथा रूप वह है जिसे हिन्दी, या खड़ी बोली कहते हैं। यह उत्तर भारत में उन हिन्दू लोगों की साहित्यिक गद्य भाषा है जो उर्दू नहीं लिखते। इस का जन्म गत शताब्दी में अंग्रेजी राज्य के प्रभाव से हुआ। उस समय से पहले जब कभी उर्दू न जानने वाला हिन्दू गद्य लिखता था तो प्रायः अपनी स्थानीय बोली में लिखता था। परंतु अंग्रेजों के पठनार्थ जो पुस्तकें रची गई वह खड़ी बोली में थीं। राजकीय शिक्षा विभाग के स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकें खड़ी बोली में होने से अब यह प्रायः सारे उत्तर भारत की साहित्यिक गद्य भाषा बन गई है। कुछ काल से कविता में भी खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा है और इस विषय में यह धीरे २ ब्रज और अवधी का स्थान लेती जाती है। खड़ी बोली के प्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त हैं, जिनकी भारत भारती, जयद्रथ वध और कृषक ने देश भर में ख्याति प्राप्त करली है।

प्रस्तुत लेख ओरियण्टल कालेज मेगज़ीन (१९२९) में प्रकाशित हुए हैं।

उर्दू भाषा की उत्पत्ति

हिन्दी भाषा और उसकी बोलियों के विषय में उपर्युक्त कथन के पश्चात् उर्दू की उत्पत्ति पर कुछ विचार प्रकट करना अनुचित न होगा। पिछले कई वर्षों से मुसलमान भाइयों ने भी अपना ध्यान इस ओर दिया है *। जैसा कि ऊपर कहा गया है लोगों का विचार है कि उर्दू का यह नाम "उर्दू-ए-मुअल्ला" से निकला है. जिस का अर्थ है शाही लश्कर, अर्थात् कटक। जब मुसलमान बादशाहों ने देहली को राजधानी बना लिया तब जनता नगर के बाहिर जहां फौज की छावनी थी उस स्थान को उर्दूबाजार अर्थात् लश्करी बाजार कहने लगी। क्योंकि इस जगह फारसी बोलने वाली मुसलमान सेना का आधिपत्य था इस लिये वहां के हिन्दुओं की भाषा में फारसी अरबी और तुरकी के शब्द मिल गए जैसा कि आज कल अंग्रेजी के शब्द भारतीय भाषाओं में मिल रहे हैं। उर्दू बाजार की इस मिश्रित भाषा का नाम धीरे धीरे उर्दू पड़ गया।

हाफिज महमूद शैरानी लिखते हैं—भाषा के अर्थ में उर्दू शब्द का प्रयोग कुछ बहुत पुराना नहीं है। इस का इस अर्थ में प्रयोग कोई सौ सवा सौ साल से होने लगा है। साहित्य में सब से पहिले मीर मुहम्मद अता हुसैन खान तहसीन ने अपने ग्रंथ नौतर्जमुरस्सा (हि०स० १२१३) में उर्दू शब्द को भाषा के लिये प्रयुक्त किया है †। लेकिन जब हम तहसीन से पूर्व के ग्रन्थों को देखते

---

* १. सय्यद शम्सुल्लः कादिरी कृत "उर्दू-ए-कदीम" ताज प्रेस, हैदराबाद।

२. हाफिज महमूद शैरानी कृत "पंजाब में उर्दू" लाहौर (सं०१९८४)।

३. महीउद्दीन कादिरी संपादित "उर्दू शहपारे," भाग पहिला, हैदराबाद (सं०१९८६)।

इन पुस्तकों में २०० के लग भग मुसलमान, और पांच चार हिन्दू लेखकों की "हिन्दी" या "रेखता" की (जिसे मुसलमान भाई "पुराना उर्दू" कहते हैं) रचना के नमूने दिये हैं। उन्हें देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वास्तव में ये खड़ी बोली के प्राचीन रूप हैं।

† "पंजाब में उर्दू" पृष्ठ २

* 'संवत् ७६८ विक्रमी में मोहम्मद कासिम ने सिन्धु देश को जीता। उसने पहले मन्त्री को राज्य का कार्य सौंप कार्यालय में ब्राह्मण कर्मचारी नियुक्त किये, जिस से कार्यालय का काम यथाविधि पूर्ववत् हिन्दी में होता रहा। संवत् १०७० में महमूद गजनवी ने हिन्दुओं से पंजाब का राज्य लिया। उसने भी वहां का राजकार्यालय हिन्दी में और हिन्दुओं के हाथों में रहने दिया। संवत् १२५० वि. में जब शहाबुद्दीन गौरी ने दिल्ली का राज्य लिया तब उसने भी वैसा ही किया। सुलतान सिकन्दर लोदी ने यद्यपि धार्मिक पक्षपात के कारण हिन्दुओं को फारसी पढने के लिये बाध्य किया था तथापि वह अपने कार्यालय का काम हिन्दी छोड़ फारसी में नहीं कर सका था। सम्राट् अकबर के शासन काल से पहले तक हिन्दी का प्रभुत्व यथापूर्व बना रहा।

"संवत १६३८ में सम्राट् अकबर के प्रधान मन्त्री राजा टोडरमल ने अनेक सुधारों के साथ हिन्दी राजकार्यालय को ईरानी परिपाटी के अनुसार फारसी भाषा और लिपि में परिवर्तित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि जनता हिन्दी भाषा की अपेक्षा फारसी और अरबी भाषा की ओर अधिक आकृष्ट होने लगी। इस भांति सैकड़ों वर्षों की जमी हुई हिन्दी राजा टोडरमल की अदूरदर्शिता के कारण राजकार्यालय से बहिष्कृत होगई। फिर भी हसन गाङ्गू ब्राह्मणी द्वारा स्थापित दक्षिण के बहमनी राज्य में हिन्दी पूर्ववत् बनी रही। किन्तु वहां से भी वह धीरे धीरे निर्वासित की गई, अर्थात् संवत् १६४० से १७४२ तक समग्र मुसलमानी राज्य से हिन्दी का बहिष्कार होगया।

परन्तु इस से यह न समझना चाहिये कि अकबर हिन्दी का द्वेषी था उसने स्वयं हिन्दी में कविता लिखी थी और वह हृदय से हिन्दी कवियों का आदर करता था। हिन्दी की वास्तविक उन्नति अकबर ही के समय

---

* मुसलमानी राजत्व में 'हिन्दी' नामक लेख मुंशी देवीप्रसाद ने प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर पढा था। यह लेख अत्यन्त गवेषणापूर्ण है।

में हुई और इसका प्रमुख कारण था उसका हिन्दी प्रेम। यह अकबर का हिन्दी प्रेम ही था जिसके कारण उसने अपने पोते खुसरो को ६ वर्ष की अवस्था में पहले हिन्दी पढने के लिये बिठाया था। अकबरनामे में लिखा है कि ७ आजर सन् ३८ जलूसी (अगहन सुदि ६ संवत् १६५० वि०) को सुलतान खुसरो हिन्दी पढने बैठा। भूदत्त ब्राह्मण उसको पढाने के लिये नियुक्त किया गया। अकबर ने सिक्कों, तोपों, और बन्दूकों आदि के नाम भी प्रायः हिन्दी ही में रक्खे थे।

अकबर ने एक अनोखा काम किया था, और वह था यह कि उसने अपने सिक्कों के साथ एक सिक्का ऐसा भी चलाया था जिस में न तो उसका अपना नाम था और न कोई राजचिह्न ही था, प्रत्युत उसके एक ओर श्री राम और सीता की मूर्ति थी जिस पर नागरी में राम नाम लिखा था और दूसरी ओर इलाही महीना और इलाही सन् था।

'धनद्वारा कवियों का आदर करने के अतिरिक्त सम्राट् अकबर ने कविराय नाम की एक पदवी नियत कर दी थी जो उच्चकोटि के कवियों को मिला करती थी। इस पदवी के सर्वप्रथम अधिकारी राजा बीरबल हुए थे। शाहजहां ने कविराय से भिन्न 'महापात्र' नाम की पदवी नियत की थी जो ऊंचे दरजे के कवियों को दी जाती थी। इस पदवी के प्रथम अधिकारी नरहर और हरनाथ हुए थे।'

हिन्दी के प्रति मुसलिम सम्राटों का प्रेम यहीं नहीं समाप्त हो जाता। अकबर जहांगीर, शाहजहां, औरङ्गजेब, मोअज्जमशाह, आज्मशाह, तथा बहादुरशाह आदि अनेक मुसलमान सम्राटों ने स्वयं हिन्दी में रचना भी की थी। कितने ही मुसलमान सम्राट् और नवाबों ने हिन्दी कविता सुनने के लिये हिन्दी कवियों को अपने यहां नौकर रख लिया था। ऐसे मुसलिम सम्राट्, नवाब, तथा कवियों की संक्षिप्त तालिका यहां दी जाती है—

संख्या	आश्रयदाता	आश्रित कवि
१	अलाउद्दीन गोरी	केदार कवि
२	हुमायूं	क्षेम वन्दीजन
३	सम्राट् अकबर	गङ्ग, नरहरि, करण, होलब्रह्म रहीम, फैजी, अमृत, मनोहर आदि
४	दारा शिकोह	वनमाली दास गोसांई
५	शाहजहां	कवीन्द्र सुन्दर
६	औरङ्गजेब	ईश्वर
७	मोअज्जम शाह	अब्दुलरहमान
८	पठान सुलतान	चन्द्रकवि
९	फाजिल अलीखां	सुखदेव मिश्र
१०	आफिसुद्दौला	गिरिधर राय
११	मुहम्मद शाह	गुमान
१२	अली अकबर खां	निधान, प्रेमनाथ
१३	मुहम्मद शाह	युगलकिशोर भट्ट
१४	मुहम्मद अली	जीवन
१५	कायम खां	रामभट्ट

हिन्दी के साथ ही मुसलमानों में संस्कृत का भी प्रचार था। निम्नलिखित मुसलमानों ने संस्कृत ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद किया था—

संख्या	संस्कृत ग्रन्थ	[अनुवादक फारसी में]
१	अथर्ववेद	हाजी इब्राहीम (सरहिन्द-निवासी)
२	महाभारत	नकीबखां, अब्दुर कादिर, शेख सुलतान,

३	रामायण	” ” ”
४	लीलावती	शेख अब्दुल (फ़ैज़ी)
५	राज तरङ्गणी	मौलाना शाह मोहम्मद (शाहाबादी)
६	हरिवंश	मौलाना शेरी
७	नलदमयन्ती	फ़ैज़ी

भारत के उपरिलिखित संक्षिप्त इतिहास से हिन्दी साहित्य के मुख्य मुख्य पहलू स्पष्ट होजाते हैं। मुसलिम सामन्तों के असहिष्णु तथा श्लाघाप्रिय हाने के कारण तात्कालिक साहित्य में मौलिकता का अभाव रहा और प्रशस्तियों की भरमार रही। हिन्दू जगत् राजनीतिक उत्कर्ष को प्राप्त करने के लिये किये गये अपने प्रयत्नों को विफल जाता देख या तो एकान्ततः भक्ति का गुण गान करने लगा अथवा शृङ्गार के रस पान में मग्न हो गया। कबीर, तुलसी तथा सूर आदि कतिपय कवियों ने अत्यन्त मौलिक विश्वजनीन कविता की, परन्तु ये कवि दरबारों से दूर रहते थ और उनके कुप्रभाव से सर्वथा निलिप्त थे। तात्कालिक वातावरण के राजनीतिक घटना परिपूर्ण होने पर भी हिन्दुओं की राजनीतिक उपेक्षावृत्ति तथा वेदन्तप्रियता के कारण उस समय के संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य में राजनीतिक बातों पर प्रकाश नहीं डाला गया।

हिन्दी साहित्य के यथार्थबोध के लिये भारत के उपर्युक्त इतिहास का संक्षिप्त वर्णन आवश्यक था। हिन्दी साहित्य के तात्कालिक विकास में जितना हिन्दुओं का हाथ है उतना ही मुसलमानों का भी। यदि हिन्दी साहित्य की वेदी पर हिन्दुओं ने तुलसी को समर्पित किया तो मुसलमानों ने कबीर के द्वारा हिन्दी साहित्य की अनमोल सेवा की। यदि सूरदास हिन्दु थे तो जायसी का जन्म मुसलमान वंश में हुआ था। यदि मीराबाई हिन्दू थीं तो ताज मुसलमान थी। यदि बिहारी ने हिन्दू वंश में जन्म लिया था तो रहीम रसखान और रसलीन ने

इस्लाम की गोद में शिक्षा पाई थी। यदि हिन्दी-साहित्य-गगन में से हिन्दू कवियों को निकाल दिया जाय तो सूर्यास्त होजाता है और यदि उसमें से मुसलिम कवियों का बहिष्कार कर दिया जाय तो चन्द्रोदय नहीं हो पाता। फलतः हिन्दी साहित्य के यथार्थ बोध के लिये हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के मार्मिक इतिहास का जानना आवश्यक है।

२१ अक्तूबर, १९३०
डी. ए. वी. कालेज
लाहौर

सूर्यकान्त

विषयसूची

को जाते थे, इस विषय में प्रबलतम प्रमाण अशोक के लेख हैं, ईसा के पश्चात् भारत और पाश्चात्य देशों का पारस्परिक संबन्ध प्रत्यक्ष है, पंजाब की जातियों ने पश्चिम एशिया में आबादियां बसाई थीं, आरमीनिया में ऐसी आबादी के चिह्न पाये गये हैं, इन देशों में बौद्ध धर्म बहुत दिन पहले से विद्यमान था, ८वीं सदी में बगदाद में संस्कृत का आदर था, Goldziher सूफियों पर बौद्धों के प्रभावको मानते हैं, बौद्धों के साथ भारत का वेदान्त भी सूफी देशों में पहुंच सकता था, Nicholson का मत, सूफीधर्म पर Neo Platonism का प्रभाव मानने में आपत्ति नहीं।

सूफीधर्मके प्रधान लक्षण नियोप्लेटोनिज्मसे नहीं मिलते, सूफीधर्म पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है, कबीर ने मुख्य सिद्धान्त विदेशियों से नहीं लिये, शब्द ब्रह्म भारत की प्राचीन संपत्ति है, कबीर ने इस्लाम से अकारवाद का खण्डन सीखा है।

८ प्राचीन भक्त कवि—कृष्ण संप्रदाय

कृष्ण संप्रदाय और परकीयरस, वात्सल्यभाव, मधुर भाव में धार्मिक भावना, परकीयरस, सहजिया संप्रदाय, काणुभट्ट, परकीया की ओर प्रवृत्ति के कारण, सहजिया संप्रदाय से यह पूजा वैष्णवों में आई, कुप्रवृत्ति के कुपरिणाम।

(२)विद्यापति, उसका जन्म, ताम्रपत्र जाली है, राजपंजी की तिथियां विश्वसनीय नहीं हैं, जनश्रुति के आधार पर जन्म संवत् का निर्णय, वंश, राधाकृष्ण विषयक गीत, वयः संधि, नख शिख, सद्यःस्नाता, विद्यापति का कवित्व, तुलसी के साथ तुलना, विद्यापति का संप्रदाय, उसके आश्रयदाता, मृत्यु, अन्तिम कविता, विद्यापति का बंगीय साहित्य पर प्रभाव, चण्डीदास का विद्यापति से साक्षात्कार, मिथिला और बंगाल में विचारों का यातायात, बंगालियों ने विद्यापति के गीतों को अपना लिया, शनैः शनैः वे उसे बंगाल का समझने लगे, (३) उमापति, मीराबाई, वल्लभाचार्य, विट्ठल नाथ आदि। (४) भक्ति संप्रदाय के विभाग। (५) मलिक मोहम्मद जायसी, अखरावट, पद्मावत, मलिक की विशेषता, (६) नरोत्तमदास।

(१४) रामचन्द्रशुक्ल, इनका कवित्व, छायावाद, भेदों की वैयक्तिक सत्ता और उनका तादात्म्य, छायावाद का मौलिक आधार, छायावाद का मूल विद्रोह में है, यज्ञके विरुद्ध ज्ञान का विद्रोह, पौरस्त्य तथा पाश्चात्य छायावाद के मौलिक कारण में भेद है, भारत का नवीन छायावाद पश्चिम से लिया हुआ है, रवीन्द्र गीताञ्जलि। (१५) सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, निराली विधवा, विधवा भारतमाता, कूलङ्कष आत्मवेदना में पार्थिव सत्ता का तिरोधान हो जाता है। (१६) सुमित्रानन्दन पन्त, पन्त की प्रेता विरहिणी, त्रिपाठी की विधुरा से पन्त की विधुरा कहीं अधिक सूक्ष्म तथा दयनीय है, प्रकृति के स्वप्ननीड में काम का आरंभिक कंपन, सृष्टि के प्रभात का रसवद् वर्णन, निर्झर का कर्मयोग, माता के प्रति बालक का लोकोत्तर प्रश्न। (१७) रामकुमार, अभिशाप का परिचय, नैराश्य में आवेश, क्लिष्टमोदमिलन, निराशा में आत्मदर्शन, भावयोगाविष्ट कवि देश और काल की उपाधि से मुक्त हो जाता है, लोकोत्तर शृङ्गार में भौतिक तत्वों का तिरोधान, विहारी और पन्त आदि के शृङ्गार में भेद है, आधुनिक छायावादी सब प्रकार के बन्धनों से मुक्ति चाहते हैं, उपसंहार।

(१) १९ वीं सदी के आरंम्भ तक का हिन्दी साहित्य पद्य में है, लल्लूजी लाल के साथ हिन्दी गद्य का आरम्भ। (२) भारत की राष्ट्रीय महा सभा का जन्म। (३) ऋषि दयानन्द और आर्य समाज। (४) साहित्य में परिवर्तन। (५) इस युग के प्रमुख लेखक। (६) नाटककार। (७) उपन्यासकार, देवकीनन्दन खत्री, हिन्दी उपन्यास का आधार उर्दू उपन्यास है (८) नागरी प्रचारिणी आदि सभाओं का सूत्रपात। (९) बंगला साहित्य का हिन्दी में अनुवाद। (१०) इतिहास लेखक, मुंशीदेवी प्रसाद आदि (११) प्राचीनतत्वानुसन्धायक, प० गौरीशङ्कर हीराचन्दजी ओझा आदि। (१२) स्वराज्य अन्दोलन और हिन्दी। (१३) प्रेमचन्द आदि (१४) वर्तमान समालोचक, मिश्रबन्धु, बा० श्यामसुंदरदास, पद्मसिंहशर्मा आदि।

हिन्दी साहित्य
का
विवेचनात्मक इतिहास।
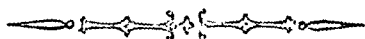
अध्याय १

हिन्दी साहित्य पर सरसरी दृष्टि।*

सम्राट् हर्ष की मृत्यु के पश्चात्, (६४६ अथवा ६४७) भारत की राजनैतिक एकता नष्ट हो गई। विप्लव और उपद्रवों ने शान्ति तथा उससे उत्पन्न होने वाले भांति-भांति के ऐश्वर्य को विदा कर दिया। यह युग पारस्परिक संघर्ष का युग था। साहित्यचन्द्रमा मानवशोणित के समुद्र में अस्त सा हो गया था। भारत के इतिहास की धारा पारस्परिक ईर्ष्या तथा द्वेष की मरुभूमि में लुप्त हो गई थी। मुसलमानों के आक्रमण तक यही दशा बनी रही। मुसलमान आए, उन्होंने अपना साम्राज्य स्थापित किया और भारत के इतिहास में एकता उत्पन्न की। इस युग में राजपूत जातियों ने वीरता के काम किये, उन्होंने छोटे छोटे अनेक माण्डलिक राज्य स्थापित किये, उनके रक्त में शौर्य था, जाति संमिश्रण का चमत्कार था, उनके यशोगीत भारत में गाये जाने लगे। भारत के तात्कालिक इतिहास में राजपूत रियासतों का विशेष भाग है। यह रियासतें आपस में एक दूसरे की शत्रु थीं।

---

* हिन्दी साहित्य के संक्षिप्त इतिहास के लिये Imperial Gazetteer का दूसरा भाग देखो।

विरोध के कारण प्रायः तुच्छ होते थे। परन्तु पश्चिम की ओर से होने वाले मुसलमानों के आक्रमण को देख कभी कभी यह आपस में मिल भी जाती थीं। काबुल, पंजाब और सिन्ध पर मुसलमानों का पहले ही अधिकार होगया था। परन्तु मुसलमानों की यथार्थ विजय ११७५ ईसवी में हुई, जब मुहम्मद गौरी ने भारत पर आक्रमण प्रारम्भ किये। ११९१ में मुसलमानों के आक्रमण का उत्तर देने के लिये हिन्दू रियासतें आपस में मिलकर एक होगई और उन्होंने पृथ्वीराज चौहान (अथवा रायपिथौरा) के नेतृत्व में मोहम्मद गौरी को अनेक वार हराया। तराइन के युद्ध में हिन्दुओं को विजय हुई परन्तु अन्त में (कई कारणों से) हिन्दुओं को मुसलमानों के सामने सिर झुकाना पड़ा। तराइन में ही पृथ्वीराज पकड़ा गया और मारा गया। देहली पर मुसलमानों का अधिकार होगया। मुसलमानों के साम्राज्य का दिन प्रति दिन विस्तार होता गया, यहां तक कि अन्त में मोहम्मद बीन तुगलक (१३४०) के राज्य में उनका सूर्य मध्याह्न पर पहुँच गया। बहुत सी राजपूत रियासतों ने हार मानली, अनेकों को तहस नहस कर डाला गया। परन्तु राजपूत जाति ने बार बार सिर उठाया और मुसलमानों के आमोद साम्राज्य को किरकिरा बनाया। राजपूताने में नई नई रियासतों का जन्म हुआ, राजपूतों के दिलों में मातृभूमिसेवा का मंत्र काम कर रहा था, उनकी निर्भयता तथा धर्म प्रेम ने मुसलमानों के दिल दहला दिये। फलतः बहुत सी रियासतों के साथ मुसलमानों ने किसी प्रकार का युद्ध न कर संधि करली।

राजनैतिक उथल पुथल के इस युग में भारत की आधुनिक भाषाओं का जन्म होरहा था। प्राकृत भाषाओं में स्वभावतः होने वाले परिवर्तन हो रहे थे। यह परिवर्तन अधिकाधिक होते गये और स्वरूप और संख्या में इतने अधिक बढ गये कि प्राकृत भाषाओं का रूप ही बदल गया। हिन्दी भाषा के प्राचीनतम

साहित्य का जन्म राजपूताने में हुआ। वहां जातीयता का जोश था, वहीं वीररस के स्रोत का निकास था। प्राचीनतम साहित्य पर स्वभावतः चारणों का स्वत्व होता है। अपने अपने शासकों की स्तुति में गीत गाना ही इन चारणों का काम था। उस समय अनेक रियासतें थीं। अनेक चारण थे, परन्तु कविता सबकी प्रायः एक सी होती थी। राज्यविप्लव, राज्यपरिवर्तन तथा विदेशियों के आक्रमणों के युग की कविता में वीररस की भरमार होना स्वाभाविक है। जिस चारण की जितनी ही श्रेष्ठ कविता होती थी, उसे उतना ही अधिक पारितोषिक मिलता था। चारणों की कविता में कथा-कथानकों का होना स्वाभाविक है। उन्होंने सत्यासत्य पर अधिक ध्यान न दे अपने अपने सामन्तों की स्तुति गाई है। फलतः चारणों की कविता को यथार्थ इतिहास बताना भ्रम है। परन्तु समालोचनात्मक दृष्टि से देखने पर और सामयिक लेखादि के प्रकाश में स्वाध्याय करने पर इनकी कविता में इतिहास का सार मिल जाता है। हिन्दुओं ने मुसलमानों के साथ कैसे घोर युद्ध किये, अपने धर्म तथा मान मर्यादा की रक्षा के लिये कितने कष्ट उठाए इन बातों का चारणों की कविता से भली प्रकार बोध होजाता है।

इस युग के साहित्य में चन्द बरदाई का नाम अमर है। यह पृथ्वीराज का राजकवि था। जगनायक भी इसी के समय में हुआ था। शार्ङ्गधर १४ वीं सदी के बीच में हुआ था। उसने रणथंभोर के राजकुमार हंमीर की स्तुति में सुन्दर कविता की है।

१५वीं सदी के आरंभमें राम की भक्ति का विकास हुआ। भक्ति धर्म का साधारण जनसमाज के साथ घनिष्ट सबन्ध था। फलतः भक्ति धर्म के प्रचार से हिन्दी भाषा के प्रचार में भारी सहायता प्राप्त हुई। वैष्णवों की एक शाखा कृष्ण के रूपमें विष्णु की पूजा करती थी। पूजा की इस विधि का बहुत दिनों तक प्रचार रहा। इधर रामानन्द ने श्रीराम की पूजा पर बल दिया। रामानन्द प्रभावशाली

रामभक्त था । उसके अनेक शिष्य थे। उसने पाखण्डवाद का खण्डन कर सच्चे राम की पूजा का उपदेश दिया । रामानन्द के शिष्यों में कबीरदास मुख्य थे । उन पर साधारणतया इसलाम का और विशेषतः * सूफ़ी धर्म का प्रभाव पड़ा । दया, परोपकारिता, स्वार्थत्याग अद्वैत, वैराग्य आदि की दीक्षा इन्होंने हिन्दूधर्म से ली । कबीर ने इस्लाम और हिन्दू धर्म की बाह्य बातों का खण्डन कर मौलिक आस्तिकवाद का प्रचार किया । धर्म के यह आन्दोलन उस व्यापक धार्मिक जागृति के अंश थे, जो नये सिरे से साधारण जनता के मन में अपना घर कर रही थी । साधारण समाज युद्ध की कठिनाइयों तथा क्रूरताओं से खिन्न हो उठा था । धर्म के नाम पर धर्म की सुन्दर मूर्ति मनुष्य का विध्वंस करना उसे अब अधिक नहीं रुचता था । हिन्दू तथा मुसलिम समाज निर्बलों के शोणित समुद्रमें तैरनेवाले अपने भयंकर आकार प्रकार को देख अपने आप कांप उठा था । उस ने दुःख से कहो अथवा वैराग्य से, भयसे कहो अथवा विवेक से, गरज यह कि किसी भी कारण से सही परमात्मा का सहारा लिया। साधारण समाज का राम कभी भी निराकार नहीं रहा, वह सदासे साकार है, स्थूल है, उन्हींके समान सुख दुःखों को अनुभव करने वाला है । संक्षेप में, इस युगमें भारतीय धर्म की दो धाराएं दीखती हैं एक रामपूजा और दूसरी कृष्णपूजा । रामपूजा में शान्ति थी, कृष्णपूजा में आनन्द था, रामपूजा में एकान्त वैराग्य था तो कृष्णपूजा में भोगयुक्त वैराग्य था; राम आदर्श का अवतार है तो कृष्ण सांसारिक प्रमोद, प्रेम, हावभाव, तथा लीला का धाम है । एकमें तपस्या है तो दूसरे में विवेकयुक्त भोग है, एक में शान्ति की धवलता है तो दूसरे में सौंदर्य का लावण्य, एक में ज्ञानजन्य

---

*J. R. A. S. 1918 में सर जार्ज ग्रियर्सन का लेख, The Bijak of Kabir, और रवीन्द्रनाथ रचित Kabir's Poems की भूमिका ।

आनन्द है तो दूसरे में प्रेम है और "प्रेम की पीर" है। पहला एकान्ततः भारतीय है, दूसरे को मुसलमान भी अपनाते हैं। दुःखी जन समाज अपने अपने स्वभाव के अनुकूल दोनों में से किसी एक को चुन लेता था और अपने मन की भावुक वासनाओं के स्रोत को उस पर बहा देता था।

भक्ति धर्म के प्रचार से हिन्दी के प्रचार में भारी सहायता मिली। इस युग की कविता भक्ति रस में सनी हुई है, उसमें रुदन है, दिल की आहें हैं, संताप का धुआं है और जीवन मरण के प्रश्न की गूंज है। इस युग का आरम्भ १४०० के लगभग होता है। इस युग में सम्मिलित हैं, नामदेव, कबीर, विद्यापति, मीराबाई और मलिक मोहम्मद।

राजपूताने के प्राचीनतम चारणों ने जो कुछ भी लिखा परिवर्तन के युग में लिखा। उनकी भाषा में प्राचीन प्राकृत शब्दों की भरमार है। चरणों के युग को हिन्दी का शैशवकाल कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। परन्तु भक्ति युग के कवियों की कविता में प्रायः वही भाषा है जो आजकल बोली जाती है। प्राचीनतम कवियों के लिये हिन्दी भाषा में कविता लिखना बड़े साहस का काम था। भक्तियुग के आदि को हिन्दी की किशोरावस्था के नाम से पुकारा जा सकता है।

लगभग १५५० से हिन्दी का सुवर्णकाल प्रारंभ होता है। इस समय मुगलों के साम्राज्य का विस्तार हो चुका था। उनके राज्य की जड़ जम चुकी थी। उन्होंने साहित्य तथा ललित कलाओं की दिलखोल सहायता की। अकबर (१५५६-१६०५), जहांगीर (१६०५-१६२७) और शाहजहां (१६२७-१६५८) के राज्य में मुगल साम्राज्य उन्नति के शिखर पर पहुँच गया और यही युग था हिन्दी के चरम अभ्युदय का। इस युगकी अंग्रेजी साहित्य के इलेभ:-बेथन युग के साथ तुलना की जाती है। इन्हीं दिनों भारत और

इङ्गलैण्ड का पहिले पहल यथार्थ संपर्क हुआ था। दोनों देशों में राजनीति की धूम थी। इङ्गलैण्ड की राजनैतिक धूम ने शेक्सपियर के नाटकों को जन्म दिया। उनमें संसार की भीषण गति का मार्मिक चित्र है। मानवस्वभाव के उलटफेर का अनोखा वर्णन है। संसार की परिवर्तनशीलता का रुलाने वाला खाका है। उनमें क्रोध है, उत्तेजना की आग है, राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि की वात्या पूरे जोर से बहती है। परन्तु उससे डर कर, ठिठुर कर शेक्सपियर संसार के रणक्षेत्र को छोड़ नहीं बैठता, वह "To be or not to be" के अनन्त प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न करता है और शरीर अथवा संसार से विरत नहीं होता। दूसरी ओर इसी युगका भारतीय कवि संसार के दुखों से दुःखित हो, राग द्वेष, शोक तथा मोह आदि के अगम्य नाटक से भीत तथा कान्दिशीक हो संसारके समरांगण से विरक्त होजाता है और आध्यात्मिक जगत् के नीरव शिखर पर पहुँच दूसरों को भी वहीं बुलाने का प्रयत्न करता है। वह वैराग्य की चरम सीमा पर पहुँच संसार की निम्न श्रेणियों को सर्वथा भूल जाता है और यही उसका भारी अपराध है।

मुगल युग में हिन्दी की कविता पर मुसलमानों का विशेष प्रभाव पड़ा। शृङ्गार रस का विकास हुआ, करुणा का उदय हुआ, लालित्य का आलोक हुआ, कविता में लावण्य आया और उसको नियमबद्ध करने के उचित प्रयत्न आरम्भ हुए। केशवदास का नाम इस विषय में अमर है। उसने हिन्दी की कविता को नियम बद्ध किया, उसे अलंकारों से सुसज्जित किया। हिन्दी का यह युग चरम युग था। इसमें सम्मिलित थे तुलसीदास, सूरदास, बिहारीलाल, त्रिपाठी भाई, देवकवि तथा सेनापति। हिन्दी साहित्य का आकाश इन नक्षत्रों से जाज्वल्यमान है। यह कवि हिन्दी साहित्य के सुनहरे श्वास हैं। कविता कामिनी के

धवल स्वप्न हैं। इन्होंने खूब लिखा और जो कुछ भी लिखा वह अमर हो गया। इसी युग में ग्रन्थसाहब का संग्रह किया गया और अनेक संप्रदायों की आधारशिलाएं रक्खी गई। दादू पन्थ आदि अनेक पन्थ चले जिन्होंने भक्ति रस की चोखी कविताएं लिखीं। मुगलों के ऐश्वर्य का सितारा डूबना था और कविता का ह्रास प्रारम्भ होना था। भक्ति के ऊपर जो कुछ कहा जा सकता था तुलसी और सूर कह चुके थे। अब वह फीकी पड़ गई। भक्ति के रस को अनेक कवियों ने पिया था और अनेक प्रकारों से, भांति भांति के रङ्ग दे कर तरह तरह के पियालों में पिया था। अब उसमें किसी प्रकार की नवीनता न रह गई। परंतु कुल परंपरागत रीतियों को छोड़ना हिन्दुओं की दृष्टि में पाप है, इसलिये कवि लोग भक्ति ही की लकीर के फकीर बने रहे, और उसी में जैसी तैसी कविता करते रहे।

१९ वीं सदी के प्रारम्भ में हिन्दी साहित्य पर अंग्रेजी सभ्यता का प्रभाव पड़ा। अंग्रेजों के आगमन के साथ पश्चिम के भाव आये, नवीन जागृति झलकी और नये नये सामान आये। अठारवीं सदी में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों का संग्राम होरहा था। १९सदी में उसका निर्णय हो गया और अंग्रेजों की विजय हुई। मुसलिम साम्राज्य टूट फूट गया और मराठों के उत्कर्ष की इतिश्री हो गई। अंग्रेजों का प्रभाव शनैः शनैः बढ़ने लगा, भारतीय सभ्यता की पाश्चात्य सभ्यता के साथ टक्कर हुई, उस संघर्ष से विचित्र प्रकार के भाव संमिश्रण का जन्म हुआ, नवीन आचार विचार का उदय हुआ, और नई प्रकार की सभ्यता, राजनीति तथा जातीयता का अभ्युदय हुआ, जिसका प्रतिविम्ब भाषा में पड़ना स्वाभाविक तथा अनिवार्य था। फलतः भारत में एक विशेष प्रकार के साहित्य की उत्पत्ति हुई। यह साहित्य आकार और प्रकार में दिन प्रति दिन बढ़ रहा है।

इस युग के प्रारंभ में लल्लू जी लाल ने आधुनिक हिन्दी गद्य की स्थापना की और हिन्दी के साहित्यिक रूपको स्थिर किया। इसी बीच प्रेस का आगमन हुआ। छापेखाने के प्रचार के साथ साथ हिन्दी का प्रचार भी बढ़ा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी कविता में नई जान डाली और हिन्दी में नाटक को जन्म दिया।

साहित्य का विभाग करने में निम्न लिखित सिद्धान्त से काम लिया गया है। सब से पहले हिन्दी की शैशवावस्था का वर्णन है, इसमें चारणों का प्राचीनतम साहित्य संमिलित है; इसके पश्चात् जब भी किसी विशेष आन्दोलन ने साहित्य में परिवर्तन उपस्थित किया तभी से साहित्य के विशेष युग की स्थापना हुई समझ उसका विशेष रूप से पृथक् वर्णन किया है। यह युग संक्षेप में इस प्रकार प्रारम्भ होते हैं:—

(१) १४०० के लगभग, जब वैष्णव संप्रदाय ने हिन्दी साहित्य पर अपना प्रभाव डाला था।

(२) १५५० के लगभग, जब हिन्दी साहित्य में लालित्य तथा लावण्य की उत्पत्ति हुई।

(३) १८०० के लगभग, जब पाश्चात्य देशों के साथ संपर्क होने के कारण हिन्दी साहित्य पर आधुनिक परिस्थिति का प्रभाव पड़ना प्रारंभ हुआ।

*प्रत्येक युग के आरंभ में पहिले पहल उस साहित्य का वर्णन किया जायगा जिसमें उस युग की सब बातें पूर्णरूप से विकसित हुई प्रत्यक्ष होती हों और पश्चात् क्रमशः अन्य प्रकार के साहित्य का सिंहावलोकन किया जायगा।

---

*युगों के निर्णय तथा क्रम में महाशय Keay की History of Hindi Literature का अनुसरण किया गया है।

अध्याय २

प्राचीन चारणों का इतिहास ११५०-१४००
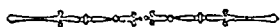
प्राचीनतम कवि—

मध्य युग में, जब कि राजपूत जातियां अपनी शक्ति को संचित कर के दृढ बना रही थीं, और मुसलमानों के आक्रमणों का सामना कर रही थीं, प्रत्येक दरबार में चारण रक्खे जाते थे, और उन्हें उनकी कविता के लिये पुरस्कार दिये जाते थे। चारण लोग अपने स्वामी की वीरता तथा अन्य गुणों की स्तुति के गीत गाया करते थे। यह लोग शनैः शनैः कई जातियों में बंट गये, यथा चारण, भाट, सेवग और पंचोली। चारण और भाट अपने आप को ब्राह्मण बताते थे। वह भाषा जिस में कि इन लोगों ने पहलेपहल कविता की, स्वभावतः (तत्तद्देशीय) प्राकृत रही होगी, परन्तु शनैः शनैः उस में परिवर्तन होते गये, उसका विकास होता गया और समय पाकर वही आधुनिक भाषाओं के रूप में परिवर्तित होगई। वंश परंपरा बताती है कि ईसवी ७०० तथा ११५० के मध्य अनेक चारण हुए और उन्होंने अच्छी अच्छी कविताएं की। दरबार में राजकवियों के रखने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आरही है। थानेसर के महाराज सम्राट् हर्ष के दरबार में बाण कवि का अत्यन्त संमान था। इसी प्रकार दक्षिण के महाराजाओं के दरबार में भी कवियों की अच्छी प्रतिष्ठा थी। यह परिपाटी बराबर चलती रही होगी। विच्छेद का कोई कारण नहीं दीख पड़ता।

इन चारणों में मुख्य निम्नलिखित बताये जाते हैं, पुष्प (अथवा पुण्ड), केदार, अनन्यदास, मसौद, कुतुबअलि और

अकरम फैज। शोक है कि इनमें से किसी की कविता भी इस समय उपलब्ध नहीं है। ऐसी दशा में इस बात का निर्णय करना कि उन्होंने प्राकृत में कविता की थी अथवा हिन्दी भाषा में असंभव सा है। मेवाड़ के राजवंश का कवितामय इतिहास, जिसका नाम "खुमान रासा" है और जो १६ वीं सदी में बना है, बताया जाता है कि ९ वीं सदी में लिखे गये एक कवितामय ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है, परन्तु नवम शताब्दी में लिखे गये मौलिक ग्रन्थ का कोई भी अंश इस समय उपलब्ध नहीं है, इस लिये इस बात पर अधिक बल देना दुःसाहस है।

११४३ में कुमारपाल नाम का एक राजा गुजरात का अधिपति बना, उसकी राजधानी अह्नीवाड में थी। ११५९ में, जैनाचार्य हेमचन्द्र के प्रभाव से उसने जैनधर्म की दीक्षा ली, और कुछ वर्ष पश्चात् हेमचन्द्राचार्य ने उसकी स्तुति में "कुमारपाल चरित" नाम का एक काव्य प्राकृत में लिखा। इसी नाम का एक और काव्य १३ वीं शताब्दी के मध्य में, प्राचीन हिन्दी में लिखा गया बताया जाता है। संभव है यह "कुमारपाल चरित" का एक प्रकार से स्वतन्त्र अनुवाद हो। वीसलदेव (अथवा वीसलदेव) १००१ में अजमेर का राजा था। "वीसलदेव रासो" नाम के काव्य में उसका यश गाया गया है। वीसलदेव रासो का निर्माणकाल १३ वीं शताब्दी में बताया जाता है। जब तक इन काव्यों के निर्माण काल का भली भाँति निर्णय नहीं होता और जब तक इनकी भाषा का समालोचनात्मक अध्ययन नहीं किया जाता तब तक प्राचीन हिन्दीभाषा की उत्पत्ति के काल का निर्णय करना असंभव है। सर जॉर्ज ग्रियर्सन के कथनानुसार पृथ्वीराज रासो में भी, जिसका निर्माणकाल ११९१ बताया जाता है, अपभ्रंश तथा शौरसेनी प्राकृत के शब्दों की भरमार है। ऐसी दशा में, किसी प्रमाण विशेष की सहायता के बिना, हिन्दुस्तान की भाषाओं के

उत्पत्ति काल को १२वीं सदी से पहले बताना दुःसाहस के सिवाय और कुछ नहीं है।

चन्द बरदाई —

पृथ्वीराज (अथवा राय पिथौरा) जिसका जन्म ११५९ में हुआ था और जिसकी मृत्यु ११९२ में हुई थी, अजमेर और दिल्ली का चौहान राजा था। वह तराइन के युद्धक्षेत्र में मोहम्मद गोरी द्वारा पकड़ा गया और अन्त में मारा गया। पृथ्वीराज साहित्य का प्रेमी था, उसके दरबार में अनन्यदास तथा और भी बहुत से कवि रहते थे। उनमें से एक का नाम चंदबरदाई है। चन्द बरदाई का जन्म चारणों के एक प्राचीन वंश में हुआ था। कहा जाता है कि सूरदास भी इसी वंश में उत्पन्न हुए थे। चन्द पृथ्वीराज के दरबार में आया और राजमंत्री तथा राजकवि के रूप में अपने राजा की सेवा करता रहा। मेवाड़ के अमरसिंह ने १७ वीं सदी में उसकी कविता को इकट्ठा किया और संभव है उसमें बहुत से परिवर्तन भी कर दिये हों। चन्द का मुख्य ग्रन्थ "पृथ्वीराज रासो" बताया जाता है। पृथ्वीराज रासो राजस्थानीय हिन्दी भाषा का वीर रसात्मक बृहत् काव्य है। इसमें १००००० के लगभग छन्द हैं; इसके ६९ भाग हैं। इसमें पृथ्वीराज का तथा उसके समय का साधारण इतिहास लिखा गया है। ११९२ में हुई तराइन की लड़ाई के बाद पृथ्वीराज और चंदबरदाई दोनों मार डाले गये थे। पृथ्वीराज रासो में इतिहास और कथा दोनों का संमिश्रण है। पृथ्वीराज और मोहम्मद गोरी के बीच युद्ध का इतनी बार होना अविश्वसनीय सा प्रतीत होता है। मुगलों को ३० वर्ष पहले भारत में लाकर बैठा दिया गया है। इसलिये इस बात में सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि क्या वास्तव में पृथ्वीराजरासो १२ सदी में चन्द बरदाई ने लिखा है। आइये इस पर विस्तार के साथ विचार करें।

ईसवी सन् १८७५ में प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डाक्टर बूलर को कश्मीर में संस्कृत ग्रन्थों की खोज करते समय (जयानक कविरचित) "पृथ्वीराज विजय महाकाव्य" की भोजपत्र पर लिखी हुई एक प्राचीन अपूर्ण प्रति मिली थी। उस पर द्वितीय राज तरंगिणी के कर्ता जोनराज की टीका भी है। इस पुस्तक को पढ़ने के पश्चात् उक्त विद्वान् ने एशियाटिक सोसाइटी बंगाल को निम्न लिखित आशय का पत्र लिखा था:—

"पृथ्वीराज विजय का कर्ता निःसन्देह पृथ्वीराज का समकालीन और उसका राजकवि था। वह संभवतः काश्मीरी था। उसका लिखा हुआ चौहानों का वृत्तान्त चन्द के लिखे हुए विवरण के विरुद्ध है और विक्रम संवत् १०६० तथा विक्रम संवत् १२२६ के शिलालेखों से मिल जाता है। "पृथ्वीराजविजय महा काव्य" में पृथ्वीराज की जो वंशावली दी हुई है वही उक्त लेखों में भी मिलती है, और उसमें लिखी हुई घटनाएं दूसरे साधनों अर्थात् मालवे और गुजरात के शिलालेखों से मिल जाती हैं। उक्त पुस्तक में पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के सम्बन्ध में लिखा है—उसका पिता अर्णोराज और उसकी माता गुजरात के सुप्रसिद्ध राजा जयसिंह की पुत्री कांचनदेवी थी। अर्णोराज की पहली रानी सुधवा से, जो मारवाड़ की राजकन्या थी, दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें से बड़े का नाम किसी ग्रन्थ या शिलालेख में नहीं मिलता और छोटे का विग्रहराज (वीसलदेव) था।"

"ज्येष्ठ पुत्र ने अपने पिता को मार डाला। अर्णोराज के बाद उसका पुत्र विग्रहराज और उसके अनन्तर उसका पुत्र अमरगांगेय (अमर गंगू) राजा हुआ। फिर उक्त पितृघाती के पुत्र पृथ्वीभट या पृथ्वीराज दूसरे को गद्दी मिली। पृथ्वीराज के पीछे मंत्रियों ने सोमेश्वर को राजगद्दी पर बिठाया, जिसने अपने नाना जयसिंह से शिक्षा पाई थी। सोमेश्वर ने चेदि (जबलपुर ज़िला)

की राजधानी त्रिपुर में जाकर चेदिराज की कन्या कपूरदेवी से विवाह किया; जिससे उक्त काव्य के नायक पृथ्वीराज और हरिराज उत्पन्न हुए।"

"उक्त काव्य में कहीं इस बात का संकेत तक नहीं है कि पृथ्वीराज दिल्ली के राजा अनंगपाल की कन्या से उत्पन्न हुआ था और उसे अनंगपाल ने गोद लिया था।"

"मुझे इस काल के इतिहास के संशोधन की बड़ी आवश्यकता जान पड़ती है, और मैं समझता हूँ कि चन्द के रासो का प्रकाशन बंद कर दिया जाय। वह ग्रन्थ जाली है जैसा कि जोधपुर के मुरारिदान और उदयपुर के श्यामलदास ने बहुत काल पहले प्रकट किया था।"

यह हुआ डाक्टर बूलर का मत। दूसरी ओर मिश्रबन्धु अपनी "हिन्दी नवरत्न" नामक पुस्तक में लिखते हैं "रासो जाली नहीं है" बाबू श्याम सुन्दरदास तथा रामचन्द्र शुक्ल रासो की घटनाओं तथा संवतों को अशुद्ध स्वीकार करते हुए उसके कर्ता का समय १२२५ और १२४९ के मध्य में मानते हैं।

रासो तथा पृथ्वीराज विजय महाकाव्य में वर्णित घटनाओं में परस्पर इतना अधिक भेद है कि दोनों ग्रंथों को पृथ्वीराज के समय बना हुआ मानने में कठिनता होती है। राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द जी रासो की विवेचना करने के उपरान्त * निम्न लिखित परिणाम पर पहुँचते हैं:—

"पृथ्वीराज रासो बिलकुल अनैतिहासिक ग्रन्थ है। उसमें चौहानों, प्रतिहारों और सोलंकियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध की कथा, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई, बहिन, पुत्र और रानियों आदि के विषय की कथाएं, तथा बहुत सी घटनाओं के संवत् प्रायः सभी घटनाएं तथा सामंतों आदि के

* नागरी प्रचारिणी पत्रिका।

नाम अशुद्ध और कल्पित हैं। कुछ सुनी सुनाई बातों के आधार पर उक्त बृहत् काव्य की रचना की गई है। यदि पृथ्वीराज रासो पृथ्वीराज के समय लिखा गया होता तो इतनी बड़ी अशुद्धियों का होना असंभव था। भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रंथ प्राचीन नहीं दीखता। इसकी डिंगल भाषा में जो कहीं कहीं प्राचीनता का आभास होता है वह तो डिंगल ही की विशेषता है। आज की डिंगल में भी ऐसा आभास मिलता है, जिसका बीसवीं सदी में बना हुआ वंश भास्कर प्रत्यक्ष उदाहरण है। रासो की भाषा में फारसी शब्दों की बहुलता भी उसके प्राचीन होने में बाधक है। वस्तुतः रासो वि० सं० १६०० के आस पास लिखा गया है। वि० सं० १५१७ की प्रशस्ति में रासो की घटनाओं का उल्लेख नहीं है और रासो की सब से पुरानी प्रति वि० सं० १६४२ की मिली है, जिसके बाद यह ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हो गया, यहां तक कि वि० सं १७३२ की राज प्रशस्ति में रासो का स्पष्ट उल्लेख है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले पृथ्वीराज रासो का मूल ग्रंथ उसके वर्तमान परिमाण से बहुत छोटा था, परन्तु पीछे से बढ़ाया गया है, क्योंकि आज से १८५ वर्ष पूर्व उसी के वंशज कवि जदुनाथ ने उसका १०५००० श्लोकों का होना लिखा है। रासो की प्राचीनता को सिद्ध करने के लिये जो दूसरी युक्तियां दी जाती हैं वह भी निराधार ही हैं। आनंद विक्रम संवत् की कल्पना तो बिलकुल निराधार और व्यर्थ है।

"इस ग्रन्थ के प्रसिद्धि में आने के कारण राजपूताने के इतिहास में बहुत अशुद्धि हुई। उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, आदि राज्यों की ख्यातों के लिखनेवालों ने रासो के संवत् को शुद्ध मानकर वहां के कई पुराने राजाओं के संवत् मनमाने झूठे धर दिये। निष्पक्ष होकर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि रासो वि० सं० १६०० से पूर्व का बना हुआ नहीं है और न वह ऐतिहासिक ग्रन्थ है॥

उक्त संदर्भों से ज्ञात हो गया होगा कि रासो के निर्माण काल के विषय में अनेक मत भेद हैं। ग्रन्थ की विशालता तथा भाषा की कठिनता के कारण इसकी समालोचनात्मक विवेचना कठिन है। साहित्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्व का है। इस की वर्णन शैली ओजस्विनी तथा स्वाभाविक है। उदाहरण:—

धपी सेन सुरतान, मुट्ठि छुट्टि चावद्दिसि।
मनुकपाट उद्धर्यो, कूह फुट्टिय दिसि विदिसि॥
मार मार मुप किन्न, लिन्न चावण्ड उपारे।
परे सेन सुरतान, जाम इक्कह परिधारे॥
गल वत्थ घत्त गाढो ग्रहौ, जानि सनेही भिंटयौ।
चामण्डराइ करिवर कहर, गौरी दलवल कुट्टयौ॥

उपर्युक्त पद्यों में चामण्डराव के युद्ध का वर्णन है। सुलतान की सेना तृप्त होगई, चारों दिशाओं में मूठ छूट गई और चारों तरफ चामण्डराव ने मारना आरम्भ कर दिया। इस से इति कर्तव्यता विमूढ होगई। दिशा विदिशाओं में ऐसी कूह पड़ी कि मानों केवाड़ा की चीत्कार हो। चामण्डराव मुंह से मार मार करता था और मस्तकों को काटता जाता था। मिलते ही गलवस्त्र को ऐसा पकड़ता कि मानों कोई बड़ा स्नेही मिला हो। चामण्डराय रूपी हाथी ने गौरी की सेना में कहर मचा दी॥* इत्यादि।

उपर्युक्त वर्णन से रासौ की कठिनता का केवल आभास मिलता है। उसकी कविता के मार्मिक विवेचन के लिये डिङ्गल भाषा पर आधिपत्य अपेक्षित है

जगनायक, चन्द का समकालीन—

जगनायक अथवा जेगनिकर चन्द बरदाई का समकालीन कवि था और महोबा (बुन्देलखण्ड) के परमर्दि अथवा परमाल

---

* पण्डित मथुराप्रसाद की टीका।

के दरबार में रहता था। परमाल पृथ्वीराज का प्रतिद्वन्द्वी था। जगनायक की कविता इस समय उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वान् महोबा अथवा आल्हाखण्ड को जगनायक की कृति बताते हैं। दूसरों का मत है कि आल्हाखण्ड चन्द बरदाई के काव्य का प्रक्षिप्त अंश है। आल्हाखण्ड परंपरया गाया जाता रहा है। इसके भिन्न भिन्न रूप हैं और भाषा भी भिन्न भिन्न है। विषय में भी भारी अन्तर है। भारत के चारण इसे आजकल भी गाते हैं। जनता की रुचि के अनुसार उसकी भाषा में परिवर्तन कर दिया जाता है। आल्हाखण्ड के नायक हैं आल्हा और ऊदल (अथवा ऊदन)। मिस्टर वाटरफील्ड ने आल्हाखण्ड के कुछ अंश का अनुवाद किया है। जिसका नाम है "The Nine-Lakh chain or the Maro Fewd"। आल्हाखण्ड वीररसात्मक काव्य है। इसकी वर्णन शैली ओजस्विनी है। उपमा तथा अलंकार चित्ताकर्षक हैं। कथांश को खूब निवाहा गया है। करुणा और प्रेमरस की सामयिक वर्षा वीररस की उत्तप्त ग्रीष्म को शांत कर देती है। मजाक के प्रसङ्ग पर खासी मजाक की गई है। युद्धक्षेत्र की बातें सुन "बनियों की धोती ढीली पड़ जाती हैं" "दूध मलीदा खाने पर भी गई जवानी फिर लौट कर नहीं आती" इत्यादि बातें खरी हैं और खरी शैली में लिखी गई हैं।

शारङ्ग धर—१४००

शारङ्गधर चौदहवीं सदी के बीच में हुआ था। इसे चन्द बरदाई का वंशज बताया जाता है। उसने दो काव्य बनाए हैं, एक "हम्मीर रासा" और दूसरा "हम्मीर काव्य"। दोनों में रणथम्भोर के राजवंश की कीर्ति गाई गई है। अलाउद्दीन के विरुद्ध हम्मीर का पराक्रम स्तुत्य है। वीररस का अनूठा चित्र है, ओजस्विता की सीमा है। रणचण्डी का प्रचण्ड अट्टहास कविता के विकट शब्दों में प्रतिध्वनित हो रहा है। शारङ्गधर ने शार्ङ्गधर

पद्धति" नामक एक संग्रह काव्य संस्कृत में भी बनाया है।

चारणों की वंश परम्परा में अनेक कवि उत्पन्न हुए, जिनमें से बहुत से अज्ञात हैं। कुछ के नाममात्र शेष हैं, उनके काव्य लुप्त हो गये हैं। कुछ का वर्णन आगे किया जायगा। इनकी कविता साहित्य तथा इतिहास की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वशाली है। जिस प्रकार अन्य देशों के चारण साहित्य में इतिहास और कथानक दोनों मिल कर एक हो गये हैं इसी प्रकार हिन्दी के चारण-साहित्य में भी इतिहास और कथाओं को मिला कर एक कर दिया गया है। इतना होने पर भी इस साहित्य में उस समय का प्रतिफलन है, जिसमें यह लिखा गया था। समालोचनात्मक स्वाध्याय द्वारा कथांश को पृथक् कर विशुद्ध इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

अमीर खुसरो—१४००

"तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में, जब दिल्ली का राजसिंहासन गुलाम वंश के सुल्तानों के अधीन हो रहा था, अमीर सैफुद्दीन नाम का एक सरदार बलखहज़ारा से मुगलों के अत्याचार के कारण भाग कर भारत आया और एटा के पटियाली नामक गांव में रहने लगा*।" उसके इज्जुद्दीन अलीशाह, हिसामुद्दीन अहमद और अबुलहसन नाम के तीन पुत्र हुए। इनमें से तीसरे का उपनाम खुसरो था। यह उपनाम इतना अधिक प्रसिद्ध हुआ कि असली नाम लुप्त प्राय हो गया और अबुलहसन 'अमीर खुसरो' कहे जाने लगे।

१२६४ में इनके पिता का देहान्त हुआ और इनकी शिक्षा का भार इनके नाना नवाब एमादुलमुल्क ने अपने ऊपर ले लिया। खुसरो की बुद्धि अत्यन्त तीव्र थी, उसने कुछ ही वर्षों में कई

* देखो व्रजरत्नदास रचित "खुसरो की हिन्दी कविता" नामक पुस्तक।

विद्याएं सीख लीं । "खुसरो अपनी पुस्तक तुहुफतुस्सग्र की भूमिका में लिखते हैं कि 'ईश्वर की कृपा से मैं १२ वर्ष की अवस्था में शेर और रुबाई कहने लगा, जिन्हें सुन कर विद्वान् आश्चर्य करते थे और उनके आश्चर्य से मेरा उत्साह बढ़ता था। उस समय तक मुझे कोई काव्यगुरु नहीं मिला था जो कविता की उचित शिक्षा देकर मेरी लेखनी को अप्रतिरुद्ध चलने से रोकता' ।

खुसरो ने कविता ख्वाजा शम्शुद्दीन ख्वारिज्मी से सीखी और धर्म दिल्ली के निज़ामुद्दीन मुहम्मद बदायूनी सुल्तानुल्म शायख औलिया से ।

खुसरो ने पांच वर्ष तक सुल्तान गयासुद्दीन बल्बन के बड़े पुत्र मुहम्मद सुल्तान की नौकरी की । १२८४ में पंजाब में होने वाले मुगलों के युद्ध में मुहम्मद सुल्तान मारे गए और खुसरो पकड़े गए । दो वर्ष के कारागार के पश्चात् यह पटियाली पहुँचे और अपने सम्बन्धियों से मिले ।

इसके अनन्तर खुसरो अमीरअली मीरजामदार के साथ दो वर्ष तक रहे । १२८८ में यह दिल्ली लौटे और कैकुबाद के दरबार में बुलाए गए । उसकी आज्ञानुसार १२८९ में किरानुस्सादैन नामक काव्य इन्होंने ६ मास में रचा । १२९० में कैकुबाद के मारे जाने पर गुलाम वंश का अन्त हो गया और ७० वर्ष की अवस्था में जलालुद्दीन खिलजी ने दिल्ली के तख्त पर अधिकार कर लिया। "इसने खुसरो की प्रतिष्ठा बढ़ाई और उसे अमीर की पदवी देकर १२०० तक का वेतन कर दिया ।"

सन् १२९६ में अपने चचा को मार कर अलाउद्दीन सुलतान हुआ और उसने खुसरो को खुसरुए शाअरां की पदवी दी । खुसरो ने इनके नाम पर कई पुस्तकें लिखी हैं जिनमें एक इतिहास भी है । इसका नाम तारीखे अलाई है । सन् १३१७ में कुतुबुद्दीन मुबारकशाह सुलतान हुआ और उसने खुसरो के कसीदे पर प्रसन्न

हो कर उसे हाथी के तौल के बराबर सोना पुरस्कार दिया । सन् १३२० में उसके वजीर खुसरो खां ने उसे मार डाला और इसके साथ खिलजी वंश का भी अन्त हो गया ।

"पंजाब से आकर गाज़ी खां ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और गयासुद्दीन तुगलक के नाम से वह गद्दी पर बैठा। खुसरो ने इसके नाम पर अपनी अन्तिम पुस्तक तुगलक नामा लिखी ।

निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु से खुसरो को अमित कष्ट हुआ और इन्होंने यह दोहा पढ़ कर—

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस ।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस ॥

अपना सारा धन लुटा दिया, और यह उनकी मजार पर जा बैठे । कुछ ही दिन पश्चात् इनकी मृत्यु हो गई और ये अपने गुरु की कब्र के पास गाड़ दिये गये ।

'खुसरो ने अपनी आंखों गुलामवंश का पतन, खिलजी वंश का उत्थान और पतन, तथा तुगलक वंश का आरंभ देखा था । इनके जीवन काल में दिल्ली के तख्त पर ११ सुलतान बैठे थे, जिनमें से ७ की इन्होंने सेवा की थी ।' ये बड़े प्रसन्नचित्त, मिलनसार और उदार कवि थे । इनमें धार्मिक कट्टरपन नाम के लिये भी नहीं था ।

अमीर खुसरो की मृत्यु को आज ६०० वर्ष के लगभग होगए परन्तु उनका नाम अब भी वैसा ही विद्यमान है । इन्होंने बहुत कुछ कहा और खूब कहा । जो कुछ इनके मुंह से निकला संसार को भा गया । इनके गीत और पहेलियां आदि ६ शताब्दी बीतने पर भी आज तक उसी प्रकार प्रचलित हैं ।

खुसरो अरबी, फारसी, तुर्की और हिन्दी भाषा के पूरे विद्वान् थे । संस्कृत का भी उन्हें चोखा ज्ञान था । यह फारसी के प्रतिभाशाली कवि थे । इन्हों ने कविता की ९९ पुस्तकें

लिखी हैं जिनमें कई लाखके लग भग शेर थे ! पर अब उन ग्रन्थों में से केवल २२ ग्रन्थ * प्राप्य हैं। इनके ग्रंथों की सूची से ही इनके व्यापक कवित्व का आभास हो जाता है। इनकी कविता में शृङ्गार, शांति, वीर और भक्ति रसों का पेशल संमिश्रण है। सब प्रकार से विचार करने पर कहा जा सकता है कि खुसरो फारसी कवियों के सिर मौर थे †।

खुसरो की मसनवियों में कोरा इतिहास नहीं है। इतिहास की शुष्क घटनाओं में कवि ने अपनी कविता का रस निचोड़ दिया है। इन मसनवियों में किरानुस्सादैन मुख्य है। इसमें कैकुबाद और उसके

---

* २२ ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

मसनवी किरानुस्सादैन, मसनववी मतलउल् अनवार, मसनवी शीरीं व खुसरु, मसनवी लैली व मजनूँ, मसनवी आईने इस्कंदरी या सिकन्दरनामा, मसनवी हश्तविहिश्त, मसनवी खिजनामह, मसनवी नुहसिपहर, मसनवी तुगलकनामह, खजायनुल फुतुह या तारीखे अलाई, इंशाए खुसरू, एजाजे खुसवी, अफजलुल्फवायद्, राहतुलमुजी, खालिक वारी, जवाहिरुलवह, मुकालः, किस्सा चहार दर्वेश, दीवान तुहफतुस्सग्र, दीवान वस्तुलहयात, दीवान गर्रतुल्कमाल, दीवान वकीयः नकीयः।

† ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं—

वह था प्रतिभाशाली चारण तथा गायक, जिसकी कल्पना की उड़ानें, भाषा पर आधिपत्य, विषयों की विभिन्नता और आश्चर्यकारी सौन्दर्य तथा स्वाभाविकता, जिनके साथ कि वह मनुष्य के भावों तथा आवेशों का, और प्रेम तथा युद्ध के दृश्यों का वर्णन करता है, सब के सब ने उस को सदातन विश्वकवियों में विराजित करा दिया है। प्रख्यातनामा कवि होनें के साथ ही वह निष्णात गायक भी था, जैसा कि १४वीं सदी के विख्याततामा गायक गोपाल नायक के साथ होने वाले उसके वाद विवादों से प्रगट होता है।

Mediaeval India पृष्ठ ४६०

पिता नसीरुद्दीन बुगरा खां के युद्ध और संधि का ३९४४ शेरों में मार्मिक वर्णन है।

मसनवी खिजनामा में अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र खिज्र खां और देवलदेवी के प्रेम का वर्णन है। खुसरो ने इस ग्रन्थ में हिन्दुस्तान के फूलों कपड़ों, और सौन्दर्य को रूम और रूस आदि के फूलों, कपड़ों और सौन्दर्य से बढ़कर बताया है, और अन्त में लिखा है कि 'यह देश स्वर्ग है, नहीं तो हजरत आदम और मोर यहां क्यों आते'। हिन्दी भाषा के विषय में इन्होंने जो कुछ लिखा है वह ध्यान देने योग्य है:—

'मैं भूल में था पर अच्छी तरह सोचने पर हिन्दीभाषा फारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। सिवाय अरबी के जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है, रई और रूमकी प्रचलित भाषाएं समझने पर हिन्दी से कम मालूम हुई। अरबी अपनी बोली में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती, पर फारसी में यह एक कमी है, वह बिना मेल के काम में आने योग्य नहीं है। इस कारण कि वह शुद्ध है और यह मिली हुई है, उसे प्राण और इसे शरीर कह सकते हैं। शरीर से सभी वस्तुओं का मेल हो सकता है पर प्राण से किसी का नहीं हो सकता। यमन के मूंगे से दरी के मोती की उपमा देना शोभा नहीं देता। सब से अच्छा धन वह है जो अपने कोष में बिना मिलावट के हो, परन्तु न रहने पर मांग कर पूंजी बनाना भी अच्छा है। हिन्दी भाषा भी अरबी के समान है, क्यों कि उसमें भी मिलावट को स्थान नहीं है।'

इससे प्रतीत होता है कि उस समय हिन्दी में फारसी के शब्दों का मेल नहीं था और यदि था भी तो नाम मात्र के लिये। हिन्दी भाषा के व्याकरण और अर्थ के विषय में खुसरो इस प्रकार लिखता है—

"यदि अरबी का व्याकरण नियम बद्ध है तो हिन्दी में भी

उससे एक अक्षर कम नहीं है। जो इन तीनों (भाषाओं) का ज्ञान रखता है वह जानता है कि मैं न भूल कर रहा हूँ और न बढ़ा कर लिख रहा हूँ। यदि पूछो कि उसमें अर्थ न होगा तो समझ लो कि उसमें दूसरों से कम नहीं है। यदि मैं सचाई और न्याय के साथ हिन्दी की प्रशंसा करूं तब तुम शंका करोगे, और यदि मैं सौगन्द खाऊं तब कौन जानता है कि तुम विश्वास करोगे या नहीं? ठीक है कि मैं इतना कम जानता हूँ कि वह नदी की एक बूंद के समान है पर उसे चखने से मालूम हुआ कि जंगली पक्षी को दलजः (टाइग्रीस) नदी का जल अप्राप्य है। जो हिन्दुस्तान की गंगा से दूर है वह नील और दलजः के बारे में बहकता है। जिसने बाग के बुलबुल को चीन में देखा है वह हिन्दुस्तानी तूती को क्या जानेगा?" *

तुगलक नामा में खिलजियों के पतन और तुगलकों के उत्थान का ऐतिहासिक वर्णन दिया गया है। खुसरो ने गद्य में एक इतिहास तारीखे अलाई लिखा है, जिसमें सन् १२९६ ईसवी में अलाउद्दीन खिलजी की गद्दी से सन् १३१० ईसवी में मलाबार विजय तक १५ वर्ष का हाल दिया गया है।

खुसरो संगीत विद्या में धुरंधर थे। १४ वीं सदी के प्रसिद्ध हिन्दू गायक नायकगोपाल के साथ इनका संगीत विद्या पर विचार हुआ करता था। इन्हीं के समय से दिल्ली के आसपास के सूफी मुसलमानों में वसन्त का मेला चला है। यह बेलबूटे निकालने में भी अत्यन्त प्रवीण थे।

खुसरो ने पद्य में अरबी, फारसी और हिन्दी का एक बृहत्कोष भी तैयार किया था। अभाग्यवश यह पूरा नहीं मिलता। इसके कुछ अंश "खालिकबारो" नाम से प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिये—

---

* अनुवाद व्रजरत्नदास रचित 'खुसरो की हिन्दी कविता' से लिया गया है।

खालिकबारी सिरजनहार।
वाहिद एक बिदा कर्तार॥
मुश्क काफूर अस्त कस्तूरी कपूर।
हिन्दवी आनन्द शादी औ सरूर॥
... ...

गंदुम गेहूँ नखूद चना शाली है धान।
जरत जोन्हरी अदस मसूर वर्ग है पान॥

सुनते हैं खुसरो ने फारसी की अपेक्षा हिन्दी में अधिक कविता की थी, पर अब कुछ पहेलियों, मुकरियों और फुटकर गीतों को छोड़ कर खुसरो की सारी हिन्दी कविता लुप्त हो गई है। फारसी और हिंदी को मिला कर पहले पहल इन्होंने ही गजल की रचना की थी।

खुसरो को हुए आज ६०० वर्ष के लगभग होगये, परन्तु उन की और आजकल की भाषा में अधिक भेद नहीं है। उन्होंने बोल-चाल की हिंदी में फारसी के सरल शब्द तथा लालित्य का संमिश्रण कर उसी में अपनी कविता की थी। खुसरो भाषा के स्वारसिक विकास का पक्षपाती था, इसी लिये उसने प्राचीन चारणों का अनुकरण न करते हुए बोलचाल की भाषा को अपनाया और उसी में सब प्रकार के रसों की कविता की। हिंदी के कवि मध्यकालीन संस्कृत को अपना आदर्श बना उसके पीछे चल रहे थे। उनकी भाषा और उनके भावों में एक प्रकार की खटकनेवाली कृत्रिमता दीख पड़ती है। उनका ध्यान भावों की अपेक्षा भाषा और अलंकारों पर अधिक है। रूढिवाद की इस प्रथा को खुसरो ने तोड़ा और स्वारसिक भाषा में कविता करके उसे नैसर्गिक विकास की ओर चलाया। यही कारण है कि उस की भाषा सरल तथा हृदयस्पर्शी है। परन्तु हिंदुओं ने उसके इस स्तुत्य प्रयत्न के आशय को नहीं समझा और वे लकीर के फकीर

वन कृत्रिम भाषा में ही कविता करना विद्वत्ता का लक्षण समझते रहे। व्रजभाषा के अष्टछाप आदि कवियों की भाषा खुसरो के पीछे होने पर भी उससे कहीं कठिन तथा भिन्न है।

खुसरो की हिंदी कविता परंपरया मौखिक रूप में आरही है। जब लेखबद्ध पुस्तकों में अनेक पाठान्तर पाए जाते हैं तब मौखिक सुभाषितों का क्या कहना? इन में संमिश्रण तथा क्षेपकों का होना अनिवार्य है।

इनकी पहेलियां दो प्रकार की हैं। कुछ पहेलियाँ ऐसी हैं जिन में उनका बूझ छिपा कर रख दिया है, और वह झट वहीं मालूम होजाता है। उदाहरण के लिये—

* वाला था जब सब को भाया। बढ़ा हुआ कछु काम न आया।
खुसरू कह दिया उस का नांव। अर्थ करो नहिं छोड़ो गाँव॥

दीया.

एक नार तरवर से उतरी मा सो जनम न पायो।
बाप को नांव जो वासै पूछ्यो आधो नांव बतायो॥
आधो नांव बतायो खुसरू कौन देस की बोली।
वाको नांव जो पूछ्यो मैंने, अपने नांव न बोली॥

निंबौली.

कुछ पहेलियां ऐसी हैं जिनका बूझ उन में नहीं है। यथा—
एक नार पिया को भानी। तन वाको सगरा जौं पानी॥
आब रखे पर पानी नांह। पिया को राखै हिर्दय मांह॥
जब पी को वह मुख दिखलावे। आपहि सगरी पी होजावे॥

दर्पण.

एक थाल मोती से भरा। सब के सिर पर औंधा धरा।

---

* ज्यों रहीम गति दीप की, कुलकुपूत गति सोय
बारे उजियारो लगे, बढ़ै अंधेरो होय॥ रहीम

चारों ओर वह थाल फिरै । मोती उससे एक न गिरै ॥

आकाश.

आवे तो अंधेरी लावे । जावे तो सब सुख ले जावे ।
क्या जानूं वह कैसा है । जैसा देखो वैसा है ॥

आँख.

सर पर जटा गले में झोली, किसी गुरु का चेला है ।
भर भर झोली घर को धावें, उसका नाम पहेला है ॥

भुट्टा.

आगे आगे बहना आई, पीछे पीछे भइया ।
दांत निकाले बाबा आए, बुरका ओढ़े मय्या ॥

भुट्टा.

एक पुरुख औ नौ लख नारी । सेज चढी वह तिरिया सारी ।
जले पुरुख देखे संसार । इन तिरियों का यही सिंगार ॥

हांडी.

चटाख पटाख कब से । हाथ पकड़ा जब से ।
आह आवे कब से । आधा गया जब से ।
चुपचाप कब से । सारा गया जब से ॥

चूड़ियां.

अगिन कुण्ड में घिर गया, जल में किया निकास ।
परदे परदे आवता, अपने पिय के पास ॥

हुक्के का धूंआ.

मुकरी भी एक प्रकार की पहेली है, पर इसमें इसका बूझ प्रश्नोत्तर के रूप में दिया रहता है । जैसे—

नित मेरे घर आवत है । रात गये फिर जावत है ।
फंसत अमावस गोरि के फन्दा । ऐ सखि साजन ना सखि चंदा ॥
न्हाय धोय सेज मेरी आयो । ले चूमा मुंह मुंहहि लगायो ।
इतनी बात पै थुक्कमथुक्का । ऐ सखि साजन ना सखि हुक्का ॥

एक सजन वह गहरा प्यारा। जासे घर मेरा उजियारा।
भोर भई तब विदा मैं किया। ऐ सखि साजन ना सखि दीया॥
चढ़ छाती मोको लचकावत। धाय हाथ मो पर चढ़ि आवत।
सरस लगत देखत सब नारी। ऐ सखि साजन ना सखि गगरी॥
एक सजन मोरा मन ले जावे। मुख चूमे और बात बनावे।
होंठन लाग सही रस खैंचा। ऐ सखि साजन ना सखि नैचा॥

इत्यादि.

दो सखुने वे हैं जिनमें दो या तीन प्रश्नों का एक ही उत्तर हो। जैसे—

प्रश्न	उत्तर
ककड़ी क्यों छोटी ?	
लकड़ी क्यों टूटी ?	बोदी थी.
जोरू क्यों मारी	
ईख क्यों उजाड़ी ?	रस न था.

इत्यादि.

दो सखुना फारसी और हिन्दी:—
शिकार बेह चेमी बायद कर्द,
कूवते मगज को क्या चाहिये ? बादाम.

इत्यादि.

फुटकर पद्य:—

जे हाल मिसकी मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाए बतियां।
कि ताबे हिज्रां न दारम ऐ जां न लेहु काहे लगाए छतियां॥
शबान हिज्रां दराज चूं जुल्फ व रोजे वसलत चू उम्र कोताह।
सखी पिया को जो मैं न देखूं तो कैसे काटूं अंधेरी रतियां॥
यकायक अज दिल दो चश्मे जादू बसद फरेबम बेबुर्द तसकीं।
किसे पड़ी है जो जा सुनावे पियारे पी को हमारि बतियां॥
चु शमअ: सोजां चु जर्र: हैरां हमेश: गिरियां बइश्क आं मेह।

न नींद नैना न अंग चैना न आप आवैं न भेजें पतियां ॥

इत्यादि.

खुसरो ने अपनी रचना में मनुष्य के हृदय तथा उसके चरित्र का स्वाभाविक चित्र खींचा है। युद्ध की भीषण घटनाओं, प्रेम की अभिराम केलियों, तथा राजदरबार की अनोखी दिनचर्या के विषय में उसने खूब लिखा है। प्रकृति के तुच्छातितुच्छ स्पन्दन को ले वह उस पर कल्पनाओं का (प्रोन्नत 'पीरामिड)' खड़ा कर देता है। उसकी दृष्टि तीव्र थी, अचूक थी, उसकी कल्पना स्वच्छ थी, विशद थी, उसकी भाषा रुचिर थी और शुद्ध थी। उसकी अगणित कविताएं 'अनन्त' के विशाल फलक पर खुदी पड़ी हैं, उनको कौन पढ़े ? खुसरो के कवितात्मक चित्र वायुमण्डल में छटपटा रहे हैं, उनको देखे कौन ? समय ने अमीर की 'अमर' कविता के बहुतम भाग को विस्मृति के मरुस्थल में विलीन कर दिया है। इनी गिनी पहेलियां और गिनेचुने पद्य जितने भी शेष हैं वे उसकी उदात्त प्रतिभा तथा अनुपम चित्रकारिता का आभास देने के लिये पर्याप्त हैं। इसमें सन्देह नहीं कि खुसरो विश्व के गंभीर प्रश्नों पर बहुत कम विचार करता है, परन्तु क्या विश्व की 'गंभीरता' ही एक मात्र सत्य वस्तु है ? विश्व में जितना भाग 'गंभीरता' का है उससे कहीं अधिक सौन्दर्य तथा प्रसन्नता का है। खुसरो ने प्रकृति की गंभीरता को अन्य कवियों के लिये छोड़ उसके रुचिर पहलू की व्याख्या की और समाज को विशाद तथा वैराग्य की ओर से हटा आमोद प्रमोद की ओर लगाया। खुसरो तथा उसके कवित्व की प्रधान विशेषता यही है।

जगो खिरियो, १६६०के लगभग—

आपकी रची वचनिका प्रसिद्ध है। इसमें उज्जैन के उस युद्ध का वर्णन है, जिसमें जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह को शाहजहां ने अपने दो विद्रोही पुत्रों, अर्थात् औरंगजेब

और मुराद को जीतने के लिये भेजा था । यह घटना १६५८ के लगभग हुई थी । विजयश्री ने युद्ध में जसवन्तसिंह का साथ नहीं दिया, फलतः उन्हें राज दरबार से इस्तीफा दे अपने घर लौटना पड़ा । इस युद्ध में राजपूतों ने दिल खोल बहादुरी दिखाई, परंतु वे अकेले कर ही क्या सकते थे । बादशाह की फौजों ने उनका साथ नहीं दिया, जिसका फल यह हुआ कि रतलाम के राजा रतनसिंह जैसे योद्धा भी इस युद्ध में खेत रहे । वचनिका में रतनसिंह की मृत्यु पर आंसू बहाये गये हैं ।

उपर्युक्त घटना संवत् १७१५ वैशाख कृष्णा नवमी को हुई थी। वचनिका का निर्माण भी इस संवत् के आस पास ही हुआ प्रतीत होता है ।

जगो के विषय में अनेक किंवदन्तियां प्रचलित हैं । कहा जाता है कि उज्जैन के युद्ध से पहले जगो महाराजा जसवंतसिंह के दरबार में रहते थे और उनके पुरुषाओं को जोधपुर के प्राचीन राजाओं ने सांकरो नाम का गांव भी 'शासन' में दिया था । जब जसवंतसिंह औरंगजेब के साथ युद्ध करने गये तब जगो भी उनके साथ था । परंतु जब युद्ध का समय आया तब जगो को युद्ध का बाना न पहरने दिया गया और उसे युद्ध करने से रोक रामसिंह (रतनसिंह का ज्येष्ठ पुत्र) की देख रेख के लिये नियत किया गया । यह किंवदन्तियां सर्वांशेन सत्य न भी हों तो भी इनसे प्रस्तुत चारण की जीवनी पर थोड़ा बहुत प्रकाश अवश्य पड़ता है ।

वचनिका का निर्माण डिंगल भाषा में हुआ है । इस विषय में यह बात स्मर्तव्य है कि राजपूताने के चारण अपनी कविताओं में भिन्न भिन्न प्रकार की दो भाषाओं का उपयोग करते रहे है । एक का नाम डिंगल है और दूसरी का पिंगल । पिंगल वास्तव में व्रज भाषा ही का रूपान्तर है । इसमें मारवाड़ी मुहावरों का सम्मिलन है । डिंगल मारवाड़ की स्थानीय बोली का नाम है, विशेषता इसमें

केवल इतनी है कि इसमें कवित्व तथा लेखनशैलियों के विकास पर ध्यान दिया जाता रहा है। प्राचीन तथा नवीन मारवाड़ी की भांति डिंगल के भी प्राचीन तथा नवीन 'डिंगल' यह दो मुख्य भेद हैं। प्राचीन डिंगल (जिसका उदय १३०० के लगभग हुआ था) १६०० के लगभग विदा हो जाती है और उसके स्थान को नवीन डिंगल ग्रहण कर लेती है।

उपर्युक्त विभागों के अनुसार वचनिका की भाषा नवीन डिंगल ठहरती है।

प्रस्तुत वचनिका शिवदास की बनाई (१५००) 'वचनिका अचलदास खींची री" के आधार पर बनी है। दोनों के भाव तथा भाषा में पर्याप्त समानता है। घटना संघट्टन तथा रचनाचातुर्य भी दोनों का प्रायः एक सा है। इतना होने पर भी शाब्दिक समानता कहीं ही दीख पड़ती है। वचनिका की कविता के उदाहरण—

खगां चढि धार हुए वि वि खण्ड।
पड़े धर हिन्दु मलेच्छ प्रचण्ड।
रलत्तलि नीर जिहीं रुहिराल।
खला हलि जाणि कि भाद्रव खाल॥ २२४॥
उजेणि अकाल झड़ाल अछेह।
मंडै घन जाणि कि बारह मेह।
उभे पतिसाहि अणी करि ऐक।
आया सिरि रत्तन सूर अनेक॥ २२५॥ इत्यादि।

राठौड़ पृथीराज, १५५० ईसवी में जन्म—

पृथीराज बीकानेर के राजा रायसिंह के भाई थे। आपका जन्म संवत् १६०६ में हुआ था। अबुल फझल के कथनानुसार पृथीराज ने काबुल के मिर्झा हकीम के विरुद्ध होने वाले युद्ध में भाग लिया था, जिसके लिये बादशाह ने आपको बहुत सा पारितोषिक दिया था। पृथीराज की वीरता तथा प्रतिभा पर मुग्ध

हो टाड साहब लिखते हैं:—

'पृथीराज अपने युग के गिने चुने वीर सामन्तों में से एक था। पश्चिम के (Troubadour) राजकुमारों की भांति वह प्रत्येक शुभ अनुष्ठान को अपनी प्रतिभा के उद्दीपक आलोक से पवित्र कर सकता था और आवश्यकता पड़ने पर उसकी पूर्ति के लिये अपनी तलवार भी नचा सकता था। यही नहीं, राजपूताने के चारणोंकी पंचायत ने एक स्वर के गुणिता का सेहरा भी इसी शूर चारण के सिर पर बांधा था'

पृथीराज के विषय में टेस्सिटेरी (Tessitory) लिखता है-

'परन्तु पृथ्वीराज की प्रतिभा और उसकी धार्मिकता ने उसके लिये कहीं ऊंचा आसन तैयार किया था। उसकी कविता ने राजपूती दरबारों में आदर पाया, और जैसा कि भारत में बहुधा देखा गया है, उसकी प्रतिभा तथा असाधारण धार्मिकता में एक प्रकार की अलौकिक शक्ति दीख पड़ती थी। तुलसीदास और पृथ्वीराज, जिनमें से पहला पूर्व में था, और दूसरा पश्चिम में, पहला ब्राह्मण था और पिछला राजपूत---दोनों ही ने एक प्रकार के प्रोल्बण धार्मिक जोश की पावनीधारा को अनुभव किया था, जो तात्कालिक भारत में उमड़ रही थी और जिसने वैष्णवधर्म का, ज्ञान के आधार पर नहीं, प्रत्युत भक्ति की आधारशिला पर अधिरोहण किया था। तुलसीदास ने जो कि ब्राह्मण था---राम के रूप में परमात्मा की भक्ति करना श्रेष्ठ समझा, और पृथवीराज ने—जो कि राजपूत था—कृष्ण को अपनी पूजा का विषय बनाया; पहले ने अपनी तपोवृत्ति के कारण वैसा किया और दूसरे ने अपनी ऐन्द्रियता के कारण ऐसा किया'

पृथीराज भक्त था, और कवि भी था। भक्ति ने उस के गृहस्थ जीवन में कुछ भी बाधा नहीं डाली। उसके मत में भक्ति और

---

* बेली कृष्ण रुक्मिणी की भूमिका.

विषयभोग में स्वाभाविक असंगति नहीं थी। पृथीराज के विषय में अनेक किंवदन्तियां फैली हुई हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि वह अदम्य स्वातन्त्र्यप्रिय, स्पष्टवक्ता, तथा निर्भीक कवि था। वह जहाँ वीरता के लिये अपने मित्र तथा शत्रुओं की समान रूप से प्रशंसा करता था वहां आततायिता के लिये अपने भाई और सम्राट् अकबर तक की तीखी समालोचना भी कर डालता था।

स्वातन्त्र्य का उल्वण प्रेम उसकी तलवार और लेखनी दोनों में समान रूप से छलकता था। पृथीराज ने राणा प्रताप की प्रशंसा में कुछ पद लिखे थे। इनसे आपका उद्भट स्वातन्त्र्य प्रेम स्पष्ट हो जाता है:—

नर जेथि निमाणा नीलज नारी
अकबर गाहक वट अवट।
आवै तिणि हाटे ऊदावत
वेचे किमि रजपूत वट ॥ १ ॥
रो जाइतां तणै न उरोजै
जेथि मुसीजे जगत जण।
चौहटि तिणि आवै चीत्रोड़ौ
पतौ न खरचे खत्रीपण ॥ २ ॥
पडपंच दि्ठ वधलाज न कापति
खोटौ लाभ कुलाभ खरौ।
रज्ज वेचिवा नायौ राणौ
हाटि हुरम्म हमीर हरौ ॥ ३ ॥
पिंड आपरे दाखि पुरसातण
रोहिणियास तणै बलि राणि।

* १५७८ ईसवी में शाहनवाझ के द्वारा भेजे गए संधिपत्र को अस्वीकार करने पर प्रताप की स्तुति में यह पद्य लिखे गए थे।

खत्र वेचियो जठे वड़ खत्रिये
खत्र राखियो जठे खुम्माणि ॥४॥
जासी हाट वात रहिसी जगि
अकवर ठगि जासी एकार ।
रहि राखियो खत्री ध्रम राणै
सगलौ ई वरते संसार ॥ ५ ॥

उपर्युक्त छन्दों में कवि का स्वातन्त्र्य प्रेम झलक रहा है । अकवर से वृत्ति पाते हुए भी उसकी इतनी तीखी समालोचना करना और उसके पतन की भविष्यवाणी करना साक्षात् मृत्यु के मुंह में हाथ देना था । परन्तु पृथीराज ने यह कर दिखाया । अल वदाओनी तथा अवुल फ़ज़ल की पुस्तकों से अकवर के उस रमणी वाजार की कुछ कुछ आभा मिलती है, जहां छिपे वेश में पहुँच कर वह क्षत्राणियों का अपमान किया करता था । यह वात पृथीराज के लिये असह्य थी, उसने वुद्धिमानी के साथ इसका अन्त करा दिया ।

पृथीराज की दिव्यशक्ति के विपय में अनेक कथाएं प्रचलित हैं। कहा जाता है कि उसने अकवर के पूछने पर अपनी मृत्यु का दिन तथा स्थान सव कुछ वता दिया था ।

पृथीराज की श्रेष्ठ कविता वेली है । इसका निर्माण सं० १६३७ में हुआ था । इसमें कृष्ण तथा रुक्मिणी के विलास का वर्णन है, शृङ्गार की अरुणिमा तो देखते ही वनती है । वेली भागवतपुराण के आधार पर लिखी जाने पर भी ' नवेली अनवेली ' है ॥ मुख्य कथा में समानता होने पर भी इसकी कल्पना तथा शैली अनूठी हैं। 'कृष्ण रुक्मिणी प्रथम संमिलन' की रात्रि के वर्णन में कवि ने कमाल कर दिया है । ऋतुओं का वर्णन भी (१५९-१७९) आपका अनूठा है और सजीव है । अन्त में कवि अपने काव्य की प्रशंसा कर वेली को समाप्त करता है ।

वेली की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसमें प्रसाद तथा स्वाभाविकता का अलंकृत शैली के साथ सर्वाङ्गीण संमिलन है। भापा और भाव दोनों की दृष्टि से "वेली" अद्वितीय है।

वेली के विषय में Tessitory लिखता है—

'पृथीराज की रची यह छोटी सी कविता डिङ्गल साहित्य की सर्व श्रेष्ठ कविताओं में एक है। कवित्व कला की दृष्टि से यह आश्चर्य की वस्तु है। इसमें आगरे के 'ताज' की भांति घटनाओं के विस्तार का सरल प्रतिभा के साथ और विचारों के सौन्दर्य का भापा की पवित्रता के साथ संकलन किया गया है।'

पृथीराज में राजपूती भावों का पूर्ण विकास है। उसकी कविता में लेखनी और तलवार दोनों का प्रकृष्ट नृत्य स्पन्दित हो रहा है। विनय तथा शौर्य, ज्ञान और पराक्रम, प्रेम और विवेक, भोग और त्याग पृथीराज में सभी गुण पराकाष्ठा को पहुँच गये थे। उसकी कविता में विश्वक्रीडा, सुख दुःखों का लौटफेर, जीवन का असंतोष, आशाओं का दलन, मनुष्यों की निरन्त अकिंचनता, उनका मसृण विलास और तन्द्रामय जीवन सब के सब पूर्णरूप से प्रतिफलित हैं। रुक्मिणी के इन वचनों में 'प्राण प्यारे जो है ले लो, सभी ले लो हां' रुचिर भावों की अरुण दीप्ति है और मर्त्यता का श्रान्त हास्य है। प्राभातिक चन्द्रलेखा के इस नीरव रुदन में, दुरन्त तटिनी के इस अलीक अरण्य रोदन में कितनी मादकता है, कितनी मधुरिमा है और कैसी असीम वेदना है ? रुक्मिणी के सलील लालित्य तथा श्याम की प्रवंचक उन्मादकता के वर्णन में कवि ने अपनी कविता को लुनाई से भर दिया है और उसे कल्पना के धुंधले चित्र में खचित कर दिया है। प्रेम, दो का एक होना, अनन्तता का शून्य में केन्द्रित होना, इन बातों का अनेक कवियों ने वर्णन किया है। परन्तु कितने प्रेमियों के मद्यपान में आंखों से चिनगारियां झड़ती देखी हैं ? कितनों ने अनन्त विश्व को मदिरा का प्याला

अनुभव किया है ? वेहोश प्रेम में, उन्मादिनी मदिरा के आवेश में कितने प्रेमियों के मुंह यह शब्द निकले हैं:—

'इतना ढले सारे जग को मदिरा का प्याला लेखूं।
अपने में मैं तुझे और फिर तुझमें अपने को देखूं॥'

पृथीराज ऐसे पागलों में से एक था, वह उनका सिरमौर था। उसकी रुक्मिणी वसन्त की पुष्पश्री है और उसका श्याम उद्दाम यौवन का उन्मादक समीर है।

ऐसी उत्कृष्ट कविता का हिन्दी भाषा में समुचित आदर होना सब को अभीष्ट है।
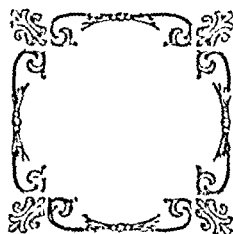
अध्याय ३

(प्राचीन भक्त कवि, १४००–१५५०)
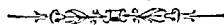
वैष्णव धर्म—

* वैदिक काल के आर्य अनेक देवों की पूजा करते थे। पूजा-विधि तथा अनुष्ठानों की प्रक्रिया पर उनका ध्यान अधिक था। मनुष्य का इहलोक तथा परलोक के प्रति क्या कर्तव्य है इस विषय में वाद विवाद आरम्भ हो गये थे। परन्तु इन बातों से भावुक जन समाज की धार्मिक पिपासा तृप्त न होती थी। फलतः वैदिक काल के अन्त में एक ऐसे धर्म का उदय हुआ जो हृदयग्राही तथा रसीला था। उपनिषदों के युग में इस धर्म का विकास होता रहा। ईशोपनिषद् में परमात्मा को इन्द्रियातीत होते हुए भी श्रद्धालु के समीप बताया गया है। फलतः प्राचीन युग में धार्मिक भाव-योग † (Religious mysticism) का बीजारोपण हो चुका था। उपनिषदों के सिद्धान्तों का पीछे आने वाले धार्मिक विचारों पर भारी प्रभाव पड़ा। एक देव वाद (Henotheisn) तथा अनेक देवों को एक देव रूपेण देखने के सिद्धान्त का विशेष आदर हुआ। यह विचार कि 'एक ही आत्मा अनेक रूपों में परिणत हो जाता है' इस विचार का कि अग्नि, मित्र, वरुण, और अर्यमा आदि

---

* वैष्णव धर्म के विस्तृत वर्णन के लिये सर भाण्डारकर की वैष्णविज्म नामक पुस्तक देखने योग्य है।

† तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। ईशोपनिषद्। उपनिषदों में प्रेम को श्रद्धा शब्द से व्यक्त किया गया है। देखो उपनिषदों का Index

वस्तुत: एक ही तत्त्व हैं' विरोधी प्रवाह है। यदि अनेक देवों का एक होना संभव है तो एक देव का अनेक देवों के रूप में परिणत होना भी सुतरां न्याय्य है। अवतारवाद का आरम्भ इसी विचार में है।

उपनिषदों के गूढ़ सिद्धान्तों से साधारण समाज को तृप्ति असंभव थी। भक्त लोग किसी ऐसे देव की खोज में थे, जो साकार हो, स्थूल हो और व्यक्ति विशेष के रूप में हो। यह इष्ट देव उन्हें भागवत धर्म के भगवान् में प्राप्त हो गया। भक्तिधर्म का मूल स्रोत इसी कल्पना में है।

धर्म की स्वतन्त्र विचार धारा का प्रवाह पूर्व में जैन तथा बौद्ध धर्म के रूप में वहा। दोनों संप्रदायों ने परमात्मा की स्वतन्त्र सत्ता का प्रत्याख्यान किया और आत्माकी वैयक्तिक सत्ता को कल्पित बताया। शनैः शनैः परमात्मा की कल्पना के अभाव से उत्पन्न हुई कान्दिशीकता को जिन तथा बुद्धदेव की वैयक्तिक पूजा ने दूर कर दिया। इस प्रकार पूर्व का धर्म घूम फिर कर फिर उसी स्थान पर आ पहुँचा जहां से वह चला था। दूसरी ओर पश्चिम में एक ऐसे आस्तिक मत का विकास हुआ जो अवतार को सत्य समझता हुआ परमात्मा को शरीरी मानता था और प्रतिमा में उसकी भावना करता हुआ अपने प्रेम तथा आवेग के भावों को शान्त करता था। वासुदेव धर्म का निष्कर्ष इसी विचार में है।

वासुदेव धर्म का उत्थान काल—

(१) अष्टाध्यायी (४-३-९८) सूत्र की व्याख्या में महर्षि पतंजलि 'वासुदेव' का अर्थ 'पूजार्ह' करते हैं। पतंजलि के समय में वासुदेव धर्म का प्रचार रहा होगा। पतंजलि का समय ईसा से २०० वर्ष के लगभग पूर्व कूता जाता है।

(२) घोसुण्डी (राजपूताना) में प्राप्त हुए एक ताम्र पत्र

पर वासुदेव तथा संकर्षण के पूजास्थान का वर्णन है। अक्षरों की बनावट से प्रतीत होता है कि ईसा से २०० वर्ष पूर्व लिखा गया होगा।

(३) बेसनगर में हिलोडोरस का एक ताम्रपत्र मिला है। उस में वासुदेव की पूजा के निमित्त एक गरुड़ स्तूप की स्थापना का वर्णन है। हिलोडोरा अपने आपको भागवत पुकारता है। वह Diya का पुत्र था, तक्षशिला का रहने वाला था, यवन का राजदूत था और राजनैतिक कार्य के लिये (Aimtalikiba) अन्तलिकित की ओर से पूर्वीय मालवा में राज करने वाले भागभद्र के पास आया था। अंतलिकित वैक्ट्रोग्रीक मुद्राओं पर छपे "अंतियल्किडास" का अपभ्रंश प्रतीत होता है। इस नाम से तथा ताम्रपत्र के अक्षरों की बनावट से प्रतीत होता है कि यह ईसा से कुछ वर्ष पूर्व (२०० के लग भग) लिखा गया होगा। उस समय वासुदेव को 'देवों का देव' मान कर उसकी पूजा की जाती थी और यह पूजा इतनी अधिक प्रचलित थी कि विदेशी 'ग्रीक लोग' भी अपने आपको भागवत कह कर वासुदेव की पूजा में सम्मिलित होने लगे थे।

(४) महाभारत के शान्ति प्रकरण में नारायण प्रकरण आता है। शङ्कराचार्य शान्ति पर्व में से उद्धरण देते हैं। फलतः उनकी अपेक्षा शान्तिपर्व प्राचीन है। छठी सदी में कंबोदिया के राजा भववर्मा ने मन्दिरों में रामायण महाभारत * तथा अष्टादश पुराणों की प्रतियां पारायण के लिये रखवाई थीं। इस काल से २०० वर्ष पूर्व महा भारत का अंतिम संस्करण प्रस्तुत हो चुका होगा। महाभारत के नारायण प्रकरण में नारायण को वासुदेव का रूप बताया गया है और उस के चार व्यूह अर्थात् रूप भी

* Wackernagal रचित Grammatica का प्रारम्भिक वक्तव्य।

किये गये हैं।

(५) भगवद्गीता में भागवत धर्म तथा एकान्तिक धर्म का विस्तृत व्याख्यान है।

(६) उपनिषदों में परमात्मा को अत्यन्त समीप और इन्द्रियों से अतीत* बताते हुए कहा गया है कि वह श्रद्धा का भूखा है और उस के बिना उसकी प्राप्ति असंभव है।

उपर्युक्त संकेतों से प्रतीत होता है कि भक्ति का विधान बीज-रूपेण उपनिषत्काल में हो चुका था।

वैष्णव धर्म का संक्षिप्त इतिहास सर भाण्डारकर के शब्दों में इस प्रकार है। वैष्णव धर्म का जन्म ईसा से लग भग ५०० वर्ष पहले हुआ। बौद्ध तथा जैन धर्म की भांति पहले पहल यह भी एक प्रकार का सुधारात्मक आन्दोलन था, परन्तु इन दोनों धर्मों के विपरीत इस का मूल ईश्वरवाद में था। इसे प्राचीनकाल में एकान्तिक धर्म के नाम से पुकारते थे और इस में एक ही देव की पूजा का विधान था। शनैः शनैः इस में सांप्रदायिकता आगई और यह पांचरात्र अथवा भागवत धर्म के नाम से पुकारा जाने लगा। सात्वत नाम के क्षत्रियों का यही धर्म था। यह बात मेगास्थिनीज के वर्णन से स्पष्ट हो जाती है। शनैः २ यह नारायण-धर्म तथा विष्णुधर्म में मिल कर एक हो गया। भगवद्गीता ने उपनिषदों तथा सांख्य योग से बहुत सी बातें लेकर वैष्णव धर्म में उनका समावेश किया और उसके दार्शनिक आधार को दृढ किया। ईसा से कुछ काल पश्चात् आभीर लोगों ने इस धर्म में एक नवीन आदर्श का समावेश किया। उन्होंने कृष्ण के गोपाल रूप को चरम ध्येय समझ, भागवत धर्म में गोपालन का सूत्रपात किया। आठवीं सदी तक भागवत धर्म का इसी रूप में प्रचार होता रहा। इन्हीं दिनों शंकर ने अद्वैतवाद तथा मायावाद का इस धर्म में

* 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके' ईशोपनिषद्.

समन्वय किया। परन्तु उनके सिद्धान्तों से समाज की तृप्ति न हो सकी। उनके अद्वैत में भक्ति का लोप था और प्रेमका वहिष्कार था निदान शंकर के प्रति विरोध वढ़ता गया और अन्तमें ११वीं सदीमें रामानुजाचार्य ने शंकर के अद्वैत तथा मायावाद का खण्डन करके फिर से भक्तिवाद का उद्धार किया। उत्तर भारत में निम्बार्क ने रामानुज के भक्तिवाद का समर्थन किया और भागवत धर्म के चतुर्थरूप अर्थात् कृष्णराधा की पूजा पर विशेष वल दिया। १३वीं सदी तक भक्तिवादका समर्थन होता रहा। माधव और आनन्दतीर्थ ने भक्तिवादका समर्थन करते हुए वहुदेववादयुक्त विष्णुपूजा का आयोजन किया। उत्तर भारत में रामानन्द ने भागवत धर्म में राम की पूजा का विधान किया, जवकि उनके वेदान्त गुरु रामानुज ने भगवान् के नारायणरूप पर विशेष वल दिया था। रामानन्द और उसके शिष्यों ने संस्कृत छोड़ भाषा का आंचल पकड़ा और अपने संप्रदाय का साधारण समाज में प्रचार किया। रामानन्द का धार्मिक क्षेत्र १४वीं सदी वताया जाता है। रामानन्द के शिष्य महात्मा कवीर ने एकेश्वरवाद का प्रचार करते हुए और एक ही भगवान् को राम तथा अल्लाह की उपाधि देते हुए मूर्तिपूजा आदि कल्पित प्रकारवादों का खण्डन किया। तुलसीदास ने राम की पूजा पर विशेष ध्यान दिया और वल्लभाचार्य ने १६ वीं सदी में कृष्ण और राधा की पूजापर विशेष वल दिया। वल्लभ ने कृष्णकी वालक के रूप में पूजा की और चैतन्य ने युवा कृष्ण तथा उन की सहचारिणी राधा का विशुद्ध प्रेमियों के रूप में अर्चन किया। शनैः शनैः प्रेम तथा लीला के भाव वढ़ते गये, लीलांश में तीव्रता आती गई और उसे यथार्थता का रूप देने के प्रस्ताव होने लगे। राधाकृष्णपूजा की ओर समाज का ध्यान अधिक आकृष्ट होने लगा। चैतन्य का परमात्म प्रेम यथार्थ था, गहरा था और तल्लीन करने वाला था। परन्तु वल्लभ के प्रेम में नाटकीयता थी। प्रेमकी नाटकीयता वढ़ती

गई, आदर्श दूर होता गया और पूजा में कदर्य भावों का समावेश होने लगा। शनैः शनैः पतित भाव तथा नाटकीय अभिनय बलवान् हो गये और वैष्णव धर्म का पतन हो गया। महाराष्ट्र में महात्मा नाम देव तथा तुकाराम ने राधा कृष्णकी पूजा का प्रत्याख्यान करके विशुद्ध पूजा की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया। कबीर की भांति उन्हों ने भी धार्मिक प्रचार के लिये मातृभाषा का सहारा लिया। नामदेव १४ वीं सद में हुए थे और तुकाराम का जन्म १७ वीं सदी में हुआ था। नामदेव, कबीर, तुकाराम तथा चैतन्य आदि ने पाखण्ड का खण्डन करते हुए एक परमात्मा की पूजा का विधान किया। कबीर ने मानसिक शुद्धि पर अधिक बल दिया और बताया कि मनः शुद्धि के विना आत्मदर्शन तथा मोक्ष असंभव हैं।

वैष्णव संप्रदायों का आधारस्तम्भ भगवद्गीता है, सब का आदर्श वासुदेव भगवान् हैं, सभी धार्मिक अद्वैत तथा मायावाद का एक स्वर से खण्डन करते हैं। परन्तु आत्मविषयक सिद्धान्त सब के भिन्न भिन्न हैं; एक कृष्ण की पूजा पर बल देता है तो दूसरा राम की वन्दना पर, तीसरा विष्णु को भजता है तो चौथा नारायण को मोक्ष का द्वार बताता है। वेदान्त भी सब का पृथक् पृथक् है, पूजा विधि में भी बहुत कुछ भिन्नता है। पिछले दिनों में भगवद्-गीता का स्थान पांचरात्र संहिता, विष्णुपुराण तथा भागवत आदि ने ले लिया। अपने अपने सिद्धान्तों की व्याख्या की गई, पूजा प्रक्रिया का निर्धारण किया गया, और अपने अपने मन्तव्यों को रोचक तथा स्थायी बनाने के लिये बहुत से कथा कथानक गढ़े गये। संक्षेप में वैष्णव धर्म का इतिहास यही है।

भारत तथा वैष्णव धर्म पर ईसाइयों का प्रभाव—

'ईसा की पहली सदी के लगभग आभीर नामक घूमती फिरती गोपालक जाति के बालदेव के साथ वासुदेव का ऐक्य स्थापित हुआ।

सीरिया अथवा एशिया माइनर से पूर्व की ओर चलते हुए, आभीर लोग अस्तवल में होनेवाले ईसा के जन्म तथा निरपराधों के वध से सम्बन्ध रखने वाली जन श्रुतियों को और स्वयं क्राइस्ट नाम को अपने साथ लाए। यही नाम आगे चलकर कृष्ण के रूप में प्रख्यात हुआ और अवभी वहुत से भारत वासी इस नाम का कृष्टो अथवा कुष्टो के रूप में उच्चारण करते हैं। इस प्रकार आभीरों द्वारा लाई गई क्राइस्टविपयक जनश्रुतियों का एक प्रकार से भारत के वासुदेव कृष्ण में प्रतिफलन हो गया ॥*

सर आर. जी. भाण्डारकर.

प्राचीन काल में हिन्दू और ईसाइयों का परस्पर क्या संवन्ध था इस विपय पर यथेष्ट प्रकाश डालने के लिये लेखसामग्री का अभाव है। परन्तु पिछली दो सदियों में जो प्रभाव ईसाइयों का हिन्दू समाज पर पड़ा है उससे उनके प्राचीन प्रभाव का कुछ कुछ आभास अवश्य मिल सकता है। पिछली दो सदियों में ईसाइयत शासक धर्म के रूप में अपना प्रचार कर रही है। इस बीच में उस के पास प्रचार के लिये आवश्यक सभी साधन प्रस्तुत रहे हैं। परन्तु सब कुछ होने और करने पर भी भारत में ईसाइयों की संख्या १९११ की जन संख्या के अनुसार ३८७६००० तक ही पहुंच सकी है। इस संख्या का वहुतर भाग हिन्दू समाज की उस दलित श्रेणी से आया है जिसे हिन्दूसमाज हिन्दू नाम से पुकारना भी उन पर कृपा करना समझता है। इस से स्पष्ट है कि इन दो सदियों के भीतर भारत पर ईसाइयों का विशेप प्रभाव नहीं पड़ा। चीन के साथ भारत का सदियों से संवन्ध चला आ रहा है। परन्तु भारत की धार्मिक परिस्थिति पर चीन का नाम के लिये भी प्रभाव

---

* Indian Antiquary 1912 पृष्ठ. १९. इस विपय में Sir Charles Eliot की Hinduism and Buddhism नामक पुस्तक के तीसरे भाग का अन्तिम अध्याय पढने योग्य है।

नहीं पड़ा, जब कि चीन को धर्मदृष्ट्या भारत का शिष्य कहा जा सकता है । जब धर्माभ्युदय की पराकाष्ठा के युग में ईसाई प्रचारकों की इतिकर्तव्यता का यह नमूना है, तब यह अनुमान भी करना कि हिन्दुओं का वह धर्म, जिसे भारत के करोड़ों नर नारी सदियों से पूजते आए हैं, ईसाइयों से अथवा अन्य किसी विदेशी जाति से मुख्य अंशों में उधार लिया गया होगा, कल्पना से बाहर है ।

भारत पर ईसाई धर्म का ऋण सिद्ध करने की चेष्टा करने वाले लेखक पहले ही अपने मन में पक्षपात को स्थान दे देते हैं । उन की समझ में प्राक्कालीन भारत में आने वाले इने गिने ईसाइयों ने सहज ही भाषा, देश, आचार विचार आदि के अन्तरायों पर विजय प्राप्त करके करोड़ों नरनारियों के धर्म पर अपना प्रभाव डाल कर उसमें विशेष प्रकार के परिवर्तन उत्पन्न कर दिये होंगे । परन्तु यह मत ऐतिहासिक दृष्ट्या असंगत है ।

भक्ति और अवतारवाद ईसाई धर्म से पहले ही भारत में प्रचलित थे ।

* परमात्मा का अवतार, उसके प्रति भक्ति, और भक्ति द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के सिद्धान्त ईसाई मत के जन्म से पहले ही भारत में सोच लिये गए थे । इस विषय में भारत को ईसाई धर्म का ऋणी बताना दुराग्रह है । परन्तु ईसाइयों के धर्म का मूल आधार ईसा के बलिदान से जगत् का उद्धार मानना है । यदि प्रसादवाद का यह सिद्धान्त भारत के किसी भी मौलिक धर्म में सिद्ध होजाय तो हमें भारत पर ईसाई

---

* Many doctrines preached by Christiannity such as love of God, salvation by faith, incarnation, had been thought out in India before the Christian era. Hinduism and Buddhism भाग ३ पृष्ठ ४१३ ।

धर्म का प्रभाव मानने में तनिक भी संकोच नहीं। परन्तु यह सिद्धान्त, हिन्दू, बौद्ध, और जैन सभी धर्मों के लिये समान रूप से अग्राह्य है। फलतः अनुमान किया जा सकता है कि ईसाईमत तथा हिन्दू धर्म में दीखने वाली समानताएं या तो आकस्मिक हैं, अथवा ईसाइयों ने परंपरया भारत से ली हैं।

भारत में पाश्चात्य विचारों के सूत्रपात का काल।

जल और स्थल दोनों ही मार्गों से भारत में पाश्चात्य विचारों का सूत्रपात हुआ। संभव है ईसाइयत भी इन दोनों मार्गों से भारत में पहुंची हो। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् ग्रीस के आचार विचार और कला कौशल भारत में बेरोकटोक आने लगे थे। संभव है इनके साथ ही ईसाइत की भी कुछ बातें भारत में आई हों। परन्तु प्रश्न तो यह है कि वह कौनसा सर्वप्रथम काल है जब कि हमें भारत में ईसाईयों की प्रभाविनी सत्ता का लेखबद्ध प्रमाण मिलता है। * ईसाईयों पार्थिया, बैक्ट्रिया, और भारत के प्रान्तवर्ती प्रदेशों में सब से पहले दूसरी सदी में पहुंचे थे। उन के दक्षिण भारत में पहुंचने का सर्वप्रथम लेख Cosmas Indicopleustes (५२५ A. D.) का है। संभव है पहले पहल ३४३—४१४ के बीच फारस में होनेवाले अत्याचारों से पीडित हो ईसाइयों ने भारत में शरण ली हो।

टामस (Apostle Thomas) की कथा काल्पनिक है।

कहा जाता है कि टामस ने इससे भी पहले भारत में ईसाई धर्म का प्रचार किया था। परन्तु विद्वानों को टामस की सत्ता के विषय में संदेह है। उनके मत में टामस का भारत में आना काल्पनिक है। सब से पहले टामस

---

* देखो Garbe रचित Mission und Austreitung des Christentum.

को कथा का जिक्र सेण्ट टामस के ऐक्ट में आता है, जिस की सीरिएक (Syriac) प्रतिलिपि २५० ईसवी में लिखी गई थी।* परन्तु इस लेख से टामस का कर्मक्षेत्र पार्थिया में निश्चित होता है। दूसरी ओर जनश्रुति कहती है कि टामस ने दक्षिण भारत में ईसाई धर्म का प्रचार किया था। समझ में नहीं आता कि एक ही टामस पार्थिया और मद्रास जैसे सुदूरदेशों में किस प्रकार पहुंच गया। हमारी समझ में यदि प्रस्तुत टामस कोई था भी तो वह पार्थिया में रहा था न कि भारत में। विवादग्रस्त टामस की कथा के सहारे भारत पर ईसाइयों के प्रभाव को प्रमाणित करना अदूरदर्शिता है।

४थी सदी में पारसियों द्वारा सताया गया ईसाई धर्म भारत पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता था।

प्रारंभ की सदियों में भारत और फारस के बीच धर्म तथा आचार विचार की दृष्टि से स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। भारत की अपेक्षा फारस में ईसाई धर्म शीघ्र पहुंच गया था। मनि (Mani) के समय में यह उस के समन्वयात्मक धर्म का एक अंश था। मनि २१६ में उत्पन्न हुआ था। फलतः ईसाई लोगों का भारत में ३री सदी के पश्चात् ही आना संभव है। परन्तु ४थी सदी में पारसियों द्वारा सताया गया ईसाई धर्म भारत पर अपना कुछ भी प्रभाव डाल सकेगा इस विषय में संदेह है।

†भारत के पश्चिम तट का अत्यन्त प्राचीन कालसे लाल समुद्र

* Smith रचित Early History of India तृतीय संस्करण, पृष्ठ २३१ में टामस विषयक कथा की विवेचना है।

† Hinduism and Buddhism भाग ३ पृष्ठ ४१४ पर इलियट साहब इस विषय पर विस्तार के साथ विचार करते हैं।

भारत का विदेशों के साथ अत्यन्त प्राचीन कालसेसम्बन्ध रहा है

तथा पर्शियन गल्फ के साथ सामुद्रिक सम्बन्ध रहता आया है । आगस्टस (Augutus) से लेकर नीरो (Nero) तक के समय में लाल समुद्र का रास्ता खूब चलता था । प्लिनी शिकायत करता है कि भारत के व्यापारी प्रति-वर्ष मसाले के व्यापार द्वारा इटाली से करोड़ों रुपया ऐंठ लेते हैं । स्ट्रेबो के अनुसार लाल समुद्रावस्थित म्योस होर्मेस (Myos Hormes) से १२० जहाज भारत के लिये प्रस्थित हुए थे। इन दिनों पश्चिमीय व्यापार का मुख्य केन्द्र मुजिरिस (Muziris Cranganore) था। उत्तर और दक्षिण भारत में रोमन मुद्रा पाई गई हैं। हिन्दुओं के सिक्कों पर रोमन प्रभाव सिद्ध होचुका है। विचारों की यात्रा में अपेक्षाकृत कम समय लगता है। ग्रीक ज्योतिष पर भारतीय ज्योतिष का ऋण स्पष्ट है। वैद्यक आदि भी परंपरया यहीं से पहुँचो हैं। † आजसे १८०० वर्ष पूर्व रची गई तामिल कविता में ग्रीक मद्य तथा रोमन सिपाहियों का नाम आता है। ग्रीक अध्यापक और प्रचारकों के विषय में यह कविता मौन है। ईसा से ७० वर्ष पीछे इस व्यापार में न्यूनता आरम्भ होती है। इस समय के फ्लेवियन (Flavian) राजा पौरस्त्य टीपटाप से घृणा करते थे।

२१५ में Caracalla की आज्ञा से होने वाले कत्ल आम के पश्चात् यह व्यापार घट गया और अलेक्जेण्ड्रिया का व्यापारिक उत्कर्ष बहुत दिनों के लिये जाता रहा। इतिहास के इस क्रम से पता चलता है कि भारत और मिस्र के पारस्परिक सम्बन्ध का

---

† Early Tamil poems speak of Greek wines and Roman Soldiers in the service of Indian Kings etc., Hinduism and Buddhism भाग ३ पृष्ठ ४१६ । देखो कनक सभाई रचित 'The Tamils 1800 years ago'

उत्कृष्ट युग उस समय से कहीं पहले बीत चुका था जब कि ईसाइयत का संसार में प्रचार होना आरम्भ हुआ था ।

ऊपर बताया जा चुका है कि ईसाइयों ने फारस के अत्याचारों से त्रस्त हो भारत के पश्चिमीय तट पर शरण ली थी, जहां बहुत पहले से ज्यू लोगों की कुछ बस्तियां चली आरही थीं। यहां ईसाइयों ने अपना एक चर्च भी बनाया था, जिसका प्रतिष्ठाता टामस को बताया जाता है। इसबात का जिक्र सबसे पहले मार्को पोलो (Marco polo) के लेख में आता है। परन्तु cosmas Indicopleustes के अनुसार कलियाना का पादरी फारस से आया था। भारत का तात्कालिक चर्च नेस्टोरियन चर्च था, क्योंकि ईसाइयों के इसी एक संप्रदाय को फारस की सरकार ने अपने देश में ठहरने दिया था। कुछ भी हो, ईसाइयों का यह चर्च चोखा फला फूला और मलाबार तक ही परिसीमित न रह मद्रास के पूर्वीय तट तक फैल गया। परन्तु इस चर्च का बाह्य ईसाइयों के साथ सम्बन्ध नहीं था, इसलिये इसमें शनैः शनैः पतन के बीज जमने लगे। ६६० में इसकी पाठ पूजा भ्रष्ट हुई और १४ वीं सदी में यहां से बपतिस्मा देने की प्रथा उठ गई। हिन्दुओं का ईसाइयों के इस संप्रदाय पर गहरा प्रभाव पड़ा। कहा जाता है कि रामानुज का इस चर्च के साथ संबन्ध था। परन्तु इस विषय में भारी संदेह है। संबन्ध मान लेने पर भी यह बात नहीं परिणत हो पाती कि रामानुजी और उनके द्वारा रामानन्दियों ने इस चर्च से किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त की हो।

दक्षिण भारतका नेस्टोरियन Nestorian चर्च ।

१३ वीं और १४वीं सदी में रोमन कैथलिक चर्च के पादरी चीन को जाते और वहां से लौटते समय मलाबार में ठहरते थे और वहां अपने धर्म का प्रचार करते थे। १३३० में पोप ने नेस्टोरियन लोगों का See of Rome के साथ संबन्ध स्थापित करने

के निमित्त एक विशप को Quilon भेजा था। परन्तु रोमन कैथलिक चर्च की पक्की जड़ १५१० में होने वाली पुर्तगालियों की गोआ विजय के पश्चात् जमती है। फलतः १५२५ के पश्चात् भारत पर ईसाइयों का प्रभाव मानने में किसीको आपत्ति न होनी चाहिये। परन्तु पुर्तगाली अपनी असहनशीलता के कारण शीघ्र ही हिन्दू और मुसलमानों की दृष्टि में गिर गए थे। पुर्तगालियों के आदर के साथ ही उनके धर्म का आदर भी विदा होगया था। अकबर ने गोआ के ईसाई प्रतिनिधि को दरवार में होने वाले शास्त्रार्थ में सम्मिलित होने के लिये न्यौता भिजवाया था।* यह हुआ संक्षेप में भारत की ईसाइयत का इतिहास! इसे पढ़कर भी यह कहना कि भारत पर ईसाई धर्म का भारी प्रभाव पड़ा है दुराग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

आइये अब हिन्दू धर्मकी उन बातों पर विचार करें जिन्हें ईसाइयों से लिया गया बताया जाता है। यह बातें संक्षेप में इस प्रकार हैं---

(१) दक्षिण का एकेश्वरवादी शैवधर्म।

(२) वैष्णव धर्म के बहुत से सिद्धान्त यथा–भक्ति, परमात्मा की अनुकम्पा, प्रेम और पितृत्व।

(३) प्रसाद आदि प्रक्रिया विशेष, और कृष्ण के बाल्यकाल से संबन्ध रखने वाली कथाएं।

भारत ने नेस्टरियन चर्च से एकेश्वरवाद तथा भक्ति आदि की दीक्षा ली यह कथन अमान्य है।

मिश्र अरब तथा फारस की खाड़ी के साथ दक्षिण भारत का बहुत दिनों से संवन्ध था। रोमन, ज्यूइश, तथा निस्टोरियन लोगों की बस्तियों से इस देश का पश्चिमीय देशों के साथ भी संवन्ध प्रमाणित होता है। दक्षिण का धार्मिक इतिहास क्रमबद्ध नहीं है। संभव है आर्य लोग पहले पहल यहाँ बौद्ध तथा जैनों

* Kathay and the way thither. भाग ४।

के रूप में आए हों और पीछे से आर्य तथा द्राविड धर्मों के संश्लेपण से शैवधर्म की उत्पत्ति हुई हो। आज भी दक्षिण भारत अपने एकेश्वरवाद तथा आचारपूतता के लिये प्रसिद्ध है। एकेश्वरवाद और भक्ति आदि के सिद्धान्त तामिल शैवधर्म के अतिरिक्त भारत के अन्य धर्मों में भी प्राचीनकाल से पाए जाते हैं, इसलिये इन्हें ईसाई धर्म से लिया हुआ बताना असंगत है। लिङ्गायत संप्रदाय को ईसाई और मुसलमान दोनों हेय समझते हैं। परन्तु उपर्युक्त सिद्धान्त उसमें भी स्पष्ट रूप से पाए जाते हैं।

वैष्णवधर्म पर ईसाइयतका प्रभाव नहीं है।

शैवधर्म की अपेक्षा वैष्णवधर्म के साथ ईसाइयत की अधिक समानताएं हैं। आसाम से मद्रास तक प्रचलित हुए इस संप्रदाय का एकेश्वरवाद में दृढ विश्वास है। यह लोग भक्ति के द्वारा मोक्ष की सिद्धि मानते हैं। इनका राम मनुष्यों के साथ प्रेम करता है और उनकी टेर पर ध्यान देता है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि वैष्णवों ने यह बातें ईसाई धर्म से ली हैं। परन्तु यह कल्पना निराधार है, क्योंकि ईसाइयत के जन्म से पूर्व ही इन बातों का भारत में जन्म होचुका था। पाणिनि इस बात की ओर संकेत करते हैं, और श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा भगवद्गीता परमात्म-भक्ति का विस्तृत व्याख्यान करती हैं। पिछले दोनों ग्रन्थ यदि ईसा से पहले नहीं बन चुके थे तो उसके जन्म के आसपास तो अवश्य ही बने थे। भक्ति के बीज भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से पाये जाते हैं। वेदों में मनुष्य की हितकामना से विष्णु का तीन पग रखना बताया गया है। अवतारवाद के बीज वेदों में पाये जाते हैं। परन्तु यदि दुराग्रहवश इस बात के मानने में आपत्ति हो तो बौद्धों का यह विचार कि संसारकी हितकामना से समय समय पर बुद्ध * भगवान् जन्म धारण करते हैं, तो स्पष्टरूप से इस बात

* थेरी गाथा

को सिद्ध करता है कि ईसा से पहले ही भारत में अवतारवाद का मूल प्ररूढ होचुका था। कबीर और नानक की कविता में आने वाले 'शब्द' की ईसाइयों के Logos के साथ तुलना की जाती है, परन्तु समानता मात्र से कबीर पर ईसाइयों का ऋण नहीं सिद्ध हो पाता। स्वयंभू ब्रह्म के रूप में शब्द अत्यन्त प्राचीनकाल से भारत में प्रचलित है यह झोरोस्ट्रियन धर्म में पाया जाता है, जहां Manthra Spenta को परमात्मा का स्वरूप बताया गया है। शब्द का विचार इससे भी कहीं प्राचीन है। साधारण जनता, (विशेषतः भारत की) अत्यन्त प्राचीनकाल से शब्दों तथा नामों में अलौकिक शक्ति मानती आरही है। यह मान लेने पर भी कि शब्द का विचार Logos से लिया गया है, कबीर आदि पर ईसाइयत के मौलिक प्रभाव की संभावना नहीं हो पाती, क्योंकि स्वयं ईसाई धर्म ने इस विचार को दूसरे स्रोत से अपनाया है। ईसा के समकालीन मिस्र, सीरिया तथा एशिया माइनर के धर्मों का यह एक अंग था और बहुत संभव है इसका प्रारंभिक रूप ऐतिहासिक युग से पहले भारत से लिया गया हो।

ईसाई धर्म के प्रभाव को सिद्ध करने वाले लेख नहीं मिलते।

वैष्णवधर्म के पांचरात्र संप्रदाय की उत्पत्ति बहुत पहले ही काश्मीर तथा भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में हो चुकी थी। उन दिनों मध्य एशिया तथा भारत में होनेवाली विष्णुपूजा बहुत सी बातों में समान थी। लेखों द्वारा सिद्ध होता है कि पश्चिमोत्तर प्रान्त में से होकर ग्रीस और फारस का भारत पर प्रभाव पड़ा था। परन्तु ईसाईधर्म के प्रभाव को सिद्ध करने के लिये हमें एक भी लेख प्राप्त नहीं है। इस विषय में यह बात याद रखने योग्य है कि १२ वीं तथा १३ वीं सदी में वैष्णव धर्म का प्रचार करने वाले ब्राह्मण लोग दक्षिण भारत से आये थे और अपने रहन सहन तथा मन्तव्यों में बहुत अधिक कट्टर थे।

ऐसी दशा में Garbe का यह कहना कि कांजीवरम में विद्याभ्यास करते समय रामानुज ने मेलापुर (Mailapur) के ईसाइयों से कुछ शिक्षा दीक्षा ली होगी सुतरां असंगत प्रतीत होता है। रामानुज धुरंधर विद्वान् था। भक्ति संप्रदाय के ग्रन्थ उसको मुखाग्र थे। ऐसी अवस्था में यह बात कैसे मानी जा सकती है कि उसने भगवद्गीता (जिस पर उसने टीका रची है) अथवा पांचरात्र से (जिसकी कि वह बारबार प्रशंसा करता है) भक्ति की दीक्षा न ले विधर्मी ईसाइयों से उसकी दीक्षा ली हो। सुदूर-देशों में स्थापित हुए ईसाई चर्च कालान्तर में गिर गए थे और अंधविश्वासों में फंस गए थे। निस्टोरियन लोगों के चर्च से तो बपतिस्मे की प्रथा तक छूट गई थी। ऐसे पतित चर्च के साथ भारत के तात्कालिक नेताओं का आदानप्रदानात्मक संबंध स्थापित करना दुराग्रह के सिवाय और कुछ नहीं है।

यदि एकेश्वर वाद आदि पर बाह्य प्रभाव मानना ही है तो इस्लाम का मानना चाहिए।

शंकर के अद्वैत का ९ वीं सदी से लेकर १२ वीं सदी तक भारत में दौर दौरा रहा। परन्तु इस के पश्चात् एकेश्वरवादी नवीन मतों के उत्थान के कारण उसका प्रभाव घट गया। ११०० के लगभग भारत में ईसाइयों का कोई आन्दोलन नहीं हुआ। इस लिये शांकराद्वैत के पतनका कारण घूमफिर कर वैष्णव धर्म ही ठहरता है। परन्तु यदि इसके पतन का संबन्ध किसी न किसी बाह्य आन्दोलन के साथ जोड़ना ही है तो वह आन्दोलन इस्लाम है न कि ईसाई धर्म। शंकर ने बौद्धों का खण्डन करके मायावाद का प्रचार किया था। रामानुज ने अपने धार्मिक शत्रु मुसलमानों की एकेश्वरवादिता का (यदि उस पर मुसलमानों का प्रभाव मानना ही है तो) प्रचार किया। रामानुज का मुसलमानों के साथ संबन्ध हुआ था या नहीं यह विषय विवादग्रस्त है, इस

लिये प्रमाण विशेष के न मिलने तक हम रामानुज पर इस्लाम के प्रभाव को मानने में असमर्थ हैं ।

हिन्दू और ईसाइयों की प्रथाओं में दीखने वाली समानताएं आकस्मिक हैं । हिन्दुओं के द्विजन्मत्व की ईसाइयों के वपतिस्मे के साथ तुलना की जाती है । परन्तु * द्विजन्मत्व की प्रथा का दोनों धर्मों में स्वतन्त्ररूपेण प्रादुर्भाव हुआ है । पवित्रता के लिये माथे पर पानी छिड़कने की प्रथा भी सर्वसाधारण है । पानी से शरीर की शुद्धि को सभी समान रूप से मानते हैं । ईसाइयों के प्रसाद तथा मन्दिर में वंटने वाले प्रसाद की समानता से ईसाइयों का भारत पर ऋण सिद्ध किया जाता है । परन्तु याद रहे, यज्ञावशेष के समुचित उपयोग के लिये प्रसादकी प्रथा हिन्दुओं के लिये आवश्यक है, जबकि ईसाइयों के लिये वह एक प्रकारमात्र हैं । यदि प्रसाद की इस समानता से ऋणित्व की उद्भावना करनी ही है तो वह ईसाइयत के लिये अधिक उपयुक्त है न कि हिन्दू धर्म के लिये । हमारी समझ में तो प्रसाद की प्रथा किसी न किसी रूप में संसार के सभी धर्मों में पाई जाती है ।

हिन्दू और ईसाइयों की प्रथाओं में दीखने वाली समानताएं आकस्मिक हैं ।

हिन्दू और ईसाइयों के प्राचीन इतिहास में दीखने वाली समानताओं में कृष्ण तथा ईसा के जन्म और बाल्य सम्बन्धी कथाएं मुख्य हैं । जिस प्रकार ईसा को मैडोना (Madonna) के साथ चित्रित किया जाता है उसी प्रकार कृष्ण को माता की गोद में दिखाया जाता है । जनश्रुति के अनुसार दोनों का जन्म

कृष्ण और ईसा की बाल्यकथाओंकेसमान होने से भी ईसाइयत का वैष्णव धर्म पर ऋण नहीं सिद्ध होता

---

* द्विजन्मत्व का विचार बौद्धों में भी है । मज्झिम निकाय सूत्र ८६ 'यतो अहम् अरियाय जातिया जातो' इत्यादि ।

अस्तवल में हुआ था। दोनों के जन्मसमय तारविशेष के दर्शन हुए थे। इस विषय में दो बातें स्मरणीय हैं। पहली यह कि यह बातें भारत के यथार्थ पुराण में नहीं पाई जातीं, इस लिये संभवतः या तो इनकी स्वतन्त्र कल्पना की गई हो अथवा इन्हें दूसरे साहित्य से अपनाया गया हो। दूसरी बात यह है कि इनका एकान्त-रूपेण ईसाइयों के पुराण के साथ सम्बन्ध है। ईसाई विद्वानों की दृष्टि में 'कुमारी तथा बालक के युगल' की पूजा अशास्त्रीय है और विधर्मियों की देवीपूजा से ली गई है। संभवतः भारत में भी यह प्रथा तीसरे ही स्रोत से आई हो। परन्तु ईसाइयों की चित्र-कला भी वैक्ट्रिया और फारस होती हुई भारत में बहुत पहले पहुँच चुकी थी। संभव है उसके मथुरा पहुँचने पर कृष्ण के इस रूप की उद्भावना की गई हो। कुछ भी हो, इन छोटी मोटी समानताओं से इस बात की कल्पना करना कि ईसाई धर्म का वैष्णवधर्म के मूल सिद्धान्त पर किसी अंश में भी प्रभाव पड़ा है अनुचित है। कृष्ण पूजा की यह बातें अत्यन्त स्थूल हैं * और यदि कभी बाहर से ली भी गई हैं तो भक्ति और अवतार की उद्भावना के बहुत पीछे। महाभारत में उनका वर्णन नहीं, अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में भी उनकी ओर संकेत नहीं। Weber के अनुसार इन बातों का जिक्र सबसे पहले हेमाद्रि ने किया है, जिसका जन्म १३वीं सदी में हुआ था। इस बात के मान लेने पर भी कि हेमाद्रि से पहले भी इन बातों का प्रचार था हमें इस बात को मानने के लिये बाध्य नहीं होना पड़ता कि वैष्णव धर्म की मुख्य मुख्य बातें किसी भी अंश में ईसाइयत से ली गई हैं।

---

* Though the ordinary legend does not say that Krihsna was born in a stable, yet it does associate him with cattle". Hinduism and Buddhism.

भविष्य पुराण में आदम से लेकर अब्राहम तक की बातें ईसाइयों की धार्मिक पुस्तक से ली गई हैं। विष्णु तथा भागवत आदि पुराणों ने संभवतः कृष्ण विषयक छोटी मोटी बातें, जिनकी ईसा की कथाओं से घनिष्ठ समानता है, जैसे कृष्णजन्म पर कंस का सब बालकों को मरवा डालना, कृष्ण के उपपिता नन्द का टैक्स अदा करने के लिये मथुरा जाना, और कृष्ण की दिव्यशक्ति द्वारा कुब्जा का ठीक होना इत्यादि, ईसाइयों की ईसा सम्बन्धी कथाओं से ली हों। परन्तु यह बातें कृष्ण की विस्तृत कथाश्रृङ्खला की छोटी छोटी लड़ियांमात्र हैं, इन पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देना और इनके ऊपर संभावित किये प्रभाव द्वारा कृष्ण के संपूर्ण जीवन पर ईसाइयों का प्रभाव बताना अनुचित पक्षपात है।

पुराणों में कहीं कहीं ईसाइयोंके उद्धरण हैं

महाभारतमें आनेवाली, ऋषियों की श्वेतद्वीप यात्रा से हिंदुओं का ईसा के साथ संबन्ध जोड़ना अनुचित है। महाभारत में श्वेतद्वीप से पाँचरात्रों का काश्मीर अभिप्रेत है। दिव्य व्यक्ति का दर्शन करने वाले ऋषियों से ईसाई अभिप्रेत नहीं हैं। संभवतः उन से अग्नि की पूजा करने वाले ज़ोरोस्ट्रियन लोग अभिप्रेत हों। सैस्सानिड (Sassanids) लोगोंका पतन सातवीं सदी के पूर्वार्ध में हुआ था। उससे पहले ईसाइयों का ट्रान्सोक्सियाना (Transoxiana)पहुँचना इतिहासवेत्ताओं को अमान्य है, जबकि सारे के सारे महाभारत का ४ थं सदी में पूर्ण हो चुकना सब को एक स्वर से अभिमत है।

महाभारतान्तर्गत ऋषियों की श्वेतद्वीप यात्रा से भी ईसाइयों का प्रभाव नहीं सिद्ध होता।

परिणाम में हम कह सकते हैं कि हिन्दूधर्म के विकास में ईसाइयत ने कोई विशेष भाग नहीं लिया. ईसाइयत प्रभावशाली धर्म के रूप में १६वीं

परिणाम

सदी से पहले भारत में नहीं पहुँची। ईसाइयों के सिद्धान्तों के साथ मिलनेवाले हिन्दू सिद्धान्तों का जन्म ईसा के जन्म से पहले ही भारत में हो चुका था। हिन्दू लोग हृदयग्राही बातों को ईसाइयों के धर्मशास्त्रों से ले लेते थे। परन्तु ध्यान देने योग्य बात इस विषय में यह है कि ईसाइयों के सिद्धान्त की मुख्य मुख्य बातें या तो भारत की प्राचीन संपत्ति हैं, यथा भक्ति और अवतार, अथवा हिन्दुओं को खलने वाली हैं, यथा ईसा को सूली पर चढाना और उसके द्वारा संसार का उद्धार मानना। दक्षिण के निस्टोरियन (Nestorian) चर्च का भारत के धार्मिक जीवन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। ग्रीक तथा भोरोस्ट्रियन लोगों के विचार भारत में पहले ही आ चुके थे। संभव है उनके साथ ईसाई धर्म की भी कुछ बातें आई हों। परन्तु ईसाइयों का भारतीयों पर ऋण सिद्ध करने के लिये उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत की जाने वाली बातों में आधे से अधिक तो कल्पनामात्र हैं और शेष ऐसी हैं जिनका कृष्ण के बाल्यकाल के साथ संबन्ध है। यह बातें बहुत छोटी हैं, इनके विषय में ईसाइयों का ऋण सिद्ध हो जाने पर भी मुख्य कृष्णकथा तथा वैष्णवधर्म की एकान्त भारतीयता पर किसी प्रकार का विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। कबीरपन्थ आदि संप्रदायों की ईसाई धर्म के साथ समानता है, परन्तु कबीर ने हिन्दू तथा इस्लाम धर्म के आधार पर विश्वजनीन धर्म की स्थापना की थी, और इस्लाम ने कबीर के जन्म से पहले ही ईसाई धर्म की उन बातों को अपना लिया था जिनके सहारे कबीर पर ईसाई धर्म का ऋण बताया जाता है। कबीर पर ईसाइयों का प्रभाव मान लेने पर भी वैष्णवधर्म की मौलिकता पर कोई आपत्ति नहीं आती, क्योंकि कबीरपन्थ सुविशाल वैष्णवधर्म के समुद्र का एक बिन्दुमात्र है। Barth कहता है कि समालोचकों का ध्यान हिन्दुओं पर ईसाइयत का प्रभाव सिद्ध करने की ओर तो लगा रहता है, परन्तु भारत में इस्लाम जैसे

शक्तिशाली धर्म की विद्यमानता पर उनका तनिक भी ध्यान नहीं जाता। १६ वीं सदी के पश्चात् ईसाइयों का हिन्दुओं के साथ सीधा संबन्ध होता है। परन्तु इस युग के रोमन कैथलिक पादरियों की प्रचारशक्ति शनैः शनैः क्षीण हो रही थी। १८ वीं सदी तक ईसाइयों के विषय में भारतीयों को घृणा थी। आर्थर मेथ्यू (Arthur Mathew) लिखते हैं—

'वह युग प्रारंभ होरहा था जब कि भारत में इंगलैण्ड का नाम तीव्र निरादर के साथ लिया जाने वाला था। ईसाइयों के विषय में भारतीयों के ऐसे निरादरपूर्ण विचारों के उद्भव का कारण, जिन को सर टामस रो के मिशनरी उद्धृत करते हैं—संभवतः पुर्तगालियों द्वारा, राजनैतिक ध्येयों के निमित्त मुगल दरबार में भेजा गया रोमन कैथलिक मिशन था। 'ईसाईधर्म पतितधर्म है, ईसाई परले दरजे के शराबी हैं, वे दूसरों को हानि पहुँचाते हैं, पीटते हैं, और गालियां देते हैं'। इस पर भी १८ वीं सदी के मध्य के ५० वर्षों में कंपनी के नौकरों ने ऐसा एक भी काम नहीं किया जिस से भारतीयों की अंग्रेजों के विषय में यह कदर्य भावना न्यून हो। इन दिनों के भारतीयों को (बर्क के कथनानुसार) इसके सिवाय सोचने के लिये और क्या बचा था कि उनके संमुख शिकारी पक्षियों का एक तांता लगा हुआ है, जो प्रतिक्षण नये नये भोजन के लिये आततायी बना रहता है। यह शिकारी इंगलैण्ड में बसे हुए हैं, इस लिये भारतीयों की आहें और पुकारें बीच के समुद्र में रल जाती हैं।'*

यह तो हुआ भारत की ईसाइयत का चित्र। इंगलैण्ड की ईसाइयत इस से भी परे पहुँची हुई थी। वहां भी पतन था और

---

* Christianity and the Government of India पृष्ठ ४६।

ह्रास था। उपर्युक्त महाशय लिखते हैं—

'इंगलैण्ड के चर्च पर भी वहुत अधिक हानिकर प्रभाव पड़ रहा था——वह भी धर्म की स्थानीयता तथा विशेपीभवन के विचार को दवाने में असमर्थ था। १६ वीं सदी में फैलने वाले राष्ट्रीयता के आन्दोलन ने कुछ दिनों के लिये ईसाई जगत् के संगठन को शिथिल कर दिया था। यदि इस सदी के अन्त में यूरोप उस दशा में होता जिसमें कि आंधकारिक युग (Dark ages) के अन्त में पवित्र रोमन साम्राज्य था तो आज भारत में ऐसे लोगों की संख्या न्यून होती जो ईसाई धर्म में विश्वास तो करते नहीं परन्तु अपने आप को ईसाई नाम से पुकारते हैं।' *

भारत में ईसाई धर्म की दशा तव से सुधरी है जव से प्रचार के काम को स्वयं भारत सरकार ने अपने हाथ में लिया है। इंगलैण्ड, अमेरिका तथा ईसाई धर्म को मानने वाले अन्य सभी देश भारत सरकार का इस काम में हाथ वंटा रहे हैं। इतना सव कुछ होने पर भी ईसाइयों की भारत में जो दशा है वह पाठकों के समक्ष है। इस दशा को देखते हुए यह अनुमान करना कि प्राचीन काल में यात्रा आदि के लिये आए हुए इने गिने ईसाई भारत के धार्मिक जीवन पर विशेप प्रकार का प्रभाव डाल सके होंगे पक्षपात के सिवाय और कुछ नहीं है।

---

* Christianity and the Government of India पृष्ठ २३।

अध्याय ४

प्राचीन भक्त कवि—रामानन्द आदि (१४००–१५५०)
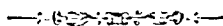
वैष्णवधर्म के अभ्युदय ने हिन्दी में नई जान डाल दी। मुसलिम साम्राज्य हिन्दुओं के लिये यातना का युग था। इसमें हिन्दू विद्वानों को लूटा गया, उनके पुस्तकालय जलाये गये, उनके मंदिरों का अपमान किया गया और उन्हें नाना प्रकार की यातनाएं दी गईं। हिन्दूधर्म विशीर्ण हो चुका था, परन्तु जीवन उसमें अभी शेष था, धर्म की रसायन से वह फिर जी उठा। उत्तर भारत के तात्कालिक वैष्णवधर्म को तीन शाखाओं में बांटा जा सकता है। (१) रामावत संप्रदाय। (२) कृष्णावत संप्रदाय। (३) ईश्वरजगद्भेदवादी। तीनों में अनेक समानताएं हैं। सब में वैयक्तिक परमात्माकी पूजा की जाती है और मायावाद तथा कर्मकाण्ड का प्रत्याख्यान किया जाता है। यह आन्दोलन साधारण समाज का आंदोलन था। फलतः इसके साहित्य की प्रधान धारा हिन्दी भाषा में बहती है।

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये सांच।
काम जु आवै कामरी, का लै करै कुमाच॥

तुलसी के इस दोहे में वैष्णवधर्म का सारांश आजाता है। हिन्दी भाषा के प्रचार में वैष्णव धर्म से भारी सहायता मिली, और हिन्दी भाषा से वैष्णवधर्म के प्रचार में भारी सहायता मिली।

रामानन्द के अग्रणी—

उत्तर भारत के तात्कालिक धार्मिक अभ्युदय में रामानन्द का सब से बड़ा भाग था। परन्तु रामानन्द के भी कुछ अग्रणी रहे होंगे

जिन्होंने उसके लिये मार्ग निष्कण्टक बनाया था । सिक्खों के आदि ग्रन्थ में (जिसका १६०४ में गुरु अर्जुनदेव ने संग्रह किया था) भक्ति संप्रदाय की प्राचीनतम कविता के नमूने मिलते हैं । इसमें रामानन्द के अगुआ श्री नामदेव तथा सदन की कविता भी सम्मिलित हैं । जयदेव की कविता के भी दो चार नमूने प्राप्त होते हैं । कुछ विद्वानों के मत में गीतगोविन्द का बनाने वाला जयदेव ही हिन्दी भाषा का कवि था । परन्तु इसमें सन्देह है, और प्रबल प्रमाण के अभाव में प्रस्तुत जयदेव को गीतगोविन्दकार के साथ एक बताना दुःसाहस है ।

सदन—

१४०० के लगभग । सम्भवतः १५वीं शताब्दी के आरम्भ में जन्मे थे । यह सिन्ध के रहने वाले थे । जनश्रुति के अनुसार जातिके कसाई थे । बड़े होने पर इन्हें अपने घृणित व्यवसाय पर संताप हुआ और कुछ दिनों पश्चात् यह पहुँचे हुए ज्ञानी बन गये । इनके रचे दोहों में से दो एक ग्रन्थ साहब में मिलते हैं ।

नामदेव—

जन्म १४०० से ३० तक के लगभग । महाराष्ट्र के रहने वाले थे, पण्ढरपूर के विठोवा के पूजक थे । जनश्रुति के अनुसार यह जाति के दरजी थे, परन्तु बचपन ही से ध्यान इनका सन्तसमागम और हरि-कथा में था । युवावस्था में नामदेव को बुरी लत पड़ गई और इनका समय बुरी बातों में बीतने लगा । कुछ दिन पश्चात् इन्हें अपने पतन पर रोना आया और तब से यह परमात्मा के पक्के भक्त बन गये । इनकी मराठी कविता प्रसिद्ध है; परन्तु हिन्दी में भी इन्होंने कविता की थी, जिसका कुछ अंश ग्रन्थ साहब में मिलता है । नामदेव प्रभावशाली भक्त थे और कहा जाता है कि उत्तर भारत में होने वाली तात्कालिक धार्मिक जागृति में इनका बड़ा हाथ था ।

रामानन्द—

जिसका समय १४०० से १४६०* तक बताया जाता है एक तपस्वी साधु था, जिसने १४३० के लगभग इस बात का उपदेश किया कि अविनाशी परमात्मा की राम के रूप में पूजा करनी उचित है, राम ही जीव को भवसागर से तार सकता है और उसकी प्राप्ति भक्ति के अतिरिक्त और किसी भी उपाय से सम्भव नहीं। प्राचीन भक्तों ने रामानन्द के लिये राजपथ प्रस्तुत कर दिया था, इसलिये क्षेत्र में उतरते ही रामानन्द को वह सफलता हुई जिससे उस समय के धर्मध्वजियों को दांतों तले अंगुली दबानी पड़ी। रामानन्द ने काशी को अपने धर्मप्रचार का केन्द्र बनाया और चारों ओर अपने शिष्यवर्ग को भेज देश में वैष्णवधर्म की विजय पताका फहराई।

लेखक की दृष्टि से रामानन्द का स्थान बहुत ऊंचा नहीं है। उसकी वाणी में मोहनी मन्त्र को ढूंढना वृथा है। उस में प्रतिभा का आलोक भी नहीं दमकता। आदि ग्रन्थ में उसकी वाणी के कुछ नमूने हैं। रामानन्द मन्दिर में जाने का प्रत्याख्यान करता है, परन्तु इस से यह बात सिद्ध नहीं होती कि वह प्रतिमापूजन का कट्टर विरोधी था, अथवा इस बात के विरुद्ध उसने कभी कुछ

---

*Sir Charles Eliot लिखते हैं—

'यद्यपि भारत की सारी जन श्रुतियां इस विषय में एकमत हैं कि रामानन्द १२९९ ए. डी (४४०० कलि) में उत्पन्न हुआ था, तथापि हमारा जो कुछ भी उसके और उसके शिष्यों के विषय में ज्ञान है उससे यह सम्भावना होती है कि वह (उपर्युक्त काल से) एक सौ वर्ष के लगभग पीछे उत्पन्न हुआ था। यह मानने पर कि रामानन्द, कबीर तथा नानक क्रमशः १४००, १४५०, १५०० में उत्पन्न हुए थे तात्कालिक युग में होने वाले विचारों के विकास का इतिहास भी स्पष्ट हो जाता है।

Hinduism and Buddhism भाग ३ पृष्ठ २४२

प्रचार ही किया था। निःसन्देह उसका राम सब जगह है, परन्तु घर उसका मनुष्य के * अंगुष्ठ मात्र हृदय में है। उसे पाने का सच्चा मन्दिर वही है। उसके मत में धर्म का सार राम में है, क्योंकि राम में आचार की पराकाष्ठा है और व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास है।

वर्ण व्यवस्था में उसकी आस्था नहीं थी। उसके शिष्यों में बहुत से शूद्र थे और कुछ अन्त्यज भी। परन्तु उसने वर्णव्यवस्था का प्रत्याख्यान कभी नहीं किया।

† हिन्दी साहित्य की दृष्टि से रामानन्दी मत का महत्त्व इस बात में है कि उसका समग्र साहित्य हिन्दी भाषा में है। रामानन्द ने संस्कृत की उपेक्षा कर एकान्ततः हिन्दी का सहारा लिया और उसी में अपने संप्रदाय का प्रचार किया।

---

* अंगुष्ठ मात्रः तुरुषः सदा जनानां हृदये सनिविषः। उपनिषत्।
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥गीता॥

† "रामावत सम्प्रदाय की एक भारी विशेषता है, और वह है उसका हिन्दुस्तान के लोक साधारणसाहित्य पर प्रभाव, जो १४वीं और १६वीं सदी में धार्मिक कविता के रूप में प्रस्फुटित होता है। इन कविताओं में बहुत सी उच्च कोटि की हैं और उनका अब भी जनता के धर्म तथा आचार पर भारी प्रभाव पड़ रहा है। यूरोपीय विद्वानों का ध्यान अभी धार्मिक कविता की उस पावनी धारा की ओर आकृष्ट ही हुआ है जो तात्कालिक भारत की सभी भाषाओं में समानरूप से वही थी और जिसका जनता पर सीधा प्रभाव पड़ रहा था। यह बात एकान्ततः नवीन नहीं थी। बुद्धों के गीत, यहांतक कि ऋग्वेद के सूक्त भी अपने अपने युग में भाषा के गीत थे। दक्षिण में देवरम तथा नाटायिरम के गीत भी चोखे प्राचीन हैं, परन्तु उत्तर भारत में, यद्यपि थोड़ा बहुत प्राकृत साहित्य जीवित बचा है, संस्कृत को ही बहुत जमाने तक धर्म की भाषा समझा जाता रहा है।

‡रामानन्दी संप्रदाय का मूल—

रामानन्दियों का विश्वास है कि रामानन्द श्री वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी थे, जिसके प्रवर्तक थे रामानुजाचार्य। कुछ दिन इस संप्रदाय में रहने के पश्चात् रामानन्द इसके कठोर नियमों से क्षुब्ध हो गए और उन्हों ने अपना एक पन्थ पंथक् स्थापित कर लिया। परन्तु रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत में उनकी आस्था बराबर वैसी ही बनी रही। उपर्युक्त बातों पर भक्तमाल के लेखक नाभाजी ने संकेत किया है। इनका काल रामानन्द के काल से १५० वर्ष पश्चात् बताया जाता है।

तुलसी की रामायण में, जो रामानन्द की मृत्यु से लगभग १०० वर्ष पश्चात् लिखी गई थी, उपर्युक्त बातों का जिक्र नहीं मिलता।

फलतः रामानन्द के विषय में इन बातों को निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। क्योंकि रामानन्द ने स्वयं कोई विस्तृत ग्रन्थ नहीं लिखा और नाही उसके निज शिष्यों में से किसी की कविता आज

इसमें सन्देह नहीं कि यहां भी भाषा के गीत विद्यमान थे, परन्तु उन्हें किसी धार्मिक नेता के द्वारा प्रकाशित होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ और इसीलिए वे जीवित न रह सके। परन्तु १४०० के लगभग यह सब कुछ बदल जाता है। यद्यपि रामानन्द अपने आप कोई निष्णात लेखक नहीं था तथापि उसने प्रबल शब्दों में भाषा के उपयोग के लिये अपनी अनुमति दी। रामानुज की भांति उसने स्वयं संस्कृत का उपयोग नहीं किया और नाही उसके उपयोग में अपनी स्वीकृति ही दी। जो कुछ भी टूटा फूटा ज्ञान हमारा उसके विषय में है उससे कहा कहा जा सकता है कि उसे घरेलू भाषा का उपयोग करने वाले साधारण मनुष्य चारों ओर से घेरे रहते थे।"

Hinduism and Buddhism भाग २ पृष्ठ २४४

‡ The Historical Position of Ramananda. J. H. Farcuhar. J. R. A. S. 1920.

पर्याप्त मात्र में मिलती है। इसलिये उसके मन्तव्यों को भली भांति समझने के लिये हमारे पास केवल एक साधन रह जाता है और वह है तुलसीदास की रामायण।

इसमें सन्देह नहीं कि रामानन्द के पट्टशिष्य कबीरदास ने खूब लिखा, मौलिक कविता की, और सत्य के अनमोल मोती सामने रक्खे। परन्तु कबीर और रामानन्द के सिद्धान्तों में पर्याप्त भेद है। फलतः कबीर की कविता में रामानन्द के सिद्धान्तों की छाया देखना अविवेक है। पीपाजी, रामदास तथा सेनाजी की कविता से भी इस विषय में यथेष्ट सहायता नहीं मिलती। फलतः तुलसी की रामायण ही एक ऐसा ग्रन्थ बच जाता है जिसमें रामानन्द के सिद्धान्तों का पूरा पूरा वर्णन मिल सकता है। परन्तु रामायण के सिद्धान्तों पर विवेचन करने से पहले संक्षेप में रामानुज के मंतव्यों को जान लेना उचित है।

रामानुज का मत—

रामानुज ने विशिष्टाद्वैत का प्रचार शंकर के एकान्त अद्वैत के प्रत्याख्यान के लिये किया था। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' को दोनों समान रूप से मानते हैं, परन्तु जहां शंकर जगत् और उसमें दीखने वाले भेदों को मायाजन्य विवर्त बताता है वहां रामानुज संसार तथा जीवों में दीखने वाले पारस्परिक भेदों को अनित्य परन्तु वास्तविक बताते हुए दोनों को एक ही ईश की दो विभूति सिद्ध करता है।

*रामानुज का ब्रह्म नारायण है; उसी का नाम विष्णु है और वही इस संप्रदाय का आराध्य देव है। नारायणरूप विष्णु के दर्शन में मोक्ष है और यह दर्शन केवल समाधियुक्त भक्ति से ही संपन्न हो सकता है। दूसरी ओर शंकर के मत में ब्रह्म चिद्रूप

---

* J. R. A. S. 1920 में सर जार्ज ग्रियर्सन तथा महाशय सीताराम के लेख। J. R. A. S. 1922 में J. N. Farquhar का 'The Historical Position of Ramananda.' नामक लेख।

है, उसमें व्यक्तित्व नहीं, उसमें उपाधि का लेश नहीं, वह एकान्ततः शुद्ध तथा निर्गुण है। रामानुज का ब्रह्म व्यक्तिरूप है, गुणों का निधान है। उसे निर्गुण बताना रूपक मात्र है। शंकर के ब्रह्म में लिङ्गादि का कोई भेद नहीं, परन्तु रामानुज के नारायण लक्ष्मी के प्रेमी तथा भर्ता हैं।

श्रीवैष्णव संप्रदाय, नारायण विष्णु की, उनकी पत्नी सहित पूजा करता है। उनके सब व्यूहों तथा अवतारों की आराधना करता है। इन अवतारों में से राम भी एक अवतार हैं। इस संप्रदाय के अनुयायी शिव अथवा अन्य किसी भी देव की पूजा नहीं करते, परन्तु विष्णु के साथ सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक देव को अपना वन्दनीय समझते हैं। इस संप्रदाय का आदि नाम श्रीवैष्णव संप्रदाय है। देवों में सब से बड़े देव नारायण हैं इसलिये इस पन्थ का मुख्य मंत्र 'ओम् नमो नारायण' है। इस संप्रदाय के अनुयायी तपस्वियों को 'त्रिदण्डी संन्यासी' के नाम से पुकारा जाता है।

तुलसीदास का मत उपर्युक्त मत से बहुत भिन्न है। उसके अनुसार सब देवों का देव राम है; उपनिषदों का समन्वय उसी में है। राम ही कलिकाल के बंधनों को दूर करता है। माया तथा संसार चक्र का अवसान उसी में है। तुलसी की रामायण में विशिष्टाद्वैत की विवेचना नहीं के तुल्य है।

रामानन्दियों का संप्रदाय 'श्री सम्प्रदाय' के नाम से विख्यात है। इस सम्प्रदाय का मुख्य मंत्र 'ओम् रामाय नमः' है। रामानन्दी साधु संन्यासी नहीं कहाते, प्रत्युत वैरागी अथवा साधु नाम से पुकारे जाते हैं।

रामानन्दी सम्प्रदाय की व्याख्या तुलसी रामायण में है। एक प्रकार से तुलसी रामायण को इस सम्प्रदाय की बाइबिल कहा जा सकता है। रामानुज के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों में से इसमें एक भी नहीं मिलता।

तुलसीदास का मत रामानन्द की अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह 'अध्यात्म रामायण' में मिलता है। रामानन्द और उनके गुरु राघवानन्द 'राम संप्रदाय' को मानने वाले तपस्वी थे और वह अध्यात्म रामायण को अपनी धर्म पुस्तक मानते थे। तुलसीदास ने अध्यात्मरामायण के सिद्धान्तों को साधारण समाज में जनाने के लिये अपनी हिन्दी रामायण रची। इस प्रतिज्ञा की निम्न लिखित बातों से पुष्टि होती है—

१—अध्यात्म रामायण तथा रामचरितमानस की शिक्षाओं में भारी समानता है।

२—अध्यात्म रामायण वाल्मीकिरामायण के आधार पर लिखी गई है। तुलसी रामायण पर भी यह बात लागू है।

३—अध्यात्म रामायण के अनुसार पहले पहल रामायणी कथा को महादेव ने पार्वती से कहा था। तुलसीदास जी इस बात को मानते हैं।

४—मौलिक कथा में सच्ची सीता रावण के हाथों चुराई जाती है। परन्तु अध्यात्मरामायण में रावण के उदय से पूर्व ही रामचन्द्र सच्ची सीता को अग्नि में प्रवेश करा देते हैं। लंका में पहुँचाई जाने वाली सीता मायिक हैं। सच्ची सीता तब तक प्रगट ही नहीं होती जब तक कि रावण की मृत्यु के अनन्तर सीता को अग्नि में प्रवेश नहीं कराया जाता। तुलसीदास इस बात को मानते हैं।

५—अध्यात्मरामायण का (बालक) राम अपने आप को माता के समक्ष विष्णु का अवतार सिद्ध करके फिर बालक का रूप धारण कर लेता है। तुलसी की रामायण में यह बात मिलती है।

६—रामानन्दी आज भी अध्यात्म रामायण को अपना पूज्य ग्रन्थ मानते हैं।

७—अध्यात्म रामायण में अगस्त्य संहिता का जिक्र आता

है। अध्यात्म रामायण के अनुयायी अगस्त्य संहिता को पूजाविधि के विषय में प्रमाण मानते थे। वही अगस्त्य संहिता (संस्कृत की) आज भी रामानन्दियों के मार्ग का संकेतदीप है।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जब स्वयं रामानन्द का और उस के अनुयायी तुलसीदास का रामानुज संप्रदाय से इतना अधिक पार्थक्य था तब इनके चलाए संप्रदाय के साथ रामानुज का सम्बन्ध कैसे हो गया? इसका उत्तर नीचे लिखी दो बातों में प्रतीत होता है:-

१—रामानुज का श्रीभाष्य इतनी उच्च कोटि का आस्तिक ग्रन्थ है कि रामानुजी संप्रदाय के अतिरिक्त और लोग भी उसका उपयोग करते हैं। सम्भव है १६वीं सदी में रामानन्दी इस ग्रन्थ का पठन पाठन करते रहे हों। रामानन्द ने वेदान्त का स्वयं कोई भाष्य नहीं लिखा, इसलिये सम्भव है उसके अनुयायियों ने रामानुज के श्रीभाष्य से ही अपना काम चलाना प्रारंभ कर दिया हो।

२—उत्तर भारत में उन दिनों भी रामानुजियों के झुण्ड के झुण्ड रामानन्दियों के अड़ौस पड़ौस में रहते थे। ऐसी दशा में स्वाभाविक था कि रामानन्दी अपने पड़ौसियों के साथ प्रेम उत्पन्न करके उनके धार्मिक आधार 'श्री भाष्य' से लाभ उठाते। आपस के इस आदान प्रदान में छोटे मोटे भेदभावों का दूर हो जाना स्वाभाविक था।

फलतः दोनों संप्रदायों के अनुयायी आपस के छोटे मोटे भेदों को भुलाकर ऐक्य के सूत्र में बंध गये और समान रूप से रामानुज को अपना गुरु मानने लगे।

परिणाम—

उपर्युक्त बातों से परिणाम निकाला जा सकता है कि दक्षिण भारत से आने वाला साधु राघवानन्द रामोपासक वैरागी था, वह वाल्मीकिरामायण, अध्यात्मरामायण तथा अगस्त्यसंहिता को अपनी धर्म पुस्तक मानता था, उसने १५वीं शताब्दी के आरम्भ

में रामानन्द को अपने धर्म की दीक्षा दी और नवीन संप्रदाय का सूत्रपात किया । १६वीं सदी के किन्हीं वर्षों में उत्तर भारत में रहने वाले रामानुजियों के साथ इस संप्रदाय का सख्य स्थापित हुआ और शनैः शनैः दोनों संप्रदाय मुख्य बातों में एक हो गये । यह सब काम नाभाजी से पहिले पूरे हो चुके थे और तब से आज तक उसी रूप में चले आ रहे हैं ।

रामानन्द का काल—

रामानन्द का काल १२२९ से १४१० तक के बीच में बताया जाता है । उसके गुरु तथा शिष्यों के काल की सहायता से उसके समय का किसी अंश में निर्णय हो सकता है ।

सिक्खों के ग्रन्थ साहब से पता चलता है कि सदन, वेनी, नामदेव, और त्रिलोचन रामानन्द से ठीक पहले हुए थे । इनमें सब से बड़े गुरु नामदेव का काल निश्चित सा हो चुका है । नामदेव महत्त्व शाली व्यक्ति थे और महाराष्ट्र में उनका जन्म हुआ था । उत्तर भारत में भी इनका यथेष्ट आदर था, क्योंकि पंजाबवर्ती घुमाना नामक स्थान में उनकी स्मृति में बनाए गये मन्दिर का अब भी उपयोग हो रहा है ।

महाराष्ट्र की वंशपरंपरा से उनके काल का निर्णय नहीं होता । जनश्रुति के अनुसार यह एक बार ज्ञानेश्वरी के लेखक ज्ञानेश्वर महाराज से मिले थे । गीता की ज्ञानेश्वरी नामक टीका १२९० में लिखी गई थी । सर भाण्डारकर ने दोनों महात्माओं की मराठी का तुलनात्मक अध्ययन करके परिणाम निकाला है कि नामदेव की मराठी ज्ञानेश्वरी की मराठी से कम से कम १०० वर्ष पश्चात् लिखी गई है । नामदेव बार बार मूर्ति पूजा तथा मुसलमानों का जिक्र करते हैं । नामदेव अपनी मराठी कविता में एक स्थान पर ज्ञानेश्वर महाराज को प्राचीन गुरु भी बताते हैं ।

नामदेव की हिन्दी कविता को बालेश्वरप्रसाद ने अपने

'सन्तवाणी संग्रह' में १४२३ के लगभग रक्खा है। फलतः नामदेवका काल १४०० से १४३० के आस पास कहीं मानना चाहिये। यदि नामदेव साधु रामानन्द से ठीक पहले हुआ था तो रामानन्द के काल को १४२५ से १४३० तक अथवा इसके कहीं आसपास मानने में आपत्ति नहीं दीखती।

२—गगरौङ्गढ के राजा पीपा, रामानन्द के शिष्य थे। Macaliffe के अनुसार उनका जन्म काल १४२५ है। पीपा ने २० वर्ष की अवस्था में (१४४५ के लगभग) रामानन्द से दीक्षा ली होगी। इससे भी उपर्युक्त परिणाम की पुष्टि होती है।

३—कबीर की मृत्यु १५१८ में होनी संभावित है। परन्तु कबीर के जन्म संवत् के विषय में मतभेद है। कुछ विद्वानों के मत में कबीर का जन्म १३९९ में हुआ था, परन्तु दूसरों के मत में वह १४४० में उत्पन्न हुआ था। दोनों में पिछला मत युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि इसके अनुसार कबीर को ७० वर्ष की अवस्था मिल जाती है। यदि कबीर के बचपन ही में रामानन्द का चेला बनने की बात सत्य है तो १४५५ में अथवा उसके कहीं आसपास उसका रामानन्द के साथ साक्षात्कार हुआ होगा, जब कि कबीर अभी केवल १५ वर्ष का किशोर था। इस बात से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है।

४—उदयपुर के राजकीय लेखों से सिद्ध हो गया है कि मीराबाई मेवार रियासत के राणा कुम्भ के ज्येष्ठ पुत्र की धर्मपत्नी थी। परन्तु राजगद्दी पर बैठने से पहले ही पतिदेव का अवसान हो गया और मीरा अकेली रह गई। १४६९ में राणा के पुत्रों में से एक ने राणा को मार राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। नये राणा ने मीराबाई के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया, जिससे खिन्न हो मीराबाई ने चित्तौड़ त्याग रामानन्द के शिष्य रयदास (चमार) से वैराग्य की दीक्षा ले ली। मीराबाई अपने

गीतों में दो बार रयदास का आदर के साथ नाम लेती है। यदि यह मान लिया जाय कि मीराबाई ने १४७० के लगभग चित्तौड़ गढ़ छोड़ा तो परिणाम निकलता है कि भक्त रयदास १४६० तक अपना स्वतन्त्र पथ चला ख्यातनामा हो चुके थे और उस समय रामानन्द की मृत्यु हो चुकी थी।

फलतः यदि १४३० से १४६० तक रामानन्द का भक्ति प्रचारकाल मान लिया जाय तो इस समय का सारा इतिहास ठीक बैठ जाता है। ऐसी अवस्था में कबीर को अपने गुरु की मृत्यु के पश्चात् १४६० से १५१८ तक ४८ वर्ष उपदेश करने के लिये मिल जाते हैं।

परिणाम—

उपर्युक्त संकेतों से परिणाम निकलता है कि संभवतः रामानन्द का जन्म १४०० के लगभग हुआ हो, १४३० के लगभग उन्होंने उपदेश करना आरंभ किया हो, और १४६० के आस पास उनकी मृत्यु हुई हो।

रामानन्द के शिष्य—

जनश्रुति के अनुसार रामानन्द के बारह शिष्य थे। इनमें से कुछ की कविता अब भी मिलती है। पीपा गगरौङ्गढ का राजा था और संभवतः १४२५ में उत्पन्न हुआ था। रामानन्द से दीक्षा लेने के उपरान्त उसने गद्दी छोड़ दी और भिक्षु का रूप धारण करके जीवन यात्रा पूरी की।

२ धन्ना—

जाति का जाट था, संभवतः १४२५ में उत्पन्न हुआ था। इसके विषय में अधिक ज्ञात नहीं है।

३ सेन—

रीवां के राजा का नाई था। इसके जीवन के विषय में कुछ पता नहीं है। इन तीनों की कविता के कुछ नमूने आदि ग्रन्थ में मिलते हैं।

४ भवानन्द—

ने अमृतधार नाम की पुस्तक के १४ अध्यायों में वेदान्त-दर्शन के तत्त्व का मार्मिक चित्र खींचा है। पुस्तक मनोरम तथा विद्वत्ता पूर्ण है।

५ रयदास—

जाति का चमार था, रामानन्द से धर्म दीक्षा लेने के पश्चात प्रख्यात भक्त बन गया। आदि ग्रन्थ में उसकी ३० के लगभग कविताएं संगृहीत हैं।

अध्याय ५

प्राचीन भक्त कवि—कबीर।
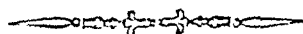
कबरीशाद्वले मत्तं दृष्ट्वा लोकमनोमृगम्।
कबीरः सहसाकर्ष्टुं चकमे भावतन्तुना ॥

कबीर १४४० *

'ओह ! क्या ही आश्चर्य का पुतला यह कबीर था ? एक तुच्छातितुच्छ मुसलमान जुलाहा,—जिसने चालाकी से वैष्णव संप्रदाय में प्रवेश पाया, हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जिसको घृणा की दृष्टि से देखते थे, एक मुसलमान बादशाह ने जिसको अपने हाथों सताया, बनारस के पुजारी जिसके पीछे हाथ धोकर पड़े रहते थे, अदम्य उत्साह के साथ हिन्दू और मुसलमान दोनों ही के विरोध में अपने आपको खड़ा करता है, और अन्त में विजय प्राप्त करता है। दोनों धर्मों के निर्बल पहलुओं पर उसने आक्रमण किये, दोनों ही के प्रकारवाद तथा कर्मठता का उसने प्रत्याख्यान किया, दोनों ही के ऊपर उसने अपनी विजय वैजयन्ती फहराई, और दोनों धर्मों के अनुयायियों में से लाखों को अपना चेला बनाया। उसने अद्वैतवाद ही की स्थापना नहीं की, प्रत्युत सिक्ख धर्म के संस्थापक गुरु नानकदेव जी को धर्म की दीक्षा दे अपना चेला भी बनाया' †

सर जार्ज ग्रियर्सन।

---

* Westcott, Burn तथा रवीन्द्रनाथ १४४० A. D. मानते हैं, इससे डा० Farquhar सहमत हैं। J. R. A. S. 1920 'The Historical Position of Ramananda.'

† J. R. A. S. 1918 'The Bijak of Kabir.

भारतीय धर्म तथा भावयोग के इतिहास में कबीर का स्थान बहुत ऊंचा है। बनारस में अथवा उसके आस पास किसी ग्राम में मुसलमान माता पिता से उत्पन्न हो वह किशोरावस्था में ही स्वामी रामानन्द का शिष्य बनने की सोचने लगा था। रामानन्द ने उत्तरीय भारत के हिन्दू धर्म में वही सुधार किये थे जो बारहवीं सदी में रामानुज ने दक्षिणभारत के हिन्दू धर्म में किये थे। रामानन्द और रामानुज के धार्मिक आन्दोलनों का जन्म हिन्दुओं के प्रकारप्राधान्यवाद तथा वेदान्तियों के एकान्त अद्वैतवाद और मायावाद को दबाने के लिये हुआ था। हिन्दुओं की कर्मठता शुष्क थी और निर्जीव थी। वेदान्तियों का अद्वैत नीरस था और कर्कश था। उसमें हृदय का स्पन्दन न था, प्रेम का उन्माद न था, भाव की ऊंची उड़ानें न थीं, और आशा का विकास न था। उसमें था हृदय के उल्लास और विलास का दमन। यह था निरभ्र काला अंबर जिसमें विद्युत् न थी, प्रकाश न था जीवन स्तब्ध था, भाषा मौन थी। रामानुजने विष्णु के रूप में परमात्मा की पूजा का विधान कर निर्जीव ज्ञानवाद में भावयोग का स्रोत बहाया। एकान्तिक धर्मों में इस प्रकार के सुधारात्मक आन्दोलनों का होना आवश्यक होता है।

कबीर के समय में भारतीय धर्म का क्या स्वरूप था?

यद्यपि भक्तिवाद हिन्दुओं के लिये नई वस्तु न थी, क्योंकि भगवद्गीता में उसका विस्तृत वर्णन आता है, तथापि १२ वीं सदी से लेकर १७ वीं सदी तक विकसित होने वाले भक्तिवाद में एक प्रकार की विशेषता थी। उसमें ईश्वर प्राप्ति के भिन्न भिन्न साधनों का समन्वय था। रामानन्द का हृदय विशाल था। उसके दिल में अपने मन्तव्यों का प्रचार करने की

कबीर के धर्म में दो या तीन संप्रदायों का सार है।

लगी हुई थी । *उसका जन्म ऐसे युग में हुआ था जब कि फारस के भावयोगी अत्तार, सादी, जलालुद्दीन और हाफिज़ का भारत पर तीव्र प्रभाव पड़ रहा था । इस प्रभाव से रामानन्द अछूता नहीं बचा । उसने अपने मन में ठान लिया कि फारसी कवियों के भावयोग का ब्राह्मणों के शुष्क अद्वैतवाद में रस निचोड़ कर उसे भावुक तथा रसीला बना देना उसके जीवन का ध्येय होगा । जिस प्रकार ज्यू (Jew) और ग्रीक लोगों की सभ्यताओं ने मिल कर एक विशेष प्रकार का अभिराम रूप धारण किया था उसी प्रकार रामानन्द और कबीर की भक्ति में दो या तीन संप्रदायों के सारों ने मिल कर एक विशेष प्रकार के सौन्दर्य को उत्पन्न किया था ।

१५वीं सदी में भक्तिसम्बन्धी सर्वाङ्गीकारवाद पूर्णरूपेण विकसित हो चुका था । सूफी और ब्राह्मण लोगों के शास्त्रार्थ होते थे और दोनों संप्रदायों के अगुआ रामानन्द के पास आया जाया करते थे ।

कबीर का चालाकी से रामानन्द की शिष्य मण्डली में प्रवेश ।

भावुक कबीर बचपन ही से रामानन्द का शिष्य बनने की सोच रहा था । परन्तु वह अपने इस उद्देश्य को बहुत दिनों तक पूरा करने में असमर्थ रहा । अन्त में उसने चालाकी से काम निकालने की सोची । एक दिन प्रातः काल अंधेरे ही वह रामानन्द के मार्ग में लेट गया । अनजान में रामानन्द का पैर उसके साथ ठुकरा गया और वह 'राम राम' कह कर पश्चात्ताप करने लगे । कबीर ने उनका आंचल पकड़ लिया और उन्हें दीक्षा देने पर बाध्य किया । रामानन्द कबीर की धार्मिक निष्ठा पर गद्गद होगये और उन्होंने उसे अपना चेला बना लिया । जबतक कबीर जिया उसने रामानन्द के गुण गाये ।

* रवीन्द्रनाथ रचित Kabir's Poems. की भूमिका ।

कबीर तक्की साहब का चेला नहीं था।

कुछ लोग कहते हैं कि कबीर झांसी निवासी सूफी पीर तक्की साहब का भी चेला था। परन्तु निम्न लिखित रमैनी से दोनों महानुभावों की समकालीनता के सिद्ध होने पर भी तक्की साहब की गुरुता व्यक्त नहीं हो पाती।

नाना रूप वर्ण यक कीन्हा। चारि वर्ण उन काहु न चीन्हा॥
नष्ट गये करता नहीं चीन्हा। नष्ट गये औरहिं मन दीन्हा॥
नष्ट गये जिन वेद बखाना। वेद पढा पै भेद न जाना॥
नाना नाच नचाइ कै, नाचै नट के वेश।
घट घट अविनाशी वसै, सुनहु तकी तुम शेप॥

रमैनी ६३।

सम्भव है कबीर ने तक्की साहब से भी कुछ सीखा हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसने उन्हें गुरु के उच्च आसन पर कभी नहीं बैठाया।

कबीर का जीवन।

कबीर के जीवनचरित के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त परिमित है। उसने अपने आपको किस प्रकार उच्च बनाया, उसे कौन कौन से कष्ट उठाने पड़े, उसने किन किन नियमों की साधना की, यह सब बातें अतीत के गर्भ में हैं। सम्भव है वह बहुत दिनों तक रामानन्द का अन्तेवासी रहा हो और उसने सूफी तथा ब्राह्मणों के साथ होने वाले उनके शास्त्रार्थों को सुना हो। वह सूफी और ब्राह्मणों के पारिभाषिक शब्दों से सुतरां परिचित है, इस बात से अनुमान होता है कि उसने हिन्दुओं तथा सूफियों की कुलपरम्परागत विद्या को पढ़ा था। परन्तु इसमें तनिक सन्देह नहीं कि उसने इन लोगों की तपस्या को कभी नहीं अपनाया और नाही जीवन संग्राम से विरत हो कभी जंगल ही की राह ली। वह कहता है—

केसन कहा विगाड़िया जौ मूंडो सौ वार।
मन को क्यों नहिं मूंडिये, जा में विषय विकार॥

कबीर की जीविका कपड़ा बुनना था।

कबीर जीवनकी ज्योति का चितेरा था, अन्तःकरण की भावमयी सरिता का स्नातक था। वह आदर्श कवि और भावुक गायक था। वृत्ति उसकी वही थी जो उसके मां वाप की, अर्थात् कपड़ा बुनना और उसे वाजार में वेचना*।

कबीर गृहस्थी था।

कबीर ने विवाह किया, सन्तान उत्पन्न की, और संसार के सर्वोत्तम सुख का आस्वादन किया। उसका हृदय वत्सलरस से परिपूर्ण था। फलतः उसका प्रेम रुचिर है, रमणी का ललित पाणी है, माता का वात्सल्य चुंबन है। उसकी एकता में इस्लाम का लावण्य है और वेदान्तियों का शैत्य है। उसकी दृष्टि में मानवजीवन प्रेम, आनन्द तथा सौन्दर्य का स्रोत है†। वह मनुष्य की इच्छाओं का, उसके उत्पतन और पतन का नाटक है। कबीर का मनुष्य परमात्मा की सर्वश्रेष्ठ प्रतिमा है।‡

१५ वीं सदी में और वनारस जैसे स्थान में ऐसे उदात्त, निर्भीक

---

* "तम्बू बनाने वाले पाल, जूता गांठने वाले वोइहमे, और फीते तैयार करने वाले टर्स्टिजीन की भांति वह प्रतिभा तथा श्रम को मिलाना जानता था; शारीरिक श्रम उसके भावमय जीवन में सहायक था न कि प्रतिरोधक"।

रवीन्द्रनाथ रचित Kabir's Poems. की भूमिका।

†—लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी होगई लाल॥

‡—निराकार की आरसी साधौ ही की देह।
लखा जो चाहे अलख को इनही में लखि लेह॥

कबीर पर अभियोग। तथा विशुद्ध विचारों का प्रकाशन आश्चर्य की बात है। कट्टर मुसलमान और कठोर हिन्दू दोनों ही की दृष्टि में कबीर खटकने लगा।‡ वह पाखण्ड का विरोधी था। प्रकार वाद का सहजशत्रु था। धर्मान्ध लोगों ने उसे जादूगर प्रसिद्ध करते हुए समाज के लिये भयानक ठहराया। परन्तु कबीर का जीवन था विद्रोह, उसके प्राण थे, स्वातन्त्र्य, समानता और आत्मीयता। ऐसे जीवन के संमुख कर्मठता के ढकोंसले कब तक ठहर सकते थे।

काबा और कैलाश स्थूल बुद्धियों के लिये हैं, न कि पण्डितों के लिये। उनमें कबीर का राम कैसे समाता? वह तो सर्वत्र है, बाहर है और भीतर है। जिसे भीतर नहीं मिला उसे बाहर कहां से मिलेगा? मन्दिर, मसजिद प्रतिमा, तीर्थ, शास्त्र, हदीस, पुरोहित सब के सब कबीर की दृष्टि में स्वाराज्य पथ के लुटेरे थे। वह कहता है—

जिन दुनिया में रची मजीद। झूठो रोजा झूठी ईद।
करता किरतिम बाजी लाई। हिन्दू तुरक दुइ राह चलाई॥

ऐसी खरी समालोचना को कौन सा चर्च सह सकता है? फिर कबीर तो पुरोहितों के गढ बनारस में रहता था।

कबीर को देश निकला। निदान उसे सिकन्दर लोदी के न्यायालय में ले जा उस पर जादू टोने का अभियोग चलाया गया। परंतु लोदी बुद्धिमान् बादशाह था, उसने कबीर को

---

‡—संतों देखत जग बौराना।
सांच कहो तो मारन धावे झूठे जग पतियाना।
हिन्दू कहै मोहि राम पियारा तुरक कहै रहिमाना।
आपुस में दोउ लरि लरि मूवे मर्म न काहू जाना।
कहै कबीर सुनो हो संतो ई सब भर्म भुलाना।
केतिक कहौं कहा नहिं मानै आपहि आप समाना॥ शब्द ४।

बनारस से निकाल देने पर ही बात को बस कर दिया । यह घटना १४९५ के लगभग हुई थी, इसके पश्चात् कबीर की जीवन-लीला पर एक प्रकार का परदा पड़ जाता है ।

कबीर पर कष्ट।

१४९५ में उसकी ६० वर्ष के लगभग अवस्था रही होगी । बनारस से निकाल दिया जाने पर वह उत्तर भारत में जगह जगह उपदेश करता फिरा । इस समय उसके जीवन की दारुण संध्या थी । मित्र तथा कुटुम्ब वियोग ने उसकी आन्तरिक वीणा के तारों को ढीला कर दिया था । उसकी शक्ति क्षीण हो गई थी । वह कहता है—

> कबिरा जंत्र न बाजई टूटि गये सब तार ।
> जंत्र बिचारा क्या करे चला बजावन हार ॥

इसमें कबीर का गंभीर रुदन है, शोक है, उसकी असीम पीडा है । 'प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कुन्तति जीवितम्" वाला मामला है । कुटुम्ब का वियोग प्रखर होता जाता है । कबीर तत्त्व-ज्ञान की घूंट में निर्वाण ढूंढता है—

> कहा गयो तन बीछुरे, दूरि बसे जे बास ।
> नैना ही अन्तर पड़ा, प्राण तुम्हारे पास ॥

तत्त्वनिष्ठा हृदय के आवेग को कब तक रोक सकती है ? प्रचण्ड धारा के सामने बालू की दीवार कब तक ठहर सकती है ? बन्धु-वियोग के क्राथ में कबीर का आत्मा खौल उठता है:—

> मारी मरे कुसंग की केरा के ढिग बेर ।
> वह हालै वह अंग चिरै विधि ने संग निबेर ॥

कबीर का भाग्यवाद.

चतुर्थ चरण में कितना दर्द है ? कितनी असीम वेदना है ? अकारण ही छाया देने वाला केला बेरी के कांटों से चिरता जारहा है, इस में केले का हाथ नहीं, विधि का हाथ है, अन्धे भाग्य की धांधली है । भाग्यवाद का इससे उत्कृष्ट चित्रण कहां मिलेगा ? सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखक

Thomas Hardy की Tess से कबीर का बेला किस बात में कम है ? कबीर भाग्यवाद के मूल में पहुँचा है। वह जीवन के ध्रुव प्रदेश में पहुँच अपनी नौका को आगे बढ़ाना चाहता है, पर यह काम असंभव है। ध्रुव देशीय समुद्र निर्जीव है, उसकी छाती में रुधिर की उष्ण धारा नहीं बहती। उसका हृदय हिम की उत्तुङ्ग शिलाओं से अंटा हुआ है। उसमें नौका का आगे खे ले जाना असम्भव है। पाप करो, पुण्य करो, पहुँचना सब को एक ही ध्येय पर है, क्योंकि सब प्रकार के जीवन का परिणाम 'मौन है' अनन्त 'नीरवता' है। हो भी क्यों न ? जब कि भलाई और बुराई का भेद वास्तविक नहीं, प्रत्युत कल्पित है।

भाग्यवाद को मानते हुए भी कबीर जीवन के युद्ध क्षेत्र में डटा रहा।

रंज और गंज का मिलन ही आनन्द है। धर्म का रहस्य यही है। जीवन का चरम निष्कर्ष भी यही है। परन्तु भाग्यवाद की इस कठोरता से कबीर को निराशा नहीं हुई। वह युद्धक्षेत्र में डटा रहा। और अन्त तक 'अपने धनी के हेत' जूझता रहा।

> सूरा सोइ सराहिये, लडै धनी के हेत।
> पुरजा पुरजा होइ रहै, तऊ न छांडै खेत॥
> सूरा सोइ सराहिये, अङ्ग न पहिरे लोह।
> जूझै सब बन्द खोलिकै छांडै तन का मोह॥

ऊपर के दोहों में कबीर की अजेय श्रद्धा और अदम्य उत्साह प्रतिफलित हैं। उसके क्षीण कंकाल की छवि चमचमा रही है। 'छवि और आच्छादन' का समर होता रहा। तटिनी की प्रचण्ड धारा तटों को तोड़ती रही। अन्त में जीवन की पावनी सरिता 'मर्मर' के अविनाशी स्वर में मौन हो गई। कबीर सदा के लिये बूढा हो गया और १५१८ में गोरखपुर के समीप मगहर नामक स्थान में उसने इस लोक को अन्तिम नमस्कार किया।

कहा जाता है कि कबीर के मरने पर उसके शव के लिये

हिन्दू और मुसलमानों का परस्पर झगड़ा हुआ
अन्त समय में भी था। मुसलमान शव को दफनाना चाहते थे और
कबीर मुसलमान और हिन्दू उसे जलाना चाहते थे। झगड़ा बढ़ ही
हिन्दू दोनोंके काम आया रहा था कि कबीर दीख पड़े और बोले 'शव के
ऊपर का कफन उतारो'। लोगों ने वैसा किया।
वे आश्चर्य से अवाक् रह गये। शय्या पर शव नहीं, प्रत्युत पुष्पों का एक ढेर था। आधे फूल हिन्दुओं ने बनारस में रक्खे और वहां कबीरचौरा बनाया। आधे फूल मुसलमानों ने मगहर में गाड़ दिये। इस प्रकार अन्त समय में भी कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही के काम आया।

कबीर के प्रेम का स्वरूप—

यह तत वह तत एक है, एक प्राण दुइ गात।
अपने जिय से जानिये, मेरे जिय की बात ॥१॥
उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिनके पास ॥२॥
भारी कहूँ तो बहु डरूं, हलका कहूं तो झीठ।
मैं क्या जानूं पीव को, नैना कछू न दीठ ॥३॥
जो देखै सो कहै नहीं, कहै सो देखे नाहिं।
सुनै सो समझावै नहीं, रसना दृग श्रुति काहि ॥४॥

उपर्युक्त दोहों में कबीर का प्रेम उसी के शब्दों में दिखाया गया है। हम इन दोहों के आशय को सरल शब्दों में इस प्रकार रख सकते हैं—

(अ) जीवित जगत् के अन्तः प्रवाह में बहने वाला तत्त्व एक
है। प्रतीयमान भेद उपाधिकृत हैं, वास्तविक नहीं।
व्यक्ति और उपाधि के सत्य होने पर भी तज्जन्य भेद यथार्थ
विश्वात्मा एक हैं। नहीं है। उपाधि की सत्ता त्रिकालाबाधित न
होने पर भी किंचित् काल के लिये सत्य अवश्य

है। प्रस्तुत सिद्धान्त के अनुसार सत्य का लक्षण त्रिकालाबाधिता नहीं, प्रत्युत सत्तामात्र ठहरता है।

यथार्थ धर्म।

जीवन तत्त्व की एकता मान लेने पर धर्म का सार स्पष्ट हो जाता है। ऐक्यवादी कबीर 'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः' से आगे बढ़ 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' में अपने जीवन स्रोत को खोजता है। यही धर्म का यथार्थ लक्षण है।

जीव परमात्मा का अंश है।

प्रत्यक्ष जीवनतत्त्व की एकता को सिद्ध कर कबीर जीव और परमात्मा के ऐक्य को सिद्ध करता है। 'तिनका तिनका से मिला तिनका तिनके पास' में यही भाव व्यक्त किया गया है। जीव परमात्मा का अंश है। कभी कभी उसे ईश का प्रतिफलन भी बताया गया है। परन्तु वह मत गौण है। प्रतिफलन में वास्तविकता नहीं होती और जहां वास्तविक सत्ता नहीं वहां प्रेम का उद्भव असंभव है। आत्मा तथा परमात्मा को एकान्ततः एक मानने पर, अथवा जीव को परमात्मा का कल्पित प्रतिबिम्ब मात्र मानने पर भक्तिवाद की आधार शिला डगामगा जाती है, विशेषतः उस भक्तिवाद की जिसमें परमात्माको व्यक्ति का रूप देकर उस की प्रणयी, सहचर, गुरु,तथा पतिके रूप में आराधना की जाती है।

(इ) आराध्य और आराधक के पारस्परिक संमिलन में आराधक का व्यक्तित्व नहीं नष्ट होता।

कबीर का मोक्ष विधेयात्मक अथवा सविषय है।

फलतः कबीर के मत में मोक्ष निषेधात्मक नहीं, प्रत्युत विधेयात्मक विनोदकेलि है। 'तिनका तिनका से मिला तिनका तिनके पास' से मोक्ष की विधेयात्मकता पर खासा प्रकाश पड़ता है। दूसरे शब्दों में कबीर न्यायादि शास्त्रों का खण्डन करता हुआ मीमांसकों के समान—

'वरं वृन्दावनेऽरण्ये शृगालत्वमवाप्नुयाम् ।

नच निर्विषयां मुक्तिं मन्तुमर्हसि गौतम ॥ न्यायकुसुमाञ्जलिः के द्वारा सविषय मोक्ष की घोषणा करता है। मोक्ष की निर्विषयता में मोक्षभागी की निर्विषयता स्वयंसिद्ध है, और इसी बात पर कबीर और उसके अनुयायी भक्त का प्राचीन शास्त्रकारों के साथ झगड़ा है। कबीर सांसारिक दशा में 'मित्रों की नयन पुतलियों पर सोना चाहता है' और मोक्ष दशा में राम के साथ विश्वक्रीडा करना चाहता है। उसके प्रत्येक शब्द में आशा की गूंज है, और विलास का अभिसार है। उसके प्रत्येक श्वास में प्रेम का सौरभ है और वासना का राग है। उसकी प्रत्येक स्नायु में कर्मण्यता की स्फूर्ति है और उत्साह की विद्युत् है। कबीर के मत में और एकान्त संन्यास में यही भेद है।

कबीर परमात्मा को*प्रणयी,†पति तथा‡गुरु के रूप में भजता है। कबीर परमात्मा उसकी भावना प्रेममयी है, स्वर्ग का सुगन्धित को प्रणयी सहचर उच्छ्वास है। कबीर की दुनिया स्वर्गधाम का टूटा आदि के रूप में हुआ एक टुकड़ा है जिस पर वह और उसका प्रणयी याद करता है।

---

* अंखियां तो झांई परी, पन्थ निहार निहार।
जीहड़िया छाला पड़ा, नाम पुकार पुकार ॥
नैनो अन्तर आव तू, नैनों झांपि तोहि लेव।
ना मैं देखों और को, ना तोहि देखन देव ॥

† नैनों की करि कोठरी, पुतरी पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारिकै, पिय को लिया रिझाय ॥
परवत परवत मैं फिरी, नैन गंवायो रोय।
सौ बूटी पायो नहीं, जाते जीवन होय ॥

‡ जब मैं था तब गुरु नहीं, जब गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम गली अति सांकरी, तामें दो न समाहिं ॥

Possessing and possessed by all that is
Within that calm circumference of bliss,
And by each other till to love and live
Be one........ .. . .. shelley

बैठे हुए केलि करते हैं और संसार की किशोरावस्था का आनन्द लूटते हैं। प्रेम की इस आभा में विज्ञान का क्षेत्र रुचिर बन जाता है और उसमें समदृष्टि का आलोक खिल जाता है। कबीर का संसार प्रणयी की प्रणयलीला है, केलिक्रीडा है, उसके प्रमोद का उपवन है। इसमें भेद नहीं, रोकटोक नहीं, कुल परंपरागत रूढिवाद नहीं। यह है प्रेम का दरबार, रसिकों का अन्तःपुर, और मतवालों का रास मण्डल। इसमें 'प्राणों की बाजी' है। प्रणयी के विद्युन्मय स्पर्श से कबीर लोकान्तरित हो जाता है और

. . . .. . like a naked bride
Glowing at once with love and loveliness
Blushes and trembles at its own excess.
shelley.

उसके संमुख हर प्रकार से झुक जाता है। उसकी दृष्टि में प्रेम परमात्मा का प्रकाश है, और आनन्द उसकी क्रिया है। उसका संसार प्रेम का प्रसार है, आनन्द का उल्लास है, आशा का क्षेत्र है, और विलास का उपवन है।

कबीर के जगत् में विकास है

विश्व प्रेम की इस आयोजना के अनुसार कबीर का जगत् उंन्नति शील जगत् ठहरता है। वह आगे की ओर बढ़ रहा है और नाना प्रकार के रूपों में विकसित हो रहा है। कबीर के प्रणयी का जादू भरा स्पर्श एक ही प्रकृति को नाना नाच नचा रहा है—

One spirit's plastic stress
Sweeps through the dull dense world. Shalley.

विकास की इस प्रक्रिया के वर्णन में कबीर विचित्र शैली तथा शब्दों का सहारा लेता है वह कहता है:—

अवधू सो योगी गुरु मेरा । जो ई पद को करै निवेरा ॥
तरुवर एक मूल विन ठाढ़ो, विन फूले फल लागा ।
शाखा पत्र कछू नहिं वाके, अष्ट गगन मुख जागा ॥
पौ विनु पत्र करह विनु तुम्बा, विनु जिह्वा गुण गाये ।
गावनहार के रूप न लेखा, सतगुरु होइ लखावै ॥
पच्छी खोज मीन को मारग, कहै कबीर दोउ भारी ।
अपरंपार पार पुरुषोत्तम, मूरति की वलिहारी ॥

शब्द २४

इस तरुवर का ठीक ठीक वर्णन करने के लिये कबीर भांति भांति के प्रयत्न करता है । वह अपनी भाषा तथा भावों को वदल वदल कर हमारे सामने लाता है । परन्तु मर्त्य भाषा अमर्त्य गीत के गाने में असमर्थ है ।

कबीर परमात्मा की कर्मण्यता पर वारवार वल देता है। उसका

कबीर का राम कर्मण्य है ।

परमात्मा Dynamo है । उसमें प्रेम की 'गुण' माल का काम दे रही है । कबीर के 'हिण्डोले' अपनी ऊंची झूलों के लिये प्रसिद्ध हैं ।

(ई)

भाव योग का मूल

भारी कहूं तो वहु डरूं, हलका कहूं तो झीठ ।
मैं क्या जानूं पीव को, नैना कछू न दीठ ॥
सोओं तो सपने मिले, जागों तो मन मांहि ।
लोचन राता सुधि हरी, विछुरत कवहूं नाहिं ॥

परमात्मा आंखों से दीखता नहीं, परन्तु फिर भी प्रेमी के पार्श्व में विराजमान है । परमात्मा सत्ता का सर्वश्रेष्ठ रूप है । इसलिये वह सत्ता की निम्नतर श्रेणियों से परे है और जीव के लिये अदृश्य है । परन्तु भावुक जीव तीव्र भावना द्वारा अपने आदि स्रोत को स्मरण करते करते अन्त में उसे अपने समीप खड़ा हुआ सम-

झने लगता है। तत्त्वरूप वस्तु की भावना उसको व्यक्ति का रूप देकर की जाती है। फलतः प्रणयी, सहचर, पति तथा गुरु के रूप में परमात्मा की भावना करते करते भक्त उसे वस्तुतः व्यक्ति के रूप में देखने लगता है। इस प्रकार आंखों से न दीखने के कारण भक्त परमात्मा से डरता है और उसे प्रतिक्षण अपने पार्श्व में खड़ा हुआ समझने के कारण उससे प्रेम भी करता है। इस भय और प्रेम ही में भावयोग अथवा छायावाद का जन्म है।*

भाव-योग के लक्षण

छायावादी प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व में परमात्मा की छाया को देखता है और उसकी अविरल मूकता में† एक प्रकार का सुरम्य गीत सुनता है। परमात्मविषयक भावना के उदय होते ही उसका दृष्टिकोण साधारण

---

* देखो The Idea of Personality in Islam.

† कवि वाह्य प्रकृति में अपनी प्रकृति के अनुरूप भावों को देखते हैं–"दूसरी ओर मनुष्य देख सकता है और हमारे आधुनिक कवियों की बहु संख्या ने ऐसा देखा भी है कि प्रकृति में वैराग्य नहीं, आततायिता नहीं, केवल वाह्यसौन्दर्य नहीं, प्रत्युत इनके स्थान में समवेदना, सहचारिता और अपरिमित धार्मिकता निवास करती हैं। क्योंकि प्रत्येक कवि अन्तरात्मा के स्वभाव विशेष के अनुरूप प्रकृति का अनुभव करता है इसलिये भावों का व्याख्यान करने वाली कविता में भी अनेक भेद हो जाते हैं जैसे कि वर्ड्सवर्थ की कविता, जिसकी प्रकृति धर्ममयी है और जो प्रकृति के साथ होने वाले साहचर्य के द्वारा प्रकृति के भीतर रहने वाले विश्वात्मा के साथ साहचर्य स्थापित करना चाहता था, शैले की कविता, जिसकी दृष्टि में प्रकृति उस अविनाशी तत्त्व का भावमय प्रकाशन था जिसमें जीवन के सब प्रकारों का अंतिम ऐक्य है, वायरन की कविता, जो प्रकृति में स्वातन्त्र्य के उस आवेश को देखता था जिससे मनुष्य की परिस्थिति ने उसे वंचित कर रक्खा है; आर्नल्ड की कविता जिसकी दृष्टि में प्रकृति की गूढ शान्ति श्रान्त तथा उत्पीडित हृदयों के लिये सान्त्वना

मनुष्यों के दृष्टिकोण से भिन्न हो जाता है और प्रतीयमान अंधकार में भी ज्वलन्त ज्योति के दर्शन करने लगता है। उसके हृदय का स्पन्दन प्रकृति के नीरव स्पन्दन के साथ एक हो जाता है और वह प्रकृति की गहरी से गहरी तली में पहुँच वहां के मोतियों को एकत्र कर अपने प्रणयी को भेंट करता है। परन्तु अपने इन दिव्य अनुभवों का प्रकट करना उसकी शक्ति से बाहर है, क्योंकि अन्तरात्मा के सूक्ष्मतम होने पर भी भावों को व्यक्त करने के एकमात्र साधन इन्द्रियां स्थूल हैं, और इसीलिये वे भाव प्रकाशन के लिये अपूर्ण हैं। भावों को अभिव्यक्त करने की उत्कट अभिलाषा का होना, परन्तु साधनाभाव से उनको प्रकट न कर पाना ही भाव योगी के काव्य की उत्कृष्टता का सब से बड़ा आधार है। अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिये लालायित हो वह भाँति भाँति के उपायों को काम में लाता है। परन्तु नश्वर साधनों में अविनाशी भावों के प्रकाशन की सामर्थ्य कहां? भावाभिव्यक्ति के लिये किये गए, इस युद्ध के गीत ही संसार के सर्व-श्रेष्ठ काव्य हैं।

कबीर का भावयोग।

कबीर की कविता भावयोग का उत्कृष्ट नमूना है। कबीर कोरान की इस आयत को "On the day when the earth shall be ground to dust and thy Lord shall come, and

---

का स्रोत है। इस प्रकार प्रकृति सम्बन्धी कविता में दीखने वाली, एकान्त धार्मिकता पर ध्यान देना उचित है, विशेषतः वर्ड्सवर्थ के विषय में; जिसने Myres के शब्दों में अपने आवेश की सूक्ष्म उत्कटता के द्वारा इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि प्रार्थना तथा प्रेम की भांति प्रकृति चिन्तन भी परोक्ष जगत् के द्वारोद्घाटन का, यदि ऐसा उद्घाटन कभी संभव है—समुचित साधन है।"

Hudson. Introduction to the Study of Literature. पृष्ठ ४४०

the angels row by row and hell on that day shall be brought nigh" (Koran LXXXIX, 2224) याद करके कांप उठता था, परन्तु उसकी कंपकंपी इन वाक्यों को याद कर कि " He that receiveth me, receiveth him that sent me" " The father himself loveth you because ye have loved me" दब जाती थी। भय और प्रेम के यह विचार ही भावयोग अथवा छायावाद के आदि स्रोत हैं। एक ही व्यक्ति का हमारे* समीप और हमसे दूर होना विचित्रता है और इस विचित्रता की कल्पना ही यथार्थ कविता है।

कबीर त्रैगुण्य से परे था।

कबीर कोरान से परे पहुंच गया था। वह जीवन के अन्तिम दिनों में " त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" को भली भांति समझ चुका था। वह जानता था कि—

'धार्मिक प्रतिभान तथा उत्कट आवेशमय भक्त जीवन जब जब इस्लाम की धर्म शिक्षा के आयोजन की ओर बढ़ता है तभी तब वह इस प्रकार मुड़ कर टूट जाता है। वास्तव में उसके लिये इस्लाम में स्थान ही नहीं है।'†

फलतः उसकी कविता में हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों

---

* तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येत्यतिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति" ॥

यजुर्वेद ४० अध्याय।

इस मन्त्र के अनुसार छायावाद का जन्म अत्यन्त प्राचीन काल में हो चुका था। गीता आदि भागवत ग्रन्थों में छायावाद के प्रकृष्ट उदाहरण हैं।

† The Religious Attitude and life in Islam.

पर आक्षेप हैं, उनकी तीव्र आलोचना है। प्रतीयमान धर्मों से परे भी एक धर्म है, जो सार्वजनिक सत्य तथा अहिंसा के अन्तस्तल में बहता है। कबीर उसी धर्म का पिपासु था, उसी दिव्य ज्योति का चितेरा था। वह जगह जगह ऊर्ध्वबाहु हो कहता है:--

'पूरब दिशि में हरि को वासा, पश्चिम अलह मुकामा।
दिल में खोज दिलै में देखो, वही करीमा रामा'॥
भाई अद्भुत रूप अनूप कथा है, कहौं तो को पतियाई।
जहं जहं देखो तहं तहं सोई सब घट रह्यो समाई॥

परन्तु मदान्ध संसार को यहां तक पहुँचने का अवकाश कहां? वह तो धर्म की वारुणी में बौराया हुआ धर्मध्वजियों की पूजा कर रहा है। कबीर की ओर से महर्षि वेद व्यास कह रहे हैं---

ऊर्ध्व बाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥

कबीर के उपदेश को संसार भूल गया।

कबीर के अनुयायियों की संख्या आज भी १० लाख के लगभग बताई जाती है। परन्तु इसमें कबीर का महत्त्व नहीं। उसका महत्त्व उसके छायावाद में है, * ग्रामीण तथा दुरूह शब्दों के पीछे छिपे हुए दाक्षिण्य और भाव सौन्दर्य में है। उसके धर्म में आज परिवर्तन हो गये। उसके † उपदेशों को संसार भूल

---

* अस जोलाहा का मर्म न जाना। जिन जग आइ पसार लताना॥
महि अकाश दुइ गाड़ बनाई। चन्द्र सूर्य दुइ नरा भराई॥
सहस तार लै पूरिन पूरी। अजहूँ बिनै कठिन है दूरी॥
कहहिं कबीर करम सो जोरी। सूत कुसुत बिनै भल कोरी॥
रमैनी २८।

† पण्डित देखो मन मो जानी।
कहुंधौ छूत कहां ते उपजी तबहिं छूत तुम मानी।
नादै बिन्दु रुधिर एक संगै घट ही में घट सज्जै॥

गया। परन्तु जीवन समुद्र के परले पार से आने वाली उसकी पुकार वही है जो जलालुद्दीन रूमी की—

Oh let me not exist! for nonexistence
Proclaims in organ tones "To him we
shall return.

कबीर का बल इस उपदेश में है, तड़प की इन पुकारों में है, व्यङ्गभरी मजाक में है। वह एक स्थान पर कहता है:--

काग़ा कपरा धोवन लागे, बकुला किरटै दांता।
माछी मूड़ मुड़ावन लागी, हमहूं जाव बराता॥ शब्द ५५॥
सूख सरवर उठे हिलोल, बिनु जल चकवा करै हिलौल॥

आत्मा के इस नम्र निवेदन में कबीर के दाम हैं। उसकी कविता में विशद भावनयोग का स्रोत है। स्थूल से स्थूल तत्त्वों से लेकर सूक्ष्म * से सूक्ष्म रहस्यों का कबीर ने विवेचन किया है और उन पर छायावाद की कूंची फेरी है। उसके दृष्टान्त ग्रामीण हैं, भाव भरे हैं। वह हिन्दू और मुसलमान सभी के घरों से चुने गये हैं। इन्हें देख यह कहना कि कबीर ब्राह्मण था या सूफी, वेदान्ती था अथवा वैष्णव अत्यन्त कठिन है। वह तो एक सांस में 'राम और अल्लाह दोनों का पुत्र' है। वह दिव्य शक्ति, वह अमर तत्त्व जो कहता है कि:—

I am the theft of rogues, I am the pain of the sick,
I am both cloud and rain, I have rained

अष्ट कमल ही पुहुमी आई यह छूति कहां उपज्जै॥
कहं कबीर ते छूति विवर्जित, जाके संग न माया॥ शब्द ४१

* धरती वर्षै बादल भीजै भीट भया पैराऊ।
हंस उड़ाने ताल सुखाने, चहले बीधा पाऊ॥ शब्द २१॥
पानी मांह अगिनि को अंकुर मिलन बुझावन पानी॥ शब्द ६८॥

in the meadows',

सभी के लिये समान रूप से खुला हुआ है। कबीर संसार को, पददलित संसार को उस के दर्शन कराना चाहता था।

प्रेम के अनुभव की साधारणतया तीन अवस्था होती हैं।

प्रेमके अनुभवकी तीन अवस्थाएं

(१) साधारण। (२) असाधारण। † (३) अलौकिक साधारण। पहली अवस्था में प्रेमी अपने आप को परमात्मा से पृथक् व्यक्ति समझता है, दूसरी स्थिति में जन्य जनक भाव का सब भेद मिट जाता है, और तीसरी स्थिति में प्रेमी अपने आप को परमात्मा के साथ एक हुआ जानता है। अन्तिम दशा में ऐक्य के साथ प्रार्थी की वैयक्तिक सत्ता भी बनी रहती है। इस प्रकार तीसरी दशा विधेयात्मक ठहरती है। यहां पहुँच प्रेमी प्रणय संमिलन का उपभोग करता है और दूसरों को उस आनन्द में सम्मिलित होने के लिये न्यौता देता है अथवा यों कहिये कि उस के द्वारा उसका राम ही दूसरों को सच्चे मार्ग की ओर ले जाता है। इब्नुल फारिद कहता है—

And through her, and not through myself, I began to guide unto her those who by themselves had lost the right ways; and it was she that (really) guided them. ‡

कबीर के गीत इसी श्रेणी में संमिलित हैं। वह आनन्द उल्लास तथा उदारता के स्फीत उद्गार हैं। उनका सम्बन्ध साधारण समाज से है। भाषा उनकी हिन्दी है और वह भी टूटी फूटी, परन्तु इस टूटी फूटी बोली में कबीर ने अर्थ का चमत्कार भर

---

† प्रेम के अनुभव की Ibnu'l Farid ने ३ अवस्था बताई हैं। (१) normal (२) abnormal (३) supernormal देखो The Idea of Personality in Islam by Nicholson.

‡ The Idea of Personality in Islam. P. 20.

दिया है । वह कहता है—

सेमर सुवना सेइया दुई ढेंडि की आस ।
ढेंडि फूटि चटाक दे सुवना चला निरास ॥

भाव गाम्भीर्य की पराकाष्टा है, सागर को गागर में भर दिया गया है, कविता में रुइ फूंक दी है, उसको लुनाई से भर दिया है । क्या सुन्दर उपमा है, अर्थ कितना विशद है, आशय कितना उदार है ।

कबीरका भाव-गाम्भीर्य

कबीर का समुद्र मोतियों की खान है, वह अनन्त है और उसके मोती भी अनन्त हैं । कबीर अपने प्रणय संमिलन को वर वधू के कल वार्तालाप में प्रकट करता है । वह Shelley के skylark की नाईं अत्युन्नत प्रदेशों में उड़ता हुआ अनन्त गर्भस्तल को परखता है और प्रशान्त समुद्रों की कल्लोल लीलाको देखता है । उसके आवेग भरे गीतों को किसान सुनते हैं, नवपरिणीत वर और वधू सुनते हैं, और संसार के अनन्त जंगल में एकाकी विचरता हुआ जीव पथिक सुनता है । उस के दिव्य उपदेश 'तोयस्येवाप्रतिहतरय: सैकतं सेतुमोघः' ससार के बन्धनों को क्षण भर के लिये तो तोड़ कर फेंक ही देते हैं । कौन सा मोहग्रस्त जीव पत्ते के मुंह इस वात को सुन कर—

पात झरंता यों कहे सुनु तरुवर वनराय ।
अब के बिछुड़े ना मिलें दूर पड़ेंगे जाय ॥

जीवन की अनन्तता और रिश्तेनातों की क्षणिकता को न पहचान लेगा ? अन्योक्तियों के द्वारा कबीर जगह जगह ऐसे उपदेश देता है ।

सत्य के प्रकाश में दृष्टि सम होजाती है

सत्य का प्रत्यक्ष हो चुकने पर दृष्टि का सम हो जाना स्वाभाविक है । गीता के अनुसार पण्डित लोग श्वा से लेकर ब्राह्मण तक जीवमात्र को

एक दृष्टि से देखते हैं *। जलालुद्दीन रूमी भी जगह जगह सम दृष्टि होनेके लिये उपदेश देता है। किन्तु कबीर की साम्य दृष्टि रूमी की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट थी । वह संसार रूपी तरुराज की, उस तरुराज की 'जिसका † मूल ऊपर है और शाखाएं नीचे की ओर हैं' शाखाओं पर बैठे हुए जीव पक्षियों को एक साथ सम दृष्टि और स्वातन्त्र्य का उपदेश देता है।

छायावादियों की उत्कट शिक्षणाभिलाषा पर आश्चर्य नहीं होना चाहिये ।

कबीर की उत्कट शिक्षणाभिलाषा पर आश्चर्य नहीं करना चाहिये । चरम सत्य का प्रत्यक्ष होजाने पर प्रत्येक छायावादी संसार की छोटी से छोटी वस्तु के साथ प्रेम करने लगता है और उसको नैसर्गिक विकास द्वारा अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करता है । सच्चा सुधारक कविता के परों पर उड़ परमात्मा में पहुँचता, वहां यथेष्ट

---

* विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः । गीता ॥

† वह बिरवा चीन्है जो कोई । जरामरण रहितै तन होई ।
बिरवा एक सकल संसारा । पेड़ एक फूटल तिन डारा ॥
इत्यादि, शब्द ५२

मैं कासों कहौं को सुनै को पतियाय ।
फुलवा के छुवत भंवर मरि जाय ॥
गगन मंडल बिच फुल यक फूला ।
तर भो डार उपर भो मूला ॥ शब्द ६२ ॥

'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारो ऽहंकारात् पंच तन्मात्राणि' इत्यादि के अनुसार संसार रूपी वृक्ष का मूल ऊपर की ओर है और शाखाएं नीचे की ओर। इस विषय पर "कर्म-विज्ञान" नामक लेख विचारणीय है जो मई १६२६ के "ओरियण्टल कालेज मेगजीन" में प्रकाशित हुआ है।

आराम पाता; वहां से लौटता हुआ अपने साथ धर्मामृत को लाता और उसे प्यासों में बाँटता है। अपनी नीचे की उड़ान में वह—

*He makes the law his upper garment,
And the mystic path his inner garment.

जीवन्मुक्त होता हुआ भी धर्म पर चलता है और दूसरों को उस पर चलाता है। निरपेक्ष निराकार परमात्मा भी नैसर्गिक कर्मों को करता है और उसके द्वारा संसार को कर्मयोग† का उपदेश देता है। कर्मयोग का यही उपदेश हमें कबीर के इन वचनों में मिलता है-

निराकार की आरसी साधौ ही की देह।
लखा जो चाहे अलख को इन ही में लख लेह॥
हरि से तू जनि हेत कर, कर हरिजन से हेत।
मालमुलुक हरि देत हैं, हरिजन हरि ही देत॥

कबीर की कर्मप्रणाली को दूसरे शब्दों में इस प्रकार पढ़ा जा सकता है—

He goes *towards* God by inward love, in eternal work, and he goes *in* God by his fruitive inclination, in eternal rest. And he dwells in God; and yet he goes out towards created things in a spirit of love towards all things, in the virtues and in works of righteousness. And this is the most exalted summit of the inner life.‡

---

* The Mystics of Islam, by Nicholson.

† न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि॥गीता॥

‡ Ruysbroeck quoted in E. Underhill's Introduction to Mysticism P. 522.

अपने राम में घड़ी भर विश्राम कर कवीर लौटता है और संसार को कभी प्रेम से और कभी क्रुद्ध हो भांति भांति के शब्दों में जगाता है—

हंसा हो चित चेतु सवेरा। इन्ह परपंच करल बहुतेरा।
पाखण्डरूप रच्यो इन्ह तिरगुण, यहि पाखण्ड भूला संसारा॥
घर को खसम वधिक भो राजा परजा काधौं करै विचारा॥

कविता का प्रत्येक शब्द क्रोध के मारे तड़फड़ा रहा है। पाखण्डी तपस्वी पर कवीर की तलवार गिरा ही चाहती है। घर का स्वामी वधिक वन गया है, राजा प्रजा का शिकार करने पर तुला हुआ है। यदि इन दोनों को मृत्यु का ग्रास वना दिया जाय तो संसार को चैन की नींद सोनी मिल जाय। क्रोध भरे प्रवोधन में कवीर अपने शब्दों को भूल जाता है और व्याकरण तथा पदबंधन को कोसों पीछे छोड़ देता है। इसमें कवीर का अपराध नहीं, अपराध है संसार की उस जडता और दांभिकता का, जिसने उसे सव प्रकार के वंधनों को पददलित करने पर वाध्य किया था।

कवीर का दर्शन समन्वयात्मक है।

* सेण्ट आगस्टिन, रौएस ब्रोएक और रूमी जलालुद्दीन की भांति कवीर के आत्म दर्शन में भी परमात्मा की इन्द्रियातीतता, उसका सामीप्य, व्यक्तित्व और विश्वजनीनत्व गल गये थे और विशुद्ध सत्ता मात्र शेष रहगई थी। यह विशुद्ध सत्ता वौद्ध पदार्थ नहीं, प्रत्युत वास्तविक तथ्य है, जो सापेक्ष, परिचित तथा अनित्य जगत् को पालती पोसती और साथ ही अपरिचित; अनापेक्षिक परतर जगत् को संभालती है। इन कामों को करते हुए भी वह दोनों प्रकार के जगत् अथवा सत्ताओं से परे है और सर्वव्यापक है। इस सर्वज्ञ सत्ता के भीतर 'The worlds are being told

* रवीन्द्रनाथ ठाकुर की Kabir's Poems का आरम्भिक वक्तव्य।

like beads' ब्रह्माण्ड की मूक भाषा के अगणित दाने फिर रहे हैं। व्यक्तित्व की दृष्टि से वह सत्ता 'प्रणयी फकीर' है और सामीप्य की दृष्टि से 'मन का भी मन' है। परन्तु उसके यह रूप सापेक्ष हैं, सोपाधिक हैं; यह त्रिकालाबाध्य नहीं और इसीलिये एकान्तरूपेण सत्य भी नहीं। कबीर की यह सत्ता ईसाइयों के (Fathar, Son and Holy Ghost) त्रिक से परे है। वह है—

Eternal which must glow,
Through time and change, unquenchably the same. Shelley.

वह सत्य का प्रभात है, चैतन्य की चांदनी है, और आनन्द का उल्लास है। भावयोगी Shelley उसका वर्णन सौन्दर्य तथा प्रकाश के रूप में इस प्रकार करता है—

That Light whose smile Kindles the universe,
That Beauty in which all things work and move,
That benediction which the eclipsing curse of birth
Can quench not.......................................

अपने 'राम' के सम्मुख परिचित और अपरिचित दोनों सत्ताएं शब्द मात्र रह जाती हैं। वह सब के लिये एक है और प्रत्येक के लिये विशेष है। इस समन्वय में ही कबीर की विशेषता है।

केवल अवतारवाद अथवा केवल श्रेष्ठ सत्तावाद में यह समन्वय असंभव है। कबीरी ब्रह्म इन्द्रियातीत से भी अतीत है और व्यक्ति से भी अधिक व्यक्तिरूप है और इसीलिये वह इन दोनों स्थितियों के अन्तस्तल में प्रवाहित है। 'नेति नेति' के द्वारा राम को ढूंढने वाले 'प्रत्याख्यायक पंथ' से कबीर को घृणा थी, क्योंकि इस पंथ

में सुकुमारता का नाश है और लावण्य का खून है । कबीर का परमात्मा सुन्दर है, सगुण है और फिर भी गुणों से अतीत है । इस विचित्र समस्या को उसने विचित्र शब्दों में इस प्रकार संकेतित किया है--

अनहद अनुभव की करि आशा । देखो यह विपरोत तमाशा ॥
यहै तमाशा देखहु भाई । जहं है शून्य तहां चलि जाई ॥
शून्यहि वांछा शून्य ही गयऊ । हाथा जोड़ि बेहाथा भयऊ ॥

* ब्रह्म के समन्वयात्मक दर्शन के सहारे कबीर छायावादियों के निम्न लिखित दोपों से बच जाता है ।

समन्वयात्मक दर्शन के द्वारा कबीर दोपों से बच जाता है

(अ) वह चरम दशा पर पहुँची हुई भाववृत्ति अर्थात् मन की उस स्थिति से बच जाता है जो दैवी सत्ता को एकान्ततः अवतार के रूप में मानने से पैदा हो जाती है । कृष्ण पूजा संप्रदाय के कवियों की पहुंच परमात्मा के कृष्ण रूप तक ही थी, इसलिये उनकी अशेप शक्तियां रासलीला के वर्णन में समाप्त हो गईं और वह कबीर तथा तुलसी की प्रशान्त सत्ता का विमल प्रसाद पाने से वंचित रह गये ।

(आ) वह अद्वैतवाद के उन परिणामों से बच जाता है जो आत्मा तथा परमात्मा को एकान्ततः एक बताकर उसके व्यक्तित्व तथा लावण्य को नष्ट कर देते हैं । विशुद्धाद्वैत में आत्मा की परमात्मा से भिन्न कोई सत्ता नहीं । प्रतीयमान भेद † विवर्त हैं न कि विकार । व्यवहार दशा में इस सिद्धान्त का महामन्त्र 'तत्त्वमसि' है । परन्तु कबीर के मत में जीव और परमात्मा सदा भिन्न हैं और सदा परस्पर मिले हुए हैं । बुद्धिमान् पुरुष परिमित तथा

* रवीन्द्रनाथ रचित Kabir's Poems का आरंभिक वक्तव्य ।

† अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः ।
सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः ॥

अपरिमित दोनों सत्ताओं को परतर श्रेष्ठ सत्ता के दो पहलू समझ किसी को भी नहीं दुराता। उसके मत में 'चेतन और अचेतन दोनों जगत् एक ही सत्ता के दो पायंदाज' हैं। जीव और परमात्मा का प्रणयमिलन आवश्यक है और उसमें दोनों की सत्ताओं का बना रहना भी सुतरां आवश्यक है।

छायावादी निर्विषय परमात्मा का सगुण रूपेण वर्णन करते हैं।

पहुंचे हुए कवि अनुभव की तीसरी श्रेणी से लौट कर गन्धादि विहीन परतर सत्ता का गन्धादिमत्ता की दृष्टि से वर्णन करते हैं। वह परमात्मा को इन्द्रियातीत जानते हुए भी उसके और संसार के ऐक्योद्बोधक प्रेम में इतने अधिक मग्न हो जाते हैं कि उन्हें सचमुच अपने अलौकिक अनुभव में लौकिक गन्धादि का भान होने लगता है। Julian of Norwich कहता है—

*'Him verily seeing and fully feeling, Him spiritually hearing and Him delectably smelling and sweetly swallowing.'

अनुभव की यह दशा सब योगियों के लिये एक समान है। Master Fckhart लिखता है—

† 'वह शाश्वत वाणी—ओह! यदि कहीं मैं उसको एक बार आत्मसात् कर पाता, तो सत्य को पूर्णरूपेण समझ गया होता। ज्ञान और अज्ञान का सम्मिलन–वह मेरे सम्मुख उद्घटित हो चमकी, प्रतीत हुआ यह किसी बात का साक्षात्कार चाहती है, मुझे परम-

---

* रवीन्द्रनाथ ने अपनी Kabir's Poems के प्रारम्भिक वक्तव्य में उद्धृत किया है।

† George Grimme अपने Christian Mysticism in the light of Buddha's doctrine नामक प्रस्ताव में उद्धृत करते हैं।

तत्त्व का आभास दिलाना चाहती है। इसीलिये कहा जाता है कि कानाफूसी में, गूढ़ शान्ति में यह अपने आपको प्रकट करने आती है' इत्यादि।

कबीर भी अपने इस अनुभव को, मूर्धरन्ध्र में सुन पड़ने वाली अमर वाणी के प्रकरण में भांति भांति से दर्शाता है। कबीर गायक छायावादी है। उसका विश्व विशाल वीणा है जिसमें नदी नालों के अनेक तार बज रहे हैं। अमित गगनमंच पर अगणित नक्षत्र, सूर्य और चन्द्र उस नाटक को बराबर खेल रहे हैं जो विश्वात्मा तथा प्रकृति का स्वाभाविक मनोविनोद है। इस नाटक और मनोविनोद को देखना और दूसरों को दिखाना ही महाकवियों का प्रधान लक्षण है।

छायावाद में रमता हुआ भी कबीर गरीबों को नहीं भूलता।

परन्तु छायावाद की तरङ्गों में बहता हुआ भी कबीर साधारण समाज को नहीं भूलता। वह कैलाश की सुधाधवल चोटी पर प्रभात सूर्य की अरुण रश्मियों में बैठा हुआ भी हमारे लिये आंसू टपकाया करता है। वह सादगी का हामी है, सीधे साधे चालचलन का शैदा है, कोरे तर्कवाद का दुश्मन है, पाखण्ड और वितण्डावाद का घोर विरोधी है। कबीर का आशय इतना विशद है कि एक ही कबीर बारी बारी से वैष्णव, वेदान्ती, ब्राह्मण, सूफी, सर्वेश्वरवादी, ईश्वरातीततावादी, सभी के रूप में हमारे सामने आ जाता है। परमात्मा का यथार्थ रूप वर्णन करने के लिये, जो अतीत होने पर भी उसके पहलू में खड़ा है, जो निर्गुण होने पर भी उसके जीवन सूत्रों को समय रूपी‡ वायदण्ड (loom) पर फैला रहा है, ऐसे

‡ जोलाहा बीनेहु हो हरिनामा जाकै सुर नर मुनि धरैं ध्याना।
तानाा तनै को अउठा लीन्हे चर्खी चारिहु बेदा॥
सर खूटी यक नाम नरायण पूरण कामहि जाना।

परमात्मा की यथार्थता को प्रमत्त जन समाज के सम्मुख रखने के लिये वह भांति भांति के उपायों से काम लेता है। एकान्त विरोधी भाव, भाषा, शैली, अलंकार तथा सिद्धान्तों का एक ही वायदण्ड पर ताना वाना बुन देता है। उपनिषदों के 'आदित्यवर्ण तमसः परस्तात्' के जानने में सभी रंगों की आवश्यकता पड़ती है। जो भी वरतन कबीर के सामने आता है वह उसी में अपने 'प्रेम की शराब' भर देता है और वरतन खिल उठता है। कबीर की बहुतर कविताओं का विषय परमात्मा की लीला तथा माया है। सत्य के यह पहलू हिन्दुओं की पुराण सम्पत्ति हैं। कबीर ने इन्हें अपनाया और इनमें अपने जादू की जान डाल दी। कुछ कविताओं में भारत के ग्राम्य जीवन, मन्दिर, स्नान, ध्यान, सती, शादी आदि की ओर संकेत करके मानवीयता के एकत्व को सिद्ध करते हुए छायावाद का रसपान कराया गया है। भावयोग, आत्मोत्सर्ग, भक्त्युद्रेक, केलि, नैराश्य, शान्ति आदि सभी का कबीर ने वर्णन किया है, और खूब किया है। उसकी वाणी में तड़प है, उत्तानरुदन है, आत्मा का प्रवाह है और मन की वृत्तियों का परिवाह है। वह सच्चा प्रेमी है, अपने प्रेमी को आंखों से ओझल नहीं होने देना चाहता।

नैनों अन्तर आव तू नैन झांपि तोहि लेव।
ना मैं देखों और को ना तोहि देखन देव॥

कबीर 'अनन्त' के गभीर समुद्र का यात्री था। वह रुचिर जीवन का प्रसन्न स्रोत था, विश्वव्यापी मौनगीत का मुख्य चरण था, और संसार के सुखमय स्वप्न का सुनहरा उच्छ्वास था। वह प्रेम की सरिता में बहता था और दुखी जगत् को शाश्वत तत्त्व के

भवसागर यक कठवत् कीन्हो तामें माड़ी सानी।
माड़ी को तन माड़ि रह्यो है माड़ी विरला जाना॥ इत्यादि॥

शब्द ६४

उस गर्भ में ले जाना चाहता का, जहां रोग, शोक, आधि और व्याधि का नाम नहीं है, जहां प्रमोद का उल्लास और प्रेम का व्यङ्गभरा मधुर हास्य सदा एक रस बना रहता है।

कबीर के ग्रन्थ--

कबीर ने अनेक ग्रन्थ रचे हैं। संभव है उस ने स्वयं सब पुस्तकों को लेख बद्ध न किया हो, और उसके जीवन के उपरान्त उस के शिष्यों ने लेख बद्ध कर उनकी रक्षा की हो। कबीर के नाम से अनेक प्रकार की कविताओं के अनेक संग्रह मिलते हैं। संभवतः इन में से बहुत सी कबीर के नाम पर दूसरों ने बनाई हों। एक संग्रह सिक्खों के आदि ग्रंथ में मिलता है। यह सग्रह १६०४ में किया गया था। दूसरा संग्रह बीजक में पाया जाता है। बीजक का अर्थ Keay के अनुसार 'a document by which a hidden treasure can be located' है। सर जार्ज ग्रियर्सन बीजक का अर्थ The Chart of Secret treasure, करते हैं*। बीजक कबीर पन्थियों का धार्मिक ग्रन्थ है। सम्भव है कबीर की मृत्यु के उपरान्त कबीरपन्थ की पुष्टि के लिये इसे प्रकाशित किया गया हो। कहा जाता है कि कबीर के प्रिय शिष्य भगोदास ने १५७० के लगभग बीजक का संग्रह किया था। दूसरी ओर बीजक के विषय में सर जार्ज ग्रियर्सन † लिखते हैं 'जन श्रुति के अनुसार इसे स्वयं कबीर ने बुन्देलखण्डान्तर्वर्ती रीवां के तात्कालिक राजा को भेंट दिया था। कहा जाता हैं कि इसकी एक प्रति लिपि जो अब भी वहां के राजगृह में विद्यमान है, कबीर के शिष्य धर्मदास ने १४६४ ईसवी में लिखी थी।'

बीजक, अनेक छन्दों में की गई कविताओं का संग्रह है। यथा—

---

* J. R. A. S. 1918.

† J. R. A. S. 1918. पृष्ठ १२३-२४।

(१) 'रमैनी' सिद्धान्तों की व्याख्या करने वाली छोटी छोटी कविता का नाम है।

मुआ अहै मरि जाहुगे मुये की बाजी ढोल।
स्वप्न सनेही जग भया सहिदानी रहिगा बोल॥

वेङ्कटेश्वर प्रेस में छपे बीजक में रमैनियों की संख्या ८४ है।

(२) 'शब्द' भी सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं परन्तु, उन का छन्द भिन्न प्रकार का है।

चौथे शब्द का तीसरा छन्द इस प्रकार है—

बहु तक देखे पीर औलिया, पढ़ैं किताब कुराना।
करि मुरीद तद्बीर बतावैं, उन में यहै जो ज्ञाना॥

'बीजक कबीर साहब' नाम के संग्रह में शब्दों की संख्या ११३ है।

(३) 'चौंतीसा' में नागरी के व्यंजनों को क्रम से लेकर उनके धार्मिक पहलू की व्याख्या की गई है। यथा—

'कक्का कमल किरणि में पावै, शशि बिगसित संपुट नहिं आवै।
तहाँ कुसुम्भ रंग जो पावै, औगंह गहके गगन रहावै॥

उपर्युक्त संग्रह में 'चौंतीसा' की संख्या ३५ है।

(४) 'विप्रमतीसी' में ब्राह्मणों के संप्रदाय पर कटाक्ष किये गये हैं। यथा—

ब्राह्मण ह्वै के ब्रह्म न जानै, घर में यज्ञ प्रतिग्रह आनै॥

इस प्रकरण में ३१ कविताओं का समावेश है।

(५) 'कहरा' छन्द विशेष का नाम है, इन में धर्म का वर्णन है।

गुरु भो ढील गोन भो लचपच, कहा न मानेहु मोरा हो।
ताजी तुरकी कबहुँ न साजेहु, चढ्यो काठ के घोरा हो॥

कहरों की संख्या १२ है।

(६) 'बसंत' छन्द का नाम है। विषय धर्म है। बसंतों की

संख्या भी १२ है ।

(७) 'चाचर' अथवा 'चाचरी' छन्द का नाम है, विषय पूर्वोक्त है ।

सूने घर का पाहुना मन बौरा हो ।
ज्यों आवे त्यों जाइ समुझ मन बौरा हो ॥

चाचरों की संख्या २ है ।

(८) 'वेलि' छन्द का नाम है, विषय पूर्वोक्त है । संख्या २ है ।

बुधि बल तहां न पहुंचे हो रमैया राम ।
खोज कहां ते होय रमैया राम ॥

(९) 'विरहूली' छन्द का नाम है, विषय पूर्वोक्त है, संख्या २ है।

(१०) 'हिंडोला' छन्द का नाम है, विषय पूर्वोक्त है, संख्या २ है।

तीसरा हिण्डोला इस प्रकार है—

जहं लोभ मोह के खम्भ दोऊ मन रच्यो हो हिण्डौर ।
तहं झुलहिं जीव जहान, जहं लगि कतहुं नहिं थिति ठौर ॥
चतुरा झुलैं चतुराइया, औ झूलैं राजा सेव ।
चन्द्र सूरज दोउ झूलहिं, नाहिं पायो भेव ॥

(११) साखी ४०० से ऊपर हैं, प्रत्येक साखी में एक एक दोहा है । वेंकटेश्वर प्रेस के 'बीजक कबीर साहब' में साखियों की संख्या ३६९ है ।

समष्टिरूपेण देखने पर न तो आदिग्रन्थ में दिये गये संग्रह ही को कबीर का अपना संग्रह कहा जा सकता है और नाही बीजक में दिये गये संग्रह को । इनके सिवाय कबीर के नाम से बहुत सी और साखियां प्रसिद्ध हैं जिनमें से ५००० से ऊपर इकट्ठी की जा चुकी हैं । बनारस के कबीर चौरे में, जो कबीर पन्थियों का मुख्य स्थान है, 'खास ग्रन्थ' नाम की पुस्तक रक्खी बताई जाती है जिसमें २० से कुछ ऊपर पुस्तकों का संग्रह है । इनमें से बहुत सी प्रत्यक्षतः कबीर के शिष्यों की बनाई हुई हैं ।

बीजक की भाषा को प्राचीन हिन्दी का अवधी उपभेद बताया जाता है। कविता में कर्कशता है, शब्द टूटे फूटे ग्रामीण हैं। भाषा कहीं कहीं दुर्गम हो गई है। व्याकरण पर अधिक ध्यान न दे शब्दों को शीघ्रता के साथ परस्पर जोड़ दिया गया है। वाक्यों में कहावतों की भरमार है, ग्राम्य भाषा और भावों का समावेश है। शब्द रचना और भावगांभीर्य के कारण कबीर की कविता को समझना कठिन है। इन सब बातों के होते हुए भी हिन्दी भाषा के इतिहास में कबीर का स्थान ऊंचा है। वह अदम्य उत्साह जिसके साथ वह दूसरे धर्मों की धज्जियां उड़ाता है, और दिल में घर करने वाली उसकी वह अपील जो मनुष्यों को संसार के जंगल से निकाल कर परमात्मा के अभिराम उपवन में पहुंचाना चाहती है, उसके नाम को अमर रखने के लिये पर्याप्त हैं। कबीर की मज़ाक़ कमाल की है, उसके तानों में तीर हैं, उसकी कहावतों में गज़ब की जान है, उसके शब्दों की उठबैठ दिल में धूम मचा देती है। इन सब बातों ने मिल कर कबीर की कविता को अमर कर दिया है। कबीर को हिन्दी भाषा का नेता और हिन्दी की ताल और उसके अनुप्रास का पिता बताया जाता है। कबीर की अपेक्षा प्राचीन हिन्दी कवियों की कविता पर विचार करते हुए इस कथन में कुछ अत्युक्ति प्रतीत होती है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि वह व्यक्ति कबीर ही था जिसने हिन्दी को सर्व साधारण समाज में पहुंचाया, और उसमें धार्मिक कविता करके उसके प्रभाव को पहले से शत-गुण किया। उस समय हिन्दी में धार्मिक कविता करना भारी साहस का काम था, कबीर ने उसे पूरा किया और तुलसीदास के इस कथन के लिये मार्ग साफ किया:—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये सांच ।
काम जु आवै कामरी, का लै करै कुमाच ॥

१४वीं सदी में लालदेद नाम की बुढ़िया काश्मीर में हो

कश्मीर की लालदेद का कबीर पर प्रभाव।

गुजरी है। कबीर की नांई वह प्रतिमापूजन का विरोध तो नहीं करती थी, परन्तु परमात्मा के ऐक्य में उसका भी पूरा भरोसा था। वह शिव के विषय में कहती है:—

शिव वा, केशव वा, जिन वा
कमलज नाथ नाम दोरिन सुह,
मे अबली कोय सितम भवरुक
सुह, वा सुह, वा सुह, वा सुह ।

उपर्युक्त पंक्तियों की, कबीर की उस कविता के साथ तुलना करो जिसमें एक ही तत्त्व को राम, अल्लाह तथा करीम आदि नाम दिये गये हैं। दोनों की कविता में और भी बहुत सी समानताए दिखाई जा सकती हैं। कबीर अपनी कविता में बार बार जुलाहों के पारिभाषिक शब्दों का उपयोग करते हैं। लालदेद की कविता में भी इस प्रकार के पारिभाषिक शब्दों को पर्याप्त स्थान मिला हुआ है। सर जॉर्ज ग्रियर्सन के कथनानुसार लालदेद का कबीर पर प्रभाव पड़ा है।

गुरु नानक १४५९-१५३८*—

---

* १६वीं सदी के विषय में Sir, Charles Eliot लिखते हैं:—
'१६वीं सदी का आरम्भ धार्मिक जागृति का युग था, क्योंकि इस समय वल्लभाचार्य और चैतन्य ही नहीं, प्रत्युत सिक्ख धर्म के संस्थापक गुरु नानकदेव जी भी जन्मे थे। पश्चिम में यह युग लूथर का युग था। यूरोप की भांति भारत में भी उस समय से लेकर अबतक उस प्रकार की धार्मिक जागृति का एक भी आन्दोलन नहीं हुआ। उस समय स्थापित हुए संप्रदायों में वृद्धि हुई, सुधार हुए, इस्लाम तथा ईसाई मत के तत्वों के संमिश्रण से कुछ नये संप्रदाय भी जन्मे, परन्तु न तो कोई मौलिक विचार धारा ही बही और न भक्ति का कोई नया संप्रदाय ही स्थापित हुआ'। Hinduism and Buddhism भाग २ पृष्ठ २४८।

कबीर के उपदेशों से जन्म लेने वाले अनेक संप्रदायों में इतना अधिक महत्त्वशाली कोई नहीं जितना कि सिक्ख संप्रदाय, जिसे गुरु नानकदेव ने स्थापित किया था । नानक का जन्म तिलवंडी ग्राम जिला लाहौर में हुआ था । इनके पिता कालूचन्द खत्री तिलवण्डी के सूबा बुलार पठान के कारिन्दा थे । इनकी माता का नाम तृप्ता था । नानक बालपन से ही साधु स्वभाव के थे । विक्रम संवत् १५४५ में इनका विवाह गुरदासपुर के मूलचन्द खत्री की कन्या सुलक्षणी से हुआ । श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द नाम के इनके दो पुत्र हुए । श्रीचन्द आगे चल कर उदासी संप्रदाय के प्रवर्तक बने ।

पंजाब में मुसलमान बहुत दिनों से अधिक संख्या में बसते आ रहे थे। फलतः वहाँ एकेश्वरवाद के भाव धीरे धीरे प्रबल हो रहे थे । लोग अनेक देवी देवताओं के बजाय एक परमात्मा की पूजा करना महत्त्व और सभ्यता का चिन्ह समझने लगे थे । अतः जहां लोगों को बलात् मुसलमान बनाया जा रहा था वहां कुछ लोग शौक से भी मुसलमान बन रहे थे । ऐसी दशा में कबीर के संत मत का प्रचार होना सुतरां स्वाभाविक था ।

गुरु नानक बचपन ही से भक्त थे, उनका ऐसे मत की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था जिसकी उपासना का स्वरूप हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये समानरूप से ग्राह्य हो । उन्हों ने घर बार छोड़ दूर दूर के देशों में भ्रमण किया जिससे उपासना का सामान्य स्वरूप स्थिर करने में उन्हें भारी सहायता मिली । अन्त में उन्हों ने कबीर के मत की शरण ली और समन्वयात्मक सिक्ख धर्म की आधार शिला रक्खी । * कबीर की अपेक्षा नानक का

---

* 'यद्यपि नानक के ग्रन्थ में हिन्दुओं की बातें भरी पड़ी हैं तथापि कबीर की अपेक्षा उसकी टोन में इस्लाम का प्रतिफलन अधिक है । सिक्खों के मन्दिर की पूजा प्रक्रिया हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों से

मुसलमानों की ओर अधिक झुकाव है। अपने शिष्य मर्दन को साथ ले नानक ने गान द्वारा उत्तर भारत में और विशेषतः पंजाब में सिक्ख मत का प्रचार किया। कबीर के समान नानक भी बहुत पढ़े लिखे नहीं थे। भक्तिभाव से प्रेरित होकर जो भजन उन्हों ने गाए वही उनके अनुयायियों के लिये गुरुमन्त्र बन गए और उनका ग्रन्थ साहब में (सं० १६६१) संग्रह कर दिया गया। नानक ने अपने संप्रदाय के लिये जप्ती नामक ग्रन्थ भी रचा, जिसमें प्रतिदिन की पाठपूजा के लिये अच्छे अच्छे भजन एकत्र किये गये हैं।

नानक की कविता में पंजाबी और हिन्दी का मिश्रण है। भक्ति और विनय के सीधे सादे भाव सीधी साधी भाषा में कहे गये हैं, कबीर के समान टेढ़े मेढ़े रूपकों में नहीं। इससे इनकी प्रकृति की सरलता और अहंभाव शून्यता का परिचय मिलता है। संसार की अनित्यता, भगवद्भक्ति और सत् स्वभाव के सम्बन्ध में नानक ने दिल में घर करने वाली बातें कही हैं:—

इस दमदा मैं नू की वे भरोसा, आया, आया, न आया, न आया।
यह संसार रैन दा सुपना कहीं देखा कहिं नाहिं दिखाया॥
सोच विचार करो मत मन में जिसने ढूंढा उसने पाया।
नानक भक्तन के पद पर से निसदिन रामचरण चित लाया॥

अधिक मिलती है। जप्ती का आरंभिक वाक्य इस प्रकार है 'ईश्वर एक ही है, उसी का नाम सत्य है, वही संसार का विधाता है'। परमात्मा को संसार का नियामक माना जाता है न कि एक ऐसा तत्त्व जो संसार के द्वारा अपने आपको विकसित करता है। उसी की आज्ञा से वस्तुजात प्रकट होते हैं। ऐसी बातों में इस्लाम की गन्ध आती है। कहीं कहीं तो नानक कोरान ही के शब्दों का उपयोग कर बैठता है जैसे परमात्मा का दूसरा साथी नहीं'। इत्यादि

Hinduism and Buddhism भाग २ पृष्ठ २६४। देखो Macaliffe की The Sikh Religion.

जो नर दुख में दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके कंचन माटी जानै।
नहिं निन्दा नहिं अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना।
नानक लीन भयो गोविन्द सों ज्यों पानी संग पानी॥
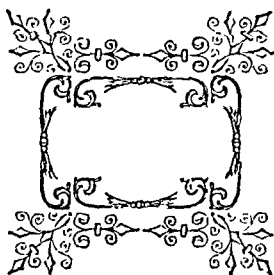
अध्याय ६

कबीर तथा ईसाइयों का भावयोग।*
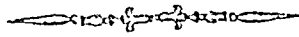
'सब प्रकार के भावयोग में एक प्रत्यभिज्ञा विशेष होती है जो सामान्य प्रत्यभिज्ञा से भिन्न है, 'जो आन्तर ज्योति के रूप में समय विशेष पर फुरती है और प्रकृति की उस साधारण ज्योति से, जो अपर्याप्त है और जिस के रूप में प्रति दिन का अनुभव प्रकट होता है, सर्वथा भिन्न है। यही कारण है कि इस प्रकार की असामान्य प्रत्यभिज्ञा के विषयीभूत तत्त्व को हम स्पष्ट शब्दों द्वारा प्रकट नहीं कर पाते।†

आत्मावबोध के लिये चित्त की एकाग्रता आवश्यक है।

Eckhart के मत में उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञा ध्यान द्वारा होती है। इस विषय में उसका और बुद्ध भगवान् का ऐकमत्य है। हिन्दुओं का योगदर्शन इस बात को मानता है। सूफियों की बहुसंख्या इस बात में सहमत है। संक्षेप में मनुष्य की शक्तियां इन्द्रियों द्वारा बाहर जातीं और बाह्य जगत् की प्रतिच्छाया बना उसे भीतर पहुंचाती हैं। परन्तु ज्ञान की यह प्रक्रिया आत्मा के विषय में नहीं हो सकती। इस लिये आत्मा स्वयं अपने रूप को नहीं पहचानता। इस कठिनाई का निवारण करने के लिये योगी लोग समाधि का उपदेश करते हैं।

---

* बौद्धों के भावयोग के लिये देखो E. W. Jackson का Buddhistic Mysticism नामक लेख, (Harward series C. R. Lanman.

† George Grimm का Christian Mysticism in the light of Buddha's doctrine नामक प्रस्ताव।

ध्यान से देखो नाम और रूप मिथ्या निकलेंगे । Eckhart के शब्दों में 'जो कुछ भी तेरा है और तुझ में है सब का सब दूषित तथा घृणित है । मनुष्य का यथार्थ ध्येय सृष्टिमात्र से शून्य होना और पदार्थ मात्र से पराङ्मुख रहना है' । वह कहता है 'इस प्रकार जो कुछ भी प्रतिफलित है उसे पृथक् करदो और अपने आपको अप्रतिफलन-शील निराकार तत्त्व के साथ एक कर दो । तभी शान्ति है, तभी निर्वाण है । क्योंकि वहां न तो किसी प्रकार की सृष्टि संभव है और न किसी प्रकार का प्रतिफलन ही हो सकता है । उसे आना है विस्मृति में और अज्ञान में, उस के लिये गाढ शान्ति तथा मौन आवश्यक है' ।

नाम और रूप मिथ्या हैं ।

अज्ञान के इस निशीथ में शून्यमात्र रह जाता है । एखार्ट के मत में 'यदि मन को पूर्णतः प्रत्यग्र बनना है तो उसे एकान्त शून्य में निवास करना चाहिये । आत्मा एकान्त शून्य में मग्न हो जाता है, इसी में प्रबलतम शक्तियों का अधिष्ठान है' ।

ईसाइयों का यह मुनि इतने ही से सन्तुष्ट न हो आगे बढ़ता है । वह कहता है 'रही मेरी बात ! मेरे लिये न तो किसी वस्तु की और नाही किसी व्यक्ति विशेष की सत्ता शेष बची है । मैं भी अब किसी की दृष्टि में आत्मा नहीं हूँ । इसीलिये कहा जाता है कि उसकी सब उपाधियां नष्ट हो जाती हैं, उपाधियां ही नहीं, उसकी अपनी स्वता भी नष्ट हो जाती है । उसमें किसी भी प्रकार की स्वता किसी भी रूप में, किसी भी वस्तु के लिये शेष नहीं रह जाती ।'

इन शब्दों में 'नभ' का शृङ्गार है, नीरवता का गीत है, उद्भ्रांतित तमिस्रा का गंभीर हास्य है । इन्हें सुन जीव पथिक क्षण भर के लिये मतवाला हो जाता है ।

यह शब्द ईसा से १३०० वर्ष पश्चात् जर्मनी के प्रसिद्ध भाव-

योगी Eckhart के मुंह से इस प्रकार निकले थे:—

'इसका वह सब कुछ नष्ट हो चुका है जिसके लिये कोई भी, कुछ भी हो सकता है और जिसके द्वारा यह कुछ भी के लिये, किसी भी जगह, कुछ भी हो सकता है'।

कितना गंभीर आशय है! कैसे उत्कृष्ट विचार हैं! कैसी गगन चुम्बी कल्पना है! यहां प्रतिभा का अन्त है और पवित्रता की पराकाष्ठा है। यही शब्द ईसा से ५०० वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध ने इस प्रकार कहे थे:—

'मैं कुछ भी, कुछ के लिये भी, किसी भी जगह नहीं; नाहीं मेरे साथ किसी भी वस्तु का, किसी भी स्थान पर, किसी भी प्रकार का कोई भी सम्बन्ध है। 'ऐसी वस्तु' यह परिभाषा यहां है ही नहीं। यह हुई ओ भिक्षुवर्ग? 'कुछ भी नहीं' के साम्राज्य की तृतीय अवस्था'।*

बुद्ध का निर्वाण शून्यात्मक है।

तत्त्व दर्शन की यहां पराकाष्टा है। एकान्त निर्वाण के इस महामन्त्र के सम्मुख मास्टर एखार्ट के वचन फीके पड़ जाते हैं। यहां 'शून्य का, शून्य में, शून्य के लिये, शून्यात्मक साम्राज्य है'। शंकर ने बुद्ध भगवान् की एकान्तता को स्वीकारते हुए उनके शून्यवाद का प्रत्याख्यान करके ब्रह्म को सच्चिदानन्दघन बताया। बुद्ध के निर्वाण में सर्वातीतता है। वहां सत्ता का अभाव है और अभाव में किसी प्रकार की भी वृत्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः इस मत में काष्टों को जला चुकने के पश्चात् अग्नि का अग्नि में लीन हो जाना ही आत्मा का अपने आप में मिलना कहाता है। श्वेताश्वतर उप० ६–१९ तथा मैत्रायणी उपनिषत् ६–३४ का यही आशय है। बुद्ध के निर्वाण का यही अभिप्राय है।

Eckhart कल्पना की पराकाष्ठा पर पहुँच व्यावहारिक दशा

* मज्झिम निकाय २, २६३।

Eckhart जगत् की व्यावहारिक सत्ता को मानता है।

को चलाने के लिये देवत्रितय अर्थात् Trinity की कल्पना करता है। इस विषय में उसकी और शंकर की समानता है।

छायावादी को अनुभव प्रकाशन के लिये समुचित शब्द नहीं मिलते।

जार्ज ग्रिम भावयोग पूर्ण सम्मिलन को 'Overhasty logical deduction and pondering based upon imperfect perception' का परिणाम बताता है। इस सम्मिलन में प्रणयी उतावला तथा मुग्ध हो जैसे तैसे शब्दों तथा इंगितों द्वारा अपने अनुभव और स्वरूप को बताना चाहता हैं। ध्यानी आत्मा अपने और परमात्मा के पारस्परिक भेद को जानता है और इसी बात में उसकी महत्ता तथा निर्बलता का मूल है। भेदभाव के अनुभव में भावयोग का जन्म हैं और इसी में भावयोगी की भाषा तथा विचारप्रकाशन के अधूरेपन का रहस्य है। वह जानता है कि यहां पहुँच तत्त्व बोधी ज्ञान के तुङ्ग पर चढ़ जाता है। उसके मत में भले ही कोई इस अवस्था को अज्ञान अथवा अप्रत्यभिज्ञान के नाम से पुकारे, परन्तु इसमें बाह्य ज्ञान तथा प्रत्यभिज्ञाजात की अपेक्षा कहीं अधिक तत्त्व रहता है। इस अलौकिक विवेक की आभा योगी को चौंधिया देती है और वह कान्दिशीक हो जहां से चला था वहीं आ गिरता है; क्योंकि तत्त्व दृष्ट्या जहां से वह चला था उसमें, और जहां उसे पहुँचना है उसमें किसी प्रकार का मौलिक भेद नहीं है। फलतः आत्मावबोध की दशा में भी भावयोगी आत्मा की भौतिक छायाओं को पतियाता हुआ रूप, रस, गन्ध आदि का अनुभव सा करता है। कल्पना तथा प्रत्यभिज्ञा की इस पावनी धारा में Eckhart इस प्रकार लहराने लगता है—

'निशीथ के अस्पष्ट प्रकाश में वह आता है और कानों में मन्त्र

सा फूकता है । कान की बातें शनैः शनैः सम्मिलन के रूप में परिणत हो जाती हैं । इस सम्मिलन में ज्ञातृ और ज्ञेय का विवेक मिट जाता है' ।

इस प्रकार के आत्मिकगान अथवा प्रगाढ मौन में भावयोग की पराकाष्ठा है । यहां इन्द्रियों का विलय होने पर भी उनकी क्रिया उपस्थित है । यहां न चाहने पर भी आत्मतत्त्व के साथ प्रकृति के रूप, रस, गन्धादि गुणों का संकलन है । भावयोगी प्रकृति से आंख कतरा अमर तत्त्व को चूमना चाहता है, पर क्या यह बात संभव है ! क्या हास्य और रोदन, प्रेम और घृणा, दया और रोष, पुण्य और पाप का ऐकान्तिक विछोह सम्भव है ? कदापि नहीं । विरोधी तत्त्वों की रश्मियों के प्रकाश से ही जगत् का यह भीषण कंकाल चमक रहा है ।

ईसाइयों का त्रिक

इसीलिये Eckhart भावयोग के चरम शिखर से उतर व्यावहारिकता को अपनाता है और ईसाइयों के पावन त्रिक (Trinity) का समर्थन करता है । वह कहता है—

'वस्तुजात का शाश्वत स्रोत पिता है; उसमें रहने वाला वस्तुजात का प्रतिरूप पुत्र है; शाश्वत तत्त्व का प्रतिरूप के प्रति प्रेम ही 'पावन प्रेत' है । उठ ओ पूतात्मा ! देख इस दिव्य आश्चर्य को ! ओह ! इस पावन संकलन में ! तीन व्यक्तियों का एक तत्त्व में संमिलन !'

त्रिक सम्बन्धी सिद्धान्त व्यावहारिक है । Eckhart ने इसमें हां मिलाई और वह रोमन कैथलिक चर्च का नेता बन गया, परन्तु साथ ही वह बुद्ध भगवान् के एकान्त निर्वाण से नीचे भी गिर गया । क्योंकि त्रिक का सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्ट्या तथ्य होते हुए भी परमार्थ दृष्ट्या असान्य है ।

Eckhart ईसाई भावयोगियों के सिरमौर हैं । उनके तथा

Eckhart तथा कबीर के भावयोग में भेद है।

कबीर के भावयोग में समानता होने पर भी प्रचुर भेद है। कबीर का राम तत्त्वरूप होते हुए भी व्यक्ति स्वरूप है। वह प्रेम का भण्डार है और लावण्य का स्वरूप है। Eckhart के मत में परमात्मा की अनुकम्पा (Grace) व्यावहारिक है, तो कबीर के मत में वह पारमार्थिक 'सत्य' है। एखार्ट के समान कबीर की पहुँच गहरी भले ही न हो, परन्तु वह व्यापक है, उसमें विश्वात्मा का सर्वाङ्गीण स्पन्दन है। एखार्ट जर्मनी के दार्शनिक युग में उत्पन्न हुआ था, उसने बौद्धदर्शन के प्रकाश में ईसाई दर्शन का अध्ययन किया था। वह मुनि था और भावयोगी समाज सुधारक। दूसरी ओर कबीर ने साधारण शिक्षा पाई थी और असाधारण प्रतिभा; वह पढ़ा लिखा कम था पर गुणी बहुत अधिक। एखार्ट का दर्शन पठितों के लिये था और कबीर की वाणी साधारण समाज के लिये। उसके पास विश्व के इन्द्रियातीत तन्तुओं को सुलझाने का अवकाश न था। उसे इस बात की आवश्यकता भी नहीं थी। इसका काम था 'भेद' के अनन्त सागर पर अभेद की सर्चलाइट फेंकना और जनता को चरमध्येय की ओर ले जाना। उसका काम था संश्लेषण न कि विश्लेषण। फलतः उसने परमात्मा को व्यक्ति का रूप देते हुए भी उसे राम और अल्लाह दो नामों से पुकारा और हिन्दू और मुसलमान दोनों को ऐक्य के मन्दिर में निमंत्रित किया। कबीर के ध्येय की पूर्ति परमात्मा को व्यक्ति का रूप दिये बिना, उसके और जगत् के अभेद को बताए बिना, और ज्ञान के स्थान पर भक्ति का प्रचार किये बिना असम्भव थी।

कबीर का भावयोग विधेयात्मक है।

यही कारण है कि कबीर शून्य अथवा 'Nothing whatsoever' को नहीं अपनाता। ईसाइयों के भावयोग में शून्य का राज्य है तो कबीर के भावयोग में सत्ताका प्रतिफलन है। उनकी

दृष्टि सूक्ष्म है तो कबीर की विस्तृत । भावयोग की चरम दशा में यदि ईसाई कवि मस्त हो शून्यात्मा हो जाता है तो कबीर प्रसन्न तथा प्रफुल्लित हो उठता है । Eckhart के यहां आत्मा का परमात्मा में निषेधात्मक विलय है तो कबीर के भावयोग में आत्म व्यक्ति का विश्वात्मक परमात्मव्यक्ति के साथ सत्तात्मक प्रणय संमिलन है । कबीर तथा ईसाइयों के भावयोग में यही भेद है ।
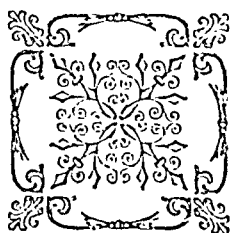
अध्याय ७

कबीर और सूफी धर्म

'कबीर ने बहुत कुछ सूफियों से लेकर इसमें मिलाया । उसने ईसाइयों से मन्तव्यों के पारिभाषिक शब्द और उनकी पूजा प्रक्रिया से क्रियाविधि के प्रकार के लिये । विशेषतः कबीर का 'शब्द' ईसाइयों से लिया गया है । यह सेण्ट जोहन का 'Logos' है । कबीर का शब्द वैदिक वाणी से सुतरां भिन्न है । अहमदशाह के कथनानुसार उस के (वाक्) साथ इस का (शब्द) ऐक्य नहीं है ।'

Sir George Grierson.

सर जार्ज ग्रियर्सन और अहमदशाह केवल समानताओं के आधार पर कबीर की कविता में ईसाइयों तथा सूफियों का प्रभाव बताते हैं । आइये विचार करें यह बात कहां तक सत्य है ।

पाश्चात्य विद्वानों का पक्षपात ।

पाश्चात्य देशों में भारत को पश्चिम का ऋणी ठहराने की परिपाटी सी चल गई है । छोटी से छोटी बात में भी समानता देख यह लोग केवल कल्पनाओं के आधार पर भारत को यूरोप के ऋण में दबाने का बेजा प्रयास करने लगते हैं । नौसिखिये भारतीय छात्र तो इस धार्मिक जोश के प्रकट करने में अपने गुरुओं से भी एक कदम आगे बढ़ जाते हैं और पद पद पर भारत को पाश्चात्य संसार के पीछे चलाने का प्रयत्न करते हैं । महाशय अहमदशाह इस बात के आदर्श उदाहरण हैं । आपने कबीर की 'खाल कुरेदने से' पहले ही मन में ठान लिया है कि उस गरीब पर

सूफियों और ईसाइयों का बड़ा भारी ऋण है, बस इस धारणा को मन में रख जब आप कबीर की व्याख्या करने निकलते हैं तो आपको जगह जगह उसकी कविता में ईसाइयों का हाथ दीखता है और सूफियों की छाप लगी प्रतीत होती है।

'पक्षपात चसमा चखनि आपुन परो लखाय' वाला मामला है।

परमात्मा करे भारत की सभ्यता पुरातत्त्वानुसन्धान के इन ठेकेदारों के पंजे से मुक्ति पावे और जनता में सदसद्विवेक का प्रचार हो। इन शब्दों के साथ अब हम विचार करते हैं कि सूफी लोगों का भारतीयों पर ऋण है अथवा भारतीयों का सूफी लोगों पर।

इस विषय में ४ पक्ष प्रबल हैं—

(१) सूफी धर्म पर ब्रह्म विद्या का प्रभाव है। सूफी धर्म तथा वेदान्त विद्या में भारी समानता है। यह समानता आकस्मिक नहीं है। Von Kremer इस पक्ष के नेता हैं।*

(२) सूफी धर्म पर बौद्धों का प्रभाव है। सूफी धर्म की उत्पत्ति से पहले और पीछे मिस्र आदि देशों में बौद्ध धर्म का प्रभावशाली प्रचार था। इस पक्ष के समर्थकों में Goldziher का नाम उल्लेख योग्य है। †

(३) सूफी धर्म की उत्पत्ति फारसी बोलने वाले आर्यों से हुई

---

*—"मेरे कथन का यह आशय है कि यथार्थ सूफी संप्रदाय का मूल, जैसा कि यह हमें दरवेशियों के अनेक पंथों में विकसित हुआ दृष्टि गोचर होता है, जो कि मेरी दृष्टि में प्रारंभिक ईसाई धर्म तथा आरंभिक इस्लामधर्म में उठने वाले, तपश्चर्यासमर्थक आन्दोलनों से सर्वथा भिन्न है, भारत के उस दर्शन में है जिसे हम वेदान्त दर्शन के नाम से पुकारते हैं"

फोन क्रेमर रचित Islamic Culture, खुदा बख्श द्वारा अनुवादित।

†—J. R. A. S. १९०४ पृष्ठ १२६ और १२९

है। प्रारंभिक अवस्था में उस पर ब्रह्मविद्या का प्रभाव नहीं पड़ा। इस पक्ष के नेता महाशय ब्राउन (Browne) हैं।*

(४) सूफी धर्म पर वाह्य प्रभाव पड़ा या नहीं यह बात अनिश्चित है। सम्भव है सूफियों पर बौद्धों तथा वेदान्तियों का प्रभाव पड़ा हो, क्योंकि दोनों ही का सूफियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। परन्तु उस प्रभाव को सिद्ध करने के लिये प्रमाणों की आवश्यकता है। इस पक्ष के नेता Margoliouth हैं। महाशय Nicholson†

---

*—"यद्यपि सैसानियन युग में, विशेषतः ईसा की छठी सदी में होने वाले नुशीरवां के राज्य में फारस और भारत के बीच भावों तथा सिद्धान्तों का विनिमय हुआ था, तथापि यह सिद्ध करना कि मुसलमानों के युग में उस समय से पहले तक, जब कि सूफी संप्रदाय पूर्णरूपेण विकसित हो चुका था, पिछले देश का पहले देश पर किसी प्रकार का भी प्रभाव पड़ा था, असभंव है। सूफी संप्रदाय का पूर्ण विकास उस समय हो चुका था जब कि अल विरुनी ने अपनी प्रसिद्ध डायरी रची।"

Literary History of Persia पृष्ठ ४१६

देखो Margoliouth की Early Development of Muhammadanism नामक पुस्तक का ५ वां और छठा अध्याय।

(†) 'बल्ख' ट्रांसओक्सियाना और तुर्किस्थान में मुसलिम विजय से पहले और पीछे बौद्धधर्म का प्रचार था। बौद्धभिक्षु इन देशों में बसे हुए मुसलमानों में अपनी धार्मिक प्रथाओं तथा दर्शनों का प्रचार करते थे।

Encyclopedia Britanica. Sufism.

'इस विषय में निकलसन का मत अनिश्चित है। पहले उनका विचार था कि सूफी धर्म की इस्लाम में स्वतन्त्र उत्पत्ति हुई है। परन्तु वह वाह्य प्रभाव की सम्भावना का एकान्ततः प्रत्याख्यान नहीं करते। साथ ही वह यह चुनौती भी देते हैं कि यदि सूफी धर्म पर वाह्य प्रभाव मानना ही है तो वह नियो-प्लेटोनिज्म और ग्नोस्टिसिज्म (ज्ञानवाद) का मानना

का मत पूर्णरूपेण निश्चित नहीं । वे पहले तो सूफी धर्म पर बाह्य प्रभाव मानते ही न थे परन्तु पीछे से Neo-platonism, Gnosticism तथा बौद्धों के प्रभाव को मानने लगे । उमेशचन्द्र भट्टाचार्य के विचार* अनिश्चित हैं ।

उपर्युक्तमतों पर विचार करने से पहले भारत तथा पश्चिम के प्राचीन संबन्ध पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है ।

चाहिये न कि किसी भारतीय दर्शन का । संभव है नियो-प्लेटोनिज्म और ग्नोस्टिसिज्म भारतीयदर्शन से प्रभावित हुए हों, परन्तु यह प्रश्न बहुत बड़ा है, इसका निर्णय न तो अब तक हुआ ही है और न भविष्य में इसके निर्णय की संभावना ही है । (J.R.A.S. १९०६ पृष्ठ ३२०) आगे आप कहते हैं कि 'यद्यपि प्रत्यक्षतः सूफी धर्म पर पड़ने वाला भारतीय प्रभाव निश्चित रूप से बहुत अधिक है तथापि यह सूफी धर्म में बहने वाली ग्रीक और सीरियन विचार धारा की अपेक्षा अवर तथा गौण है ।'

J.R.A.S. 1906 पृ० ३२० Indian Antiquary १९२६ पृष्ठ ६८ से उद्धृत ।

* Indian Antipuary १९२७ पृष्ठ ७२ पर अपने लेख का परिणाम निकालते समय उमेशचन्द्र भट्टाचार्य लिखते हैं—

'उपर्युक्त विचार का निष्कर्ष यह है कि ब्रह्मविद्या की ओर से किये जाने वाले, Von Kremer के दावे में अत्युक्ति है । यह दावा सिद्ध नहीं होने पाया, रही यह बात कि क्या ब्रह्मविद्या का सूफी धर्म पर प्रभाव पड़ा था, और यदि पड़ा था तो कितना और कब, इसके विषय में किसी प्रकार का परिणाम नहीं निकाला जा सकता, यद्यपि कुछ ऐतिहासिक बातें इस प्रभाव की संभावना को उत्पन्न अवश्य करती हैं । डा० मार्गोलियथ के कथनानुसार हम संभावना कर सकते हैं कि सूफीधर्म पर, इसके विकास की किसी न किसी दशा में ब्रह्मविद्या का प्रभाव पड़ा था, परन्तु दुर्भाग्यवश इस प्रभाव को चारुरूप से सिद्ध करने के लिये हमारे पास प्रमाणों की न्यूनता है ।'

उसके लिये संक्षेप में कहा जा सकता है कि—

(१) हिन्दुओं के दार्शनिक विचार अत्यन्त प्राचीनकाल में भारत से बाहर फैल गये थे।

(२) वह पश्चिमीय एशिया के मध्य में अर्थात् अरब, सीरिया फारस और मिस्र में, जहां कि सूफी धर्म का अभ्युदय हुआ था, फैल चुके थे।

(३) सूफी सम्प्रदाय की उत्पत्ति से पहले भारत के दार्शनिक विचारों का उपर्युक्त देशों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ रहा था।

उपर्युक्त संकेतों पर निम्नलिखित बातों से प्रकाश पड़ता है—

(अ) अत्यन्त प्राचीनकाल से भारत तथा पाश्चात्य देशों के बीच यातायात होना रहा है।

(आ) हिन्दू लोग भारत से बाहर जाते थे, उन्हों ने पश्चिमीय एशिया में नई आबादियां भी स्थापित की थीं।

(इ) जहां जहां सूफी संप्रदाय की उत्पत्ति और विकास हुआ, वहां वहां इस्लाम की उत्पत्ति से पहले और पीछे बौद्धधर्म विद्यमान था।

(ई) बगदाद के खलीफाओं के दरबार में संस्कृत का आदर था, विशेषतः ८वीं सदी के पिछले वर्षों में।

प्राचीन काल में भारतीय भिक्षु धर्म-प्रचार के लिये विदेशों को जाते थे।

पाश्चात्य देशों के साथ होने वाले भारत के अतीत सम्बन्ध पर विचार करते समय यह बात याद रखनी चाहिये कि जहां भारत सदाकाल से धर्म-प्राण रहा है वहां वह सदाकाल से धर्म का प्रचार करने* में तत्पर भी रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मणों की संकोचात्मक† मानसिक स्थिति के कारण हिन्दुओं की

---

*—देखो Hinduism and Buddhism भाग ३ अन्तिम अध्याय। † इस विषय में Deussen के लेख मनन करने योग्य हैं।

धर्मप्रचाराभिलाषा प्रलम्ब युगों के लिये दबती रही है, परन्तु साथ ही यह बात भी इतिहास सिद्ध है कि क्षत्रियों की विकासात्मक शक्तियों द्वारा सहायता पाकर यह इष्ट साधन के लिये बार बार प्रयत्नशील भी होती रही है। हिन्दी-चीन और सुमात्रा जैसे सुदूर प्रदेशों में हिन्दू धर्म की स्थापना और संस्कृत भाषा का आश्चर्य जनक प्रचार इस बात में ज्वलन्त* प्रमाण हैं। भारत से उठने वाली धर्म प्रचार की तरंगें पश्चिम की अपेक्षा पूर्व की ओर अधिक बहीं, परन्तु पश्चिम में भी उनका प्रभावशालिता के साथ पहुँचना इतिहास से सिद्ध है। हम प्राचीनकाल से सुनते आये हैं कि स्थल मार्ग द्वारा भारत में फारस तथा बैक्ट्रिया से क्या क्या आया, परन्तु जहां आयात इतना था वहां निर्यात भी कुछ न कुछ रहा ही होगा। लगभग ७०० बी० सी० से जल मार्ग द्वारा भारत का फारस की खाड़ी, अरब, तथा लाल समुद्र (Red Sea) के साथ अनवरत सम्बन्ध रहा है। Buhler के कथनानुसार भारत ने अरब से Semitic वर्ण माला सीखी थी यद्यपि Buhler का यह सिद्धान्त अब अप्रमाणित हो चुका है। जातकों में 'बवेरु' अथवा बेबिलन जाने वाले व्यापारियों का जिक्र आता है। Soloman के व्यापारिक प्रयत्न प्रसिद्ध हैं। Rawlinson अपनी Intercourse between India and the Western world नामक पुस्तक में इस विषय पर विस्तार के साथ विचार करते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से भारत† और पश्चिम के बीच तीन व्यापारिक महा पथ चलते आये हैं। व्यापार के साथ सभ्यता का यातायात अनिवार्य था। इनमें से एक व्यापार पथ भारत को

*—देखो Wackernagal रचित Gramatika का आरम्भिक वक्तव्य।

† 'ऐतिहासिक काल से भी पहले से तीन व्यापार महापथ भारत को पश्चिम के साथ सम्बद्ध करते रहे हैं' Rawlinson.

दक्षिण अरब की सुप्रसिद्ध सोने की खानों के साथ जोड़ता था* । यही पथ भारत को मिस्र और जुडिया के साथ भी मिलाता था ।

परन्तु प्राचीन काल में होने वाले भारत के धर्म प्रचार को सिद्ध करने वाला प्रबलतम प्रमाण अशोक के शिला लेख हैं† (२५६ बी० सी०) । इनमें से एक में प्रियदर्शी दावा करता है कि उसने Antiochus के और उससे भी परे Ptolemy Antigonus, Magas और अलक्ष्येन्द्र के राज्यों में 'धर्म' का प्रचार किया है । 'प्रस्तुत राजाओं का सीरिया, मिस्र, मकदूनिया, सायरीन, और एपिरस (Epirus) के तात्कालिक राजाओं के साथ ऐक्य प्रमाणित हो चुका है । अशोक वारवार अपनी धर्म विजय को दूसरे राजाओं की दिग्विजय के साथ तुलना की दृष्टि से मिलाता है । यह तुलना सुतरां सत्य है, क्योंकि उसने अपने धर्म का उन सुदूर देशों में प्रचार किया था जहां की जनता उसके नाम तक को नहीं जानती थी ।

इस विषय में प्रबलतम प्रमाण अशोक के लेख हैं

शिलालेख अक्षरशः सत्य न भी हो तो भी इससे दो बात स्पष्ट हो जाती हैं । पहली यह कि मिस्र तथा सीरिया आदि दूरवर्ती देश अशोक कालीन भारतीयों के लिये सचमुच देशविशेष थे, न कि

---

* 'इनमें से एक व्यापार महापथ भारत को दक्षिण अरब तथा सोमालिलैण्ड की सुवर्ण खानों तथा प्रचुर धनशाली सुगन्धि प्रदेश से ही सम्बद्ध नहीं करता था, प्रत्युत जुडिया तथा मिस्र के साथ भी जोड़ता था ।
Rawlinson.

† 'पि योजनशतेपु यत्र अंतियोको नम योनरज परंच तेन अंतियोकेन चतुरे रजनि तुरमये नम अंतिकिनि नम मक नम अलिकसुदरो नम अवंय पंनिय एवमेवे हिद रजविशवशि योनकंबोयेपु नभके, नतिन भोजपितिनिकेपु अंध्रपुलिन्देपु' इत्यादि । Rock Edict 13. शाहबाझगढी और कालसी ।

कल्पित स्थान विशेष । दूसरी यह कि अशोक इन सुदूरवर्ती देशों में अपने धर्म का प्रचार करना चाहता था और उसकी छत्रच्छाया में रहने वाले बौद्धभिक्षु इस बात में उसका पूरा पूरा साथ दे रहे थे। इन दोनों बातों से इतना प्रत्यक्ष हो जाता है कि बौद्ध भिक्षु भले ही मकदूनिया तथा एपिरस जैसे सुदूर देशों में न पहुँच पाए हों वे कम से कम बेबिलन और अलेग्ज़ेण्ड्रिया तक तो अवश्यमेव पहुँच चुके थे ।

ईसा के पश्चात् भारत और पाश्चात्य देशों का पारस्परिक सम्बन्ध प्रत्यक्ष है ।

ईसा के पश्चात् उत्पन्न होने वाला अपोलोनियस (Appoll-onius) भारत को दर्शनों का भंडार समझता था । मेम्फिस (Memphis) में भारतीयों* ने आबादियां बसाई थीं । चित्रों में होरस (Horus) को भारतीय आसनमुद्रा में कमल के ऊपर बैठा हुआ दर्शाया गया है । पेपीरस (Papyrus) पर कैनरी भाषा के लेख प्राप्त हुए हैं, जिनका समय ईसा के पश्चात् दूसरी सदी कूता जाता है । २१ ए० डी० में आगस्टस (Augastus) ने एथेंज नगर में भारतीय राजदूत का स्वागत किया था ।

पंजाब की जातियों ने पश्चिम एशिया में आबादियां बसाई थी

† इतिहास कहता है कि भारतीय जातियां पंजाब से पार्थिया को और वहां से आरमीनिया को (१४९—१२७ बी० सी० में) गई थीं । (Trajan) के समय में भारतीयों ने अलेग्ज़ेण्ड्रिया में नई आबादी स्थापित की थी। इस प्रकार की आबादियां और भी रही होंगी जिनके विषय में लेख बद्ध सामग्री के न मिलने के कारण कुछ नहीं कहा

* Hinduism and Buddhism भाग ३ पृष्ठ ४२१

† J. R. A. S. १९०४, पृष्ठ ३१६ ।

जा सकता।

भारतवासियों द्वारा पश्चिम एशिया में बसाई गई आवादियों में से एक के चिह्न आरमीनिया में पाए गये हैं। इस बात का निश्चय करना कठिन है कि आरमीनिया पहुँचने वाले यह भारतीय, हिन्दू धर्मावलंवी थे अथवा कोई और*। वह कोई भी रहे हों, यहां तो इतना ही सिद्ध करना है कि प्राचीन भारतीय विदेशयात्रा करते थे और बड़ी संख्या में एकत्र हो कर भी करते थे। हिन्दुओं का राज्य बहुत दिनों तक काबुल और उससे परे के देशों में प्रचलित था†। इन बातों से परिणाम निकलता है कि सूफी धर्म के उत्पत्तिस्थानों में हिन्दू सभ्यता उसकी उत्पत्ति से पहले उपस्थित थी।

आरमीनिया में ऐसी आवादी के चिन्ह पाए गये हैं

उन देशों में जहां कि सूफीधर्म उत्पन्न हुआ, फला, और फूला, इसकी उत्पत्ति से बहुत पहले और उत्पति के समय बौद्धधर्म विद्यमान था। Nicholson कहता है—

इन देशों में बौद्ध धर्म बहुत दिन पहले से विद्यमान था

'Buddhism flourished in Balkh, Transoxiana, and Turkestan before the Muhammadan conquest and in earlier times. Buddhist monks carried their religious practices and philosophy among the Moslems

---

* अन्त में हम बहुत कुछ निश्चय के साथ परिणाम निकाल सकते हैं कि आरमीनिया पहुंचने वाले भारतीयों का उद्भव उस जाति से हुआ था जिससे कि आधुनिक राजपूत आदि जातियां विकसित हुई हैं"

Kennedy.

† Al-Biruni ch. XLIX. Elliot's History of India.

who had settled in those countries.*

खलीफ़ा हारूं अलरशीद के दरबार में भारतीय वैद्य विद्यमान थे । खलीफ़ा अल मामून के समय बगदाद के दरबार में संस्कृत का यथेष्ट आदर था।†

आठवीं सदी में बगदाद में संस्कृत का आदर था

उपर्युक्त बातों से अनुमान होता है कि इस्लाम की उत्पत्ति से पहले और पीछे इस्लाम के केन्द्र देशों में हिन्दू तथा बौद्धों के दर्शन पहुँच चुके थे। ऐसी दशा में बहुत अधिक संभव है कि सूफी धर्म ने रुचते हुए मन्तव्यों को भारतीय दर्शन से ले लिया हो ।

प्रोफेसर Goldziher के मत में सूफी धर्म ‡ पर बौद्धों का प्रभाव पड़ा है । वह बौद्धों के कर्मवाद की इस्लाम की 'किस्मत' के साथ तुलना करते हैं । सूफियों के 'फना' विषयक मन्तव्य की बौद्धों के निर्वाण के साथ तुलना करते हैं। मुसलिम दरवेशी तथा बौद्धभिक्षुओं में विशेष प्रकार की समानता देखते हैं । यदि यह बातें सत्य हैं तो सूफियों पर बौद्धों के प्रभाव का पड़ना भी सत्य है। इस बात में हम आप से सहमत हैं ।

Goldziher सूफियों पर बौद्धों के प्रभाव को मानते हैं

परन्तु बौद्ध भिक्षुओं के समान भारत के अन्य दार्शनिक भी विदेशों को जाते रहे होंगे । ईसा के पश्चात् ६ठी सदी में भारत और फारस का दार्शनिक सम्बन्ध था इस बात को Browne§

बौद्धों के साथ भारत का वेदान्त भी सूफी देशों में पहुँच सकता था

* Encyclopedia Britanica. Sufism.

† Elliot's History of India ५. ५७०.

‡ J. R. A. S. १९०४ पृष्ठ १२६; J. R. A. S. १९०६ पृष्ठ ३०५; J. R. A. S. १९०४ पृष्ठ १३५ ।

§ Literary History of Persia.

भी मानते हैं। ८वीं सदी में बगदाद के दरबार ने हिन्दुओं को अपने यहां आमंन्त्रित किया था और उनसे संस्कृत ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया था*। इन ग्रन्थों में बहुत से ग्रन्थ दार्शनिक भी अवश्यमेव रहे होंगे। ७वीं सदी में भी भारत और पाश्चात्य देशों का यह संबन्ध बना ही रहा होगा । और यही दिन थे जब कि इस्लाम अपने आप को सुदृढ बना रहा था। यदि ६ठी सदी में भारतीयों के दार्शनिक विचार पश्चिम के वातावरण में मंडला सकते हैं और यदि ८वीं सदी में पश्चिम के राजा और उनकी प्रजा उनका स्वागत कर सकते हैं तो क्या यह बात कदापि सम्भव है कि ७वीं सदी में मुसलिम देशों ने उनका एकान्ततः बहिष्कार कर दिया हो ? यदि बौद्धधर्म इस युगके पश्चात् भी वहाँ शक्तिशाली रूप में बना रह सकता है तो क्या हिन्दू धर्म ही एक ऐसा धर्म था जिसके साथ वहाँ की जनता ने पूर्ण असहयोग कर दिया हो ? इन सब बातों से अनुमान होता है कि भारत का सूफी धर्म पर उन दिनों शक्तिशाली प्रभाव पड़ा था ।

इस विषय में Nicholson का मत अनिश्चत है

पहले कहा जा चुका है कि Nicholson का मत इस विषय में अनिश्चित है। आप फर्माते हैं कि 'मेरी दृष्टि में इस प्रकार के छायावाद की उत्पत्ति स्वयं इस्लाम से हुई है, अथवा उससे होनी संभव है। मुसलमानों के अल्लाह विषयक मन्तव्य का यह स्वाभाविक परिणाम है। उस मन्तव्य से धार्मिक-

* 'बारमाक के मंत्रिवंश ने हिन्दू विद्वानों को बगदाद में बुलाया, उन्हें अपने चिकित्सालयों में प्रधान वैद्य बनाया, और उनसे वैद्यक, फार्मेसी, विष विद्या, दर्शन, ज्योतिष तथा अन्य विषयों की संस्कृत पुस्तकों का अरबी में अनुवाद कराया। इससे पीछे के काल में भी मुसलिम विद्वान् इन्हीं उद्देश्यों के लिये यात्रा करते रहे थे'।

Sauchau अल बिरुनी का अनुवाद भूमिका पृष्ठ २१.

who had settled in those countries.*

खलीफा हारूँ अलरशीद के दरबार में भारतीय वैद्य विद्यमान थे। खलीफा अल मामून के समय बगदाद के दरबार में संस्कृत का यथेष्ट आदर था।†

आठवीं सदी में बगदाद में संस्कृत का आदर था

उपर्युक्त बातों से अनुमान होता है कि इस्लाम की उत्पत्ति से पहले और पीछे इस्लाम के केन्द्र देशों में हिन्दू तथा बौद्धों के दर्शन पहुँच चुके थे। ऐसी दशा में बहुत अधिक संभव है कि सूफी धर्म ने रुचते हुए मन्तव्यों को भारतीय दर्शन से ले लिया हो।

प्रोफेसर Goldziher के मत में सूफी धर्म ‡ पर बौद्धों का प्रभाव पड़ा है। वह बौद्धों के कर्मवाद की इस्लाम की 'किस्मत' के साथ तुलना करते हैं। सूफियों के 'फना' विषयक मन्तव्य की बौद्धों के निर्वाण के साथ तुलना करते हैं। मुस्लिम दरवेशी तथा बौद्धभिक्षुओं में विशेष प्रकार की समानता देखते हैं। यदि यह बातें सत्य हैं तो सूफियों पर बौद्धों के प्रभाव का पड़ना भी सत्य है। इस बात में हम आप से सहमत हैं।

Goldziher सूफियों पर बौद्धों के प्रभाव को मानते हैं

परन्तु बौद्ध भिक्षुओं के समान भारत के अन्य दार्शनिक भी विदेशों को जाते रहे होंगे। ईसा के पश्चात् ६ठी सदी में भारत और फारस का दार्शनिक सम्बन्ध था इस बात को Browne§

बौद्धों के साथ भारत का वेदान्त भी सूफी देशों में पहुँच सकता था

---

* Encyclopedia Britanica. Sufism.

† Elliot's History of India ५. २७०.

‡ J. R. A. S. १९०४ पृष्ठ १२६; J. R. A. S. १९०६ पृष्ठ ३०५; J. R. A. S. १९०४ पृष्ठ १३५।

§ Literary History of Persia.

भी मानते हैं। ८वीं सदी में बगदाद के दरबार ने हिन्दुओं को अपने यहां आमंन्त्रित किया था और उनसे संस्कृत ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया था*। इन ग्रन्थों में बहुत से ग्रन्थ दार्शनिक भी अवश्यमेव रहे होंगे। ७वीं सदी में भी भारत और पाश्चात्य देशों का यह संबन्ध बना ही रहा होगा। और यही दिन थे जब कि इस्लाम अपने आप को सुदृढ बना रहा था। यदि ६ठी सदी में भारतीयों के दार्शनिक विचार पश्चिम के वातावरण में मंडला सकते हैं और यदि ८वीं सदी में पश्चिम के राजा और उनकी प्रजा उनका स्वागत कर सकते हैं तो क्या यह बात कदापि सम्भव है कि ७वीं सदी में मुसलिम देशों ने उनका एकान्ततः बहिष्कार कर दिया हो ? यदि बौद्धधर्म इस युगके पश्चात् भी वहाँ शक्तिशाली रूप में बना रह सकता है तो क्या हिन्दू धर्म ही एक ऐसा धर्म था जिसके साथ वहाँ की जनता ने पूर्ण असहयोग कर दिया हो ? इन सब बातों से अनुमान होता है कि भारत का सूफी धर्म पर उन दिनों शक्तिशाली प्रभाव पड़ा था।

इस विषय में Nicholson का मत अनिश्चत है

पहले कहा जा चुका है कि Nicholson का मत इस विषय में अनिश्चित है। आप फ़र्माते हैं कि 'मेरी दृष्टि में इस प्रकार के छायावाद की उत्पत्ति स्वयं इस्लाम से हुई है, अथवा उससे होनी संभव है। मुसलमानों के अल्लाह विषयक मन्तव्य का यह स्वाभाविक परिणाम है। उस मन्तव्य से धार्मिक-

* 'बारमाक के मंत्रिवंश ने हिन्दू विद्वानों को बगदाद में बुलाया, उन्हें अपने चिकित्सालयों में प्रधान वैद्य बनाया, और उनसे वैद्यक, फार्मेसी, विष विद्या, दर्शन, ज्योतिष तथा अन्य विषयों की संस्कृत पुस्तकों का अरबी में अनुवाद कराया। इससे पीछे के काल में भी मुसलिम विद्वान् इन्हीं उद्देश्यों के लिये यात्रा करते रहे थे'।

Sauchau अल बिरुनी का अनुवाद भूमिका पृष्ठ ३१.

निष्ठा वाले मुसलमानों का परितोष होना कठिन था।*

आगे चल कर इसी लेख में आप कहते हैं कि सूफियों के फना विषयक सिद्धान्त पर बौद्धों का प्रभाव पड़ा है।

कुछ और आगे चल कर आप कहते हैं कि यदि सूफियों पर वाह्यप्रभाव मानना ही है तो Neo Platonism तथा Gnosticism का मानना चाहिये।†

इसी लेख में आप सूफियों पर भारत के प्रभाव को मानने के लिये भी तैयार हो जाते हैं, परन्तु यह सूफी धर्म की प्रारंभिक दशा में नहीं, प्रत्युत उसके विकसित हो चुकने के कुछ पश्चात्।‡

सब कुछ कह चुकने के पश्चात् आप परिणाम निकालते हैं कि यदि सूफी धर्म पर वाह्य प्रभाव मानना ही है तो वह Neo-Platonism और Gnosticism का मानना चाहिये।

सूफी धर्म पर नियोप्लेटोनिज्म का प्रभाव मानने में हमें भी आपत्ति नहीं

सूफी धर्म पर नियोप्लेटोनिज्म का प्रभाव मानने में हमें भी आपत्ति नहीं। इब्न सिना (Avicenna) इब्न रुशद (Averroes) आदि अरब विद्वानों पर ग्रीक दर्शन का § प्रभाव पड़ा था। नियोप्लेटोनिस्ट दार्शनिकों ने (५३२ ए० डी० में) नुशीरवां के दरबार में शरण ली थी। ऐसी अवस्था में यदि सूफी धर्म और नियो-प्लेटोनिज्म में गहरी समानताएं दृष्टिगत होती हैं तो बहुत अधिक संभव है, सूफी धर्म पर नियोप्लेटोनिज्म का प्रभाव पड़ा हो, परन्तु साथ ही यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि नियोप्लेटोनिज्म भारतीय सिद्धान्तों

---

* J. R. A. S. १९०६ पृष्ठ ३०५

† J. R. A. S. १९०६ पृष्ठ ३२०

‡ Indian Antiquary १९२७ पृष्ठ ६८

§ Hinduism and Buddhism भाग ३ पृष्ठ ४६०

ही की विकसित प्रतिध्वनि है । *

उपर्युक्त संदर्भ से प्रत्यक्ष है कि सूफीधर्म की पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के सिद्धान्तों से समानता है। परन्तु क्या कोई विचारशील पुरुष इस बात को कह सकता है कि सूफीधर्म की टोन का नियो-प्लेटोनिज्म की टोन के साथ ऐक्य है ?

सूफी धर्म और नियो-प्लेटोनिज्म की टोन में भारी भेद है

सूफी धर्म के प्रधान लक्षण हैं सर्वेश्वरवाद, आनन्दवाद, आश्रमादिस्थापन, धार्मिक जीवन का यात्रा के रूप में वर्णन करना, परमात्मसंमिलन के वर्णन में प्रेम, शराब तथा गान आदि के उदाहरण और उपमाएं देना, और आत्मा की संतानवाहिनी सत्ता में विश्वास करना इत्यादि। इनमें से शृङ्गार रस का उपयोग जैसा हिन्दुओं के यहां है वैसा ही पूर्व के अन्य देशों में भी प्रचलित है। परन्तु क्या सर्वेश्वरवाद के इस कथन का कि, 'मैं हूं तू और तू है मैं' उद्भास भी नियो-प्लेटोनिज्म में कहीं दीख पड़ता है ?

सूफी धर्म के प्रधान लक्षण नियो-प्लेटो-निज्म के साथ नहीं मिलते

यद्यपि विकसितावस्था से पहले और पश्चात् के सूफीधर्म में भेद की एक रेखा खींची जा सकती है, और पश्चात् के सूफीधर्म पर भारतीयों का प्रभाव माना भी जाता है, परन्तु सूफी धर्म के पूर्ण विकास से पहले भी एक वेदान्ती (अल हलाज) को 'मैं सत्य हूं और मैं परमात्मा हूं' कहने पर फांसी मिली थी । साथ ही अलहलाज का मंत्र जंत्र सीखने के लिये भारत में आना भी सब को अभिमत है ।

फरीदुद्दीन अत्तार ने भारत और तुर्किस्तान में यात्रा की थी,

* Hinduism and Buddhism भाग ३ पृष्ठ ४६०

सूफी धर्म की विकसितावस्था में उस पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है, सूफी धर्म की प्रारंभिक अवस्था में भी भारतीय दर्शन का उस पर प्रभाव पड़ा था

जलालुद्दीन रूमी 'बौद्धधर्म के केन्द्र' बलख में उत्पन्न हुआ था, सादी ने बलख, ग़ज़ना, पंजाब और गुजरात की यात्रा की थी और मन्दिरों के दर्शन किये थे । इन बातों से प्रत्यक्ष है कि तात्कालिक पण्डितसमाज भारत को विद्या का केन्द्र समझ दूर दूर के देशों से यहां आता था, और जो लोग कारण वश यहां नहीं आ सकते थे वे परम्परया अपने देशों में पहुंचे हुए भारतीय सिद्धान्तों से लाभ उठाते थे । बगदाद में खिलाफत की स्थापना के पश्चात् ८वीं सदी में हिन्दू विद्वान् वहां पहुँचे थे और उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया था । इन दिनों बगदाद की जनता भारत के धार्मिक ग्रन्थों को रुचि के साथ पढ़ती थी । अलबिरुनी की पुस्तक से स्पष्ट है कि मुसलमान लोग, विशेषतः बगदाद और फारस के, ऐसे सिद्धान्तों और मन्तव्यों से एक प्रकार का प्रेम रखते थे, जो उनकी साम्प्रदायिक कट्टरता को शान्त करते थे । खलीफा मामून का तो इन सिद्धान्तों के साथ प्रेम करने के कारण नाम ही 'काफिर' पड़ गया था । इन सब बातों से अनुमान होता है कि मोहम्मद के जन्म से पहले भारतीय मन्तव्य पश्चिमीय एशिया में विस्तृतरूपेण प्रचलित थे । परन्तु इस्लाम जैसे कट्टर सम्प्रदाय की प्रारंभिक विजयों के सामने वहां पहुँचे हुए भारत के सार्वजनिक सिद्धान्तों का कुछ दिनों के लिये दब जाना स्वाभाविक था, परन्तु विजयावेश के ठण्डा पड़ जाने पर उन्हों ने फिर बल पकड़ा और वे इस्लाम के सुधारितरूपों (सूफी आदि संप्रदायों) पर द्विगुणित शक्ति के साथ अपना प्रभाव डालने लगे । यह प्रभाव सूफी लोगों की भारत यात्राओं से दिनों दिन अधिकाधिक होता गया । इस प्रकार हमने संक्षेप में देख लिया

कि अत्यन्त प्राचीन काल से सार्वजनिक सिद्धान्तों की धारा पश्चिम से पूर्व की ओर नहीं, प्रत्युत पूर्व से (भारत से) पश्चिम की ओर बहती रही है।

उपर्युक्त ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हमें अहमदशाह और ग्रियर्सन का यह कथन कि कबीर ने शब्द की शिक्षा ईसाइयों से और अन्य बहुत सी बातों की दीक्षा सूफियों से ली है, थोथा प्रतीत होने लगता है।*

कबीर ने मुख्य मुख्य सिद्धान्त विदेशियों से नहीं लिये

कबीर की कविता में ईश्वरजगदभेदवाद की ध्वनि है, वह उपनिषदों में आवश्यकता से अधिक है। कबीर का राम निराकार होते हुए भी व्यक्तिरूप है, यह बात गीता में विस्तार के साथ मिलती है। कबीर के मर्म यही हैं, और इनके लिये उसे विदेशियों का दरवाजा खटखटाने की आवश्यकता नहीं थी।

कबीर का शब्द, शब्द ब्रह्म ही का एक रूपविशेष है, और शब्द ब्रह्म भारत की प्राचीन संपत्ति है।

रही शब्द अथवा 'Logos' की बात। इसकी भिक्षा के लिये न तो भारतवासी आज तक बाहर गये ही हैं और न भविष्य में उन्हें इसके लिये बाहर जाने की आवश्यकता ही पड़ेगी। कबीर के शब्द की वेदों की वाग्देवी के साथ तुलना करने में तो दोनों महानुभाव झिझकते हैं परन्तु विदेशीय 'Logos' के साथ उसकी तुलना करने में दोनों साहब गहरे परन्तु बेतुके हाथ दिखाते हैं। कबीर की भावुकता के साथ यह घोर अन्याय है, दिन दहाड़े उस पर चोरी का इल्जाम है।

शब्द ब्रह्म के बीज वेदों में मिलते हैं। ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा शिक्षाओं में उसकी प्रस्फुटित अवस्था दीख पड़ती है। उप-

---

* Mediaeval India का कबीर प्रकरण।

निपदों में उसका नाम ओम् है । मीमांसा उसे नित्य बताती है । नैयायिक उसे खूब पहचानते हैं । वेदांतियों का यह प्रिय विषय है । वैयाकरणों का वह एकमात्र आधार है। पुस्तक के आरम्भ में 'स्फोट-रूपं यतः सर्वं जगदेतत् प्रवर्तते' इत्यादि कहे बिना नागेश से आगे बढ़ा ही नहीं जाता । वाक्यपदीय में उसका विस्तार के साथ व्याख्यान है । कहां तक कहें संस्कृत साहित्य से यदि शब्दब्रह्म को निकाल दिया जाय तो यह निर्जीव रह जाता है । शब्द ब्रह्म को पश्चिम से लिया हुआ बताना दूसरे शब्दों में यह कहना है कि भारत ने सर्वस्व ही पश्चिम से उधार लिया है ।

कबीर ने इस्लाम से प्रकारवाद का खण्डन सीखा है ।

यदि कबीर ने इस्लाम और ईसाई धर्म से कुछ सीखा ही है तो वह है सामाजिक स्वातन्त्र्य, जाति पांति के बन्धनों का खण्डन, और मूर्ति पूजा का निराकरण । इस्लाम के संपर्क से उसकी कविता में लावण्य का संचार हो गया है, उसके शब्द साधारण समाज में घर करने वाले बन गये हैं, उनमें प्रेम का, आशिक और माशूक के प्रणय का, उनके नाज़ और नखरों का सम्मिलन हो गया है । अमित सौन्दर्य पर प्रसन्न शराब की छटा छिटकी गई है । कबीर की उदात्त वीणा में रमणी का मधुर संगीत मिल गया है । वेदांत की स्फटिक शिला पर लावण्य के चरण रक्खे गये हैं । इन बातों में सम्भव है कबीर सूफियों का ऋणी हो । प्रकारवाद का खण्डन उस ने श्रमजीवि-वर्ग से सीखा था । उसकी जाति में आज भी भेदवाद नहीं, समाज के आतङ्कमय बन्धन नहीं, और साटोप परिष्कार नहीं । साम्यस्थापन के लिये कबीर इस संसार में आया था और साम्य-स्थापना का मूलमन्त्र उसने श्रमजीवि मुसलिमवर्ग तथा प्रकृति-देवी से सीखा था ।

अध्याय ८

प्राचीन भक्त कवि—कृष्ण संप्रदाय।

रामानन्द, कबीर तथा नानक के अनुयायी परमात्मा को प्रायः राम के नाम से पुकारते हैं। रामानन्द के अनुयायी राम को परमात्मा का अवतार समझते थे और मूर्ति पूजा से सहमत थे। कबीर और नानक ने अवतार तथा प्रतिमापूजन का खण्डन किया, परन्तु फिर भी उनके उपदेशों में राम के प्रति भक्ति थी। उनका राम अदृश्य परमात्मा था, न कि मनुष्य के रूप में अवतार।

इसी युग में वैष्णवों का दूसरा संप्रदाय परमात्मा को कृष्णावतार के रूप में पूज रहा था। रामपूजा की भांति कृष्णपूजा का जन्म भी इस युग से बहुत पहले हो चुका था, परन्तु इस युग में उसे नये जीवन की प्राप्ति हुई। कभी कभी कृष्ण की पूजा बालक के रूप में की जाती थी, परन्तु जन साधारण कृष्ण के उस रूप की पूजा करना अधिक पसन्द करते थे जिसका राधा तथा अन्य गोपियों के साथ रागात्मक सम्बन्ध है।

राधागोविन्द की स्तुति में बनाई जाने वाली कविता का जन्म १२वीं सदी से पहले हुआ था। १२ सदी में जयदेव ने संस्कृत में गीतगोविन्द नाम का गीतिकाव्य लिखा था, और १४वीं सदी में, बंगला में राधागोविन्द सम्बन्धी कविता का खासा प्रचार हो चुका था। १४५०-१४८० के बीच नरसिंह मेहता नाम के गुजराती कवि ने अपनी भाषा में राधागोविन्द के गीत गाये थे, और हिन्दी में भी, जनश्रुति के अनुसार, कृष्ण की भक्ति में उन्हों ने अनेक कविताएं रची थीं।

कृष्ण संप्रदाय और परकीय रस—

वैष्णवों की दृष्टि में कृष्ण परमात्मा के अवतार हैं। उन्हें आकाश के रंग का बताया जाता है। यही रंग प्रकृति का भी मुख्य रंग है। आकाश, जल, समुद्र तथा दूर के दृश्यों में यह रंग समान रूप से पाया जाता है। संसार की शाद्वल भूमियां भी इसी रंग की हैं। कृष्ण के सिर पर फूलों का और मोर के पंखों का एक मुकुट बांधा जाता है। इसमें इन्द्र धनुष की भावना की जाती है। इन्द्र धनुष आकाश तथा पृथ्वी के मध्य में दीखने वाले भिन्न भिन्न रंगों का प्रतीक है। कृष्ण के हाथ में वीणा है, जब वह अपनी वीणा को बजाता है, जमुना अपना मार्ग छोड़ नीरव खड़ी हो जाती है। परमात्मा के प्रेम संकेत को देख मनुष्य विवश हो उसकी ओर खिंच जाता है। मनुष्य का आत्मा ही राधा है। परमात्मा का दर्शन करने पर राधा का जन्म सफल हो जाता है।

वात्सल्य भाव

वास्तव में वैष्णव लोग गृहस्थ को ही सर्वोपरि स्वर्ग मानते हैं। इसमें परमात्मा की सब कलाओं का प्रतिफलन है। माता के प्रेम को लीजिये। बच्चे के जन्म से पूर्व उसके स्तनों में दूध कहां था? परन्तु बालक के उत्पन्न होते ही दूध और प्रेम दोनों की धारा बह निकलती है। वैष्णव की दृष्टि में यह बात परमात्मा का प्रतीक है। पिता, जो पुत्रोत्पत्ति से पहले कठोर दिलवाला सांसारिक पुरुष था पुत्र को देखते ही प्रेम का स्रोत बन जाता है। कुटुम्ब के इस वात्सल्यभाव में वैष्णव को परमात्मा की लीला दीख पड़ती है। इसी प्रकार सख्य तथा शान्त भावों में भी वह परमात्मा की भावना करता हुआ संसार के बन्धनों को दैविक प्रेम पाश समझता और सभी में आनन्द प्राप्त करता है।

परन्तु पति और पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध में व्यक्त होने वाला मधुरभाव इन सब से कहीं ऊपर है। इसमें आत्मा के रुचिर

भावों का सार है, और मन की सौम्य वृत्तियों का निष्कर्ष है। रमणी के गुलाबी गालों में उषा का नाच है, उसकी चितवन में अमृत और विष दोनों का स्राव है। पुरुष और स्त्री के मध्य होने वाले प्रेमकलह, छलना, मान, मानभङ्ग, विरह और मिलन आदि से मधुरभाव की पुष्टि होती है। आत्मिक प्रेम को व्यक्त करने के लिये वैष्णव लोग इसी मधुर भाव का उपयोग करते हैं।

मधुर भाव में धार्मिक भावना

मधुरभाव के प्रतीक में वैष्णव लोग आत्मसम्मिलन की भावना करते हैं। अभ्यास करते करते उनका आत्मा तन्मय हो जाता है और प्रकृति का तनिक सा सैन उन्हें लोकान्तरित करने के लिये पर्याप्त हो जाता है। आकाश में छाई हुई नीली घटा को देख चैतन्य मन्त्रमुग्ध हो जाते थे और उसमें प्रतिफलित परमात्मा की मूर्ति को लख लोकान्तरित हो जाते थे। उनकी दृष्टि में प्रकृति आत्मा का प्रतीक मात्र है, बाह्य पदार्थ विश्व के अन्तस्तल में वहने वाली सत्ता के आवरण मात्र हैं। भारतीय कविता का परिपाक इसी आदर्शवाद में है। जमना और वृन्दावन का नाम प्रत्येक भारतीय की जिह्वा पर है। इन दो प्रतीकों में भारतीयों की प्रगाढ धार्मिक तृष्णा एकत्र है। यह दोनों प्रतीक विश्व की शाश्वत लीला के पुनीतधाम हैं।

परकीय रस

परन्तु मधुर भाव के द्वारा आत्म संमिलन की प्रक्रिया का एक कारण और है। सहजिया संप्रदाय में अपनी स्त्री के अतिरिक्त किसी और स्त्री की पूजा करने की प्रथा प्रचलित थी।

सहजिया संप्रदाय

सहजिया संप्रदाय की स्थापना बौद्धों ने की थी। बौद्ध धर्म का पतन होने के पश्चात् और हिन्दूधर्म के पुनरुत्थान से पूर्व के परिवर्तन काल में बौद्धों का आचार शास्त्र भ्रष्ट हो गया था और वे

अपनी सुखलिप्साओं को पूरा करने के लिये नाना प्रकार के उपाय काम में लाने लगे थे। परिवर्तनकालीन बौद्ध तथा हिन्दू धर्म में तान्त्रिक मत का प्राधान्य हो रहा था। * वामाचारी तान्त्रिक, धर्म के नाम पर नाना प्रकार के पाप करते थे। वामाचारियों के भ्रष्ट शास्त्रों के कारण हिन्दू-समाज सदाचार से गिर गया था।

सहजिया संप्रदाय का सूत्रपात वामाचारी बौद्धों ने किया था। इस संप्रदाय के अनुयायी मोक्षप्राप्ति के लिये स्त्री की पूजा आवश्यक समझते थे। प्रारम्भ में संभव है इनकी पूजा में धर्म का कुछ आभास रहा हो परन्तु पीछे से यह पूजा कोरी विषयैषणा में परिणत हो गई।

काणुभट्ट

बंगाल में १०वीं सदी के अन्तिम वर्षों में उत्पन्न होने वाले काणुभट्ट ने सहजिया संप्रदाय का बंगाल में प्रचार किया। इनकी रची 'चर्याचर्यविनिश्चय' नामक पुस्तक में अपनी स्त्री के अतिरिक्त दूसरी स्त्रियों की पूजा करने के कारण लिखते हुए उसका महत्त्व दिखलाया गया है। १४वीं सदी में चण्डीदास ने इस मत में कुछ परिवर्तन करते हुए इसका बंगाल में प्रचार किया। चण्डी-

---

* भारत में जब बौद्धधर्म का पतन हुआ, और जब कि अभी हिन्दूधर्म का पुनरुज्जीवन पूर्ण नहीं हो पाया था, जब कि आचार तथा अन्तः परीक्षण के सतत अनुध्यान से उत्पन्न हुआ, श्रेष्ठतर जीवन का विचार, जो बौद्धधर्म का प्रमुख ध्येय था, नास्तिकता और विषयासक्ति के विचारों में परिणत हो गया, और जब कि भक्ति और परमात्मविश्वास, जो पौराणिक हिन्दूधर्म के प्रधान लक्षण हैं, अभी उदित नहीं हुए थे, परिवर्तन काल की इस संध्या के समय सारे भारत के बौद्ध तथा हिन्दू समाज पर भावयोग युक्त तान्त्रिक अनुष्ठानों का आतंक छा रहा था।'

दिनेशचन्द्रसेन रचित History of Bengali Language and Literature पृष्ठ ३८

दास के स्त्रीपूजन में धार्मिकता थी, प्रेम था, ऐक्य था, और निष्ठा थी। उन्हों ने रामी नाम की धोवन पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया था। इनके धर्म में विपयैपणा का नाम न था। वह स्त्री को परमात्मा की सर्वोत्तम मूर्ति समझते थे।

परकीया की ओर प्रवृत्ति के कारण

परन्तु वाल विवाह की प्रथा को अपनाने वाला हिन्दू समाज स्त्री पूजा के धार्मिक आदर्श को कव तक याद रख सकता था ? मनुष्य स्वभावतः अपने प्रेम तथा आत्मा को किसी दूसरे पर अर्पण करना चाहता है। प्रेम करना और करवाना उसकी सत्ता का प्रमुख आधार है। परन्तु वालविवाह और स्त्रियों के एकान्त पार्थक्य के कारण हिन्दूयुवक की यह अभिलापा पूरी नहीं हो पाती। पूर्ण यौवन की छटा से पहले ही उसका शौर्य श्रीविहीन हो जाता है और वह चंचल हो परकीयाओं की ओर आकृष्ट होने लगता है। यही कारण है कि सहजिया संप्रदाय का भारत में सहज ही प्रचार हो गया और लोग अन्धे हो स्त्री और पुरुप के पार्थिव प्रेम को आदर्श मान उसकी अनुचितरूपेण पूजा करने लगे।

सहजिया संप्रदाय से यह पूजा वैष्णवों में आई।

सहजिया संप्रदाय से परकीया पूजन की प्रथा वैष्णवों के कृष्णपंथ में आई। राधा का विवाह* आयनघोप के साथ हुआ था। परन्तु उसको कृष्ण की प्रेमिका मान उसकी पूजा आरम्भ कर दी गई। सच्चे भक्तों के लिये राधा और कृष्ण परमात्मा और उसकी क्रियाशक्ति के प्रतीक भले ही हों परन्तु साधारण वैष्णवों की दृष्टि में वह केलिक्रीडा करने वाले युवक और युवती के सिवाय और कुछ नहीं थे। विपयैपणा की शान्ति के लिये शम और दम की आवश्यकता है। विपयभोग की सामग्री से उसकी शान्ति

* History of Bengali Language and Literatur पृष्ठ १२७।

असंभव है। अष्टछाप की कविता सात्त्विक भक्तों के लिये भले ही उपयुक्त हो, साधारण समाज के लिये तो वह विषयानल की उद्दीपकमात्र है। विषयों की इस पूजा में ही कृष्णपन्थ का पतन है। चैतन्य जैसे महात्माओं ने मानव स्वभाव पर ध्यान देते हुए इस प्रक्रिया का बहुत कुछ खण्डन किया, कुप्रवृत्ति के कुपरिणाम। परन्तु भावुक भक्तों ने उनके उपदेशों को नहीं अपनाया। बौद्धधर्म ने पतित स्त्री पुरुषों के लिये पृथक् स्थान नियत किये थे। वे लोग निश्चित आश्रमों में रह अपने आपको सुधार सकते थे, अथवा सुधार के लिये अशक्त सिद्ध होने पर अपने पापों को छिपा सकते थे। परन्तु वैष्णवों के यहां ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं था। उन्हों ने स्त्रीपूजा का खुल्लमखुल्ला समर्थन किया, फलतः उनके अनुयायी निधड़क हो स्त्रीपूजा में भाग लेने लगे। धर्म की इस विदग्ध विडम्बना से हिन्दू समाज और भारत देश को भारी धक्का लगा। समाज की धार्मिक निष्ठा टूट गई और देश का शौर्य जाता रहा। समाज और देश की इस पतित अवस्था पर ध्यान देते हुए विदेशियों के आक्रमणों की सफलता पर आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं रह जाता।

विद्यापति, १५००—

विद्यापति का जन्म दरभंगा जिले के बिसपी नामक ग्राम में हुआ था। यह ग्राम उन्हें राजा शिवसिंह की ओर से भेट में मिला था। विद्यापति मिथिला के राजा शिवसिंह, लच्छिमा देवी, विश्वास देवी, नरसिंहदेव आदि की छत्रच्छाया में रहे थे।

विद्यापति के जन्मसमय के विषय में मतभेद है। बिसपी में प्राप्त हुए ताम्रपत्र* से जन्म संवत् का भली

---

* ताम्रपत्र का कुछ अंश इस प्रकार है—

'स्वस्ति श्री गजरथपुरात् समस्तप्रक्रियाविराजमान श्रीमद्रामेश्वरी-

विद्यापति का जन्म

भांति निर्णय नहीं होता इसमें विद्यापति को 'नव जयदेव' की उपाधि देते हुए उसे बिसपी नामकग्राम उपहार में दिया गया है। इसका सन् १४०० है।

कुछ विद्वानों के मत में ताम्रपत्र जाली है*। इसमें हिजरी संवत् का उल्लेख है, और हिजरी संवत् का सूत्रपात बहुत दिन पश्चात् अकबर ने किया था। ताम्रपत्र के अक्षरों की बनावट भी यथेष्ट प्राचीन नहीं प्रतीत होती।

ताम्रपत्र जाली है

परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शिवसिंह की ओर से विद्यापति को बिसपी गांव मिला था। कवि स्वयं अपनी कविता में इस बात का जिक्र करता है†। उसके वंशजों ने इस गांव का बहुत दिनों तक उपयोग भी किया था। जनश्रुति इन बातों का समर्थन करती है। संभव है

परन्तु जनश्रुति में विश्वास न करने का कोई कारण नहीं है

वरल० अप्रसाद भवानीभवभक्तिभावनापरायण रूपनारायण महाराजाधिराज श्रीमच्छिवसिंहदेवपादाःसमरविजयिनो जरैलतप्पायां विसपीग्रामवास्तव्य सकललोकान् भूकर्पकांश्च समादिशन्ति। ज्ञातमस्तु भवताम्। ग्रामोऽयमस्माभिः सप्रक्रियाभिर्नवजयदेवे महाराजपंडित ठक्कुरश्रीविद्यापतिभ्यः शासनीकृत्य प्रदत्तोऽयमेतेषां वचनकरी भूकर्षणादि कर्म करिष्यथेति' ल० सं० २९३ श्रावण सुदि ७ गुरौ।

* Grierson इस ताम्रपत्र की सत्यता में विश्वास नहीं करते। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री इसे यथार्थ मानते हैं।

† जनमदाता मोर, गणपति ठाकुर, मैथिली देशे करु वास।
पंज गौडाधिप शिवसिंह भूप कृपा करि लेओ निज पाश॥
विसफि ग्राम, दान करल मुझे रहतहि राज सन्निधान।
लछिमाचरणध्याने कविता निकसरे विद्यापति इहभात॥
History of Bengali Language & Literature पृष्ठ १२७।

प्रस्तुत ताम्रपत्र मौलिक ताम्रपत्र की प्रतिलिपि हो । अकबर के समय में टोडरमल ने जमीन की जांच पड़ताल आदि के लिये देश में दौरा किया था । उस समय विद्यापति के वंशजों ने ताम्रपत्र की प्रतिलिपि तैयार करके उसमें हिजरी संवत् का समावेश कर दिया होगा ।

राजपंजी की तिथियां विश्वसनीय नहीं हैं

राजपंजी के कोर्ट रजिस्टर (Court Register) में राजा शिवसिंह का राज्याभिषेक १४४६ ईसवी में होना लिखा है । परन्तु विद्यापति की एक कविता से उसका राज्याभिषेक १४०० में होना निश्चित होता है । दरबारी रजिस्टर की असत्यता और बहुत सी बातों से भी सिद्ध होती है ।

विद्यापति के जन्म संवत् के निर्धारण के लिये अन्य साधन

परन्तु कुछ दिन हुए काव्यप्रकाश की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी । इसे विद्यापति की आज्ञा से देवशर्मा नामक ब्राह्मण ने लिखा था । इसकी तारीख नवम्बर १३९८ ईसवी है । एशियाटिक सोसाइटी की प्राचीन हस्तलिखित पोथी में विद्यापति को 'सप्रक्रियसदुपाध्यायठक्कुर श्री विद्यापति' और शिवसिंह को 'महाराज' लिखा है ।

जनश्रुति के आधार पर जन्म संवत् का निर्णय

मिथिला में प्रचलित जनश्रुति के अनुसार शिवसिंह ५० वर्ष की अवस्था में राजगद्दी पर बैठे थे और विद्यापति उनसे २ वर्ष बड़े थे । अतः शिवसिंह के राज्यारोहण के समय विद्यापति की अवस्था ५२ वर्ष की रही होगी । ताम्रपत्र में विद्यापति को 'नवजयदेव' बताया गया है । इससे प्रतीत होत है कि उस समय तक उनकी कीर्ति देश में फैल चुकी थी । गद्दी पर बैठने के कुछ काल पश्चात् ही शिवसिंह ने विद्यापति को विसफी नामक गाँव उपहार में दिया था । इन सब बातों को देखते हुए

विद्यापति का जन्म २४१ लक्ष्मणाब्द में या संवत् १४०७ (सन् १३५० ईसवी) में होना अनुमित होता है।* इस कथन की सत्यता राजा गणेश्वरसिंह के दरबार में विद्यापति के आने जाने वाली बात से भी प्रमाणित होती है। कीर्तिलता के अनुसार राजा गणेश्वर की मृत्यु २५२ लक्ष्मणाब्द में हुई थी। उस समय विद्यापति १०-१२ बरस के रहे होंगे। उपर्युक्त अनुमानों तथा प्रमाणों से विद्यापति के जन्म का यही संवत् स्थिर होता है।

विद्यापति का वंश

विद्यापति मैथिल ब्राह्मण थे। इनका मूल बिसइवार और आस्पद ठाकुर था। विद्यापति के ज्ञात आदि वंशधर का नाम विष्णुशर्मा ठाकुर था। आपके पोते कर्मादित्य त्रिपाठी राजमंत्री थे। इनके पुत्र और पौत्रों ने मिथिला के राज दरबार में उच्च पदों पर काम किया था। पाण्डित्य तथा राजभक्ति के लिये यह लोग प्रसिद्ध थे। कविता भी इनके वंश में स्वभाव सिद्ध सी थी। कर्मादित्य के पोते वीरेश्वर ठाकुर ने 'छान्दोग्य दशपद्धति' रची थी, जो बिहार में आज तक प्रचलित है। वीरेश्वर के पुत्र चण्डेश्वर ने कृत्य चिन्तामणि, विवाद रत्नाकर, राजनीति रत्नाकर, आदि ७ ग्रन्थ रचे थे।

विद्यापति के पिता का नाम गणपति ठाकुर था। यह प्रतिभाशाली पण्डित तथा कवि थे। इनकी माता का नाम हांसिनी देवी था। इनके विद्यागुरु हरिमिश्र थे। बचपन से ही विद्यापति का राज दरबार में आना जाना प्रारंभ होगया था। राजा गणेश्वर इन पर प्रसन्न थे। गणेश्वर के उत्तराधिकारी कीर्तिसिंह की भी इन पर कृपा दृष्टि रही। आपके नाम पर विद्यापति ने 'कीर्तिलता' नाम की कविता रची थी। यह पूरी पुस्तक नैपाल के राजपुस्तकालय में विद्यमान है। कीर्तिलता की भाषा अवहट्ट है। यह बात कवि के इस वचन

---

* श्री राम रत्न रचित 'विद्यापति की पदावली' की भूमिका पृष्ठ ११

से स्पष्ट है--

देसिल बअना सब जन मीट्ठा ।
ते तैसन जम्पओ अवहट्ठा ॥

इस पुस्तक के लिखने से पूर्व ही विद्यापति देश में ख्यातनामा हो चुके थे ।

विद्यापति सिद्धहस्त लेखक थे । भाषा में रचे हजारों गीतों के अतिरिक्त इन्हों ने संस्कृत में भी निम्न लिखित ग्रन्थ रचे थे--

विद्यापति के संस्कृत ग्रन्थ

पुरुष परीक्षा, शैव सर्वस्वसार, दानवाक्यावली, विवादसार, गया पत्तन, गंगा वाक्यावली, दुर्गाभक्ति तरंगिणी, और कीर्तिलता।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थ उच्च कोटि के हैं । प्रतिभा तथा कवित्व की दृष्टि से उनकी अच्छी ख्याति है । परन्तु यहां हमें उनकी रची हिन्दी कविता से प्रयोजन है ।

संस्कृत कविता की दृष्टि से इनका शिवसिंह के दरबार में अत्यन्त आदर था । परन्तु इनकी कविता और प्रतिभा का असली क्षेत्र हिन्दी साहित्य था। उपमा और उत्प्रेक्षा की स्वच्छता में,प्रकृष्ट भावनाओं की ऊंची उड़ानों में, और प्रतिभा के ऐन्द्रिय नृत्य में वह हिन्दी कवियों के सिरमौर हैं । उनकी भाषा, उनका पद-विन्यास, उनकी रचनाचातुरी अपने जैसी आप हैं । उनकी कविता में सरलता, सौम्यता, धार्मिक ऐन्द्रियता सब की सब विराजमान हैं । संस्कृत साहित्य को मथ इन्हों ने उत्कृष्ट उत्प्रेक्षा और चुभती उपमाएं इकट्ठी कर दी हैं । संस्कृत साहित्य की ऐन्द्रिय कविता को निचोड़ कर कूजे में बन्द कर दिया है । अलंकारों के मोती तो कविता के हार में ऐसे सजाए हैं कि देखते ही बनता है । संक्षेप में कह सकते हैं कि विद्यापति के गीत सौन्दर्य के सार हैं और ऐन्द्रिय प्रेम के ललित प्रसून हैं ।

विद्यापति के राधाकृष्ण-विषयक गीत

विद्यापति की कविता का संक्षिप्त परिचय—

विद्यापति राधाकृष्ण की कथा को वयःसन्धि से इन शब्दों में प्रारम्भ करता है—

सैसव जोवन दुहु मिलि गेल।
स्रवनक पथ दुहु लोचन लेल॥
वचनक चातुरि लहु लहु हास।
धरनिये चांद कएल परगास॥
वयः संन्धि निरजन उरज हेरइ कत वेरि।
हसइ से अपन पयोधर हेरि॥
माधव पेखल अपुरव बाला।
सैसव जोवन दुहु एक भेला॥ इत्यादि

विद्यापति ने बड़ी खूबी से शैशव और यौवन दोनों के सार को राधा की शरीरलतिका में भर दिया है। राधा की इस आश्चर्यमयी मूर्ति को देख यदि माधव अपने आपे को भूल जांय तो आश्चर्य ही क्या है।

नखशिख का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—

पीन पयोधर दूबरि गाता।
मेरु उपजल कनकलता॥
मुख मनोहर अधर रंगे।
फूललि मधुरी कमल संगे॥
नखशिख कुच जुग परसि चिकुर फुजि पसरल।
ता अरुझायल हारा॥
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल।
चांद विहिनु सब तारा॥
चांदसार लए मुख घटना करु।
लोचन चकित चकोरे॥
अमिय धोय आंचर धनि पोछति।

दह दिसि भेल उंजोरे ॥
नाभि विवरसयं लोमलतावलि
भुजगि निसास पियासा ।
नासा खगपति चंचु भरमभय
कुच गिरि संधि निवासा ॥ इत्यादि

नखशिख का वर्णन और कवियों ने भी किया है । परन्तु विद्यापति ने सब का सार निचोड़ कर एक जगह रख दिया है। सौन्दर्य के इस समुद्र में स्वयं नखशिख भी डूबे जा रहे हैं। राधा का शरीर क्या है सौन्दर्य की एक वल्लरी है जिस पर नाना प्रकार के रुचिर पुष्प फूल रहे हैं। उसके प्रत्येक अंग से मंजुलता टपक रही है, प्रत्येक श्वास से सौरभ उड़ रहा है, प्रत्येक क्रिया से सौन्दर्य का रुचिर नृत्य व्यक्त हो रहा है। सुधा के इस आसार में राधारूपी कमल को खिला कर विद्यापति ने सचमुच कमाल की बाजीगरी खेली है।

नखशिख के पश्चात् कवि राधा को सद्यःस्नाता के रूप में दिखाता है। इस प्रकरण का पहला पद ही उसकी भावुकता को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है। वह कहता है—

कामिनि करए सनाने।
हेरितहि हृदय हनए पंचबाने ॥
सद्यःस्नाता चिकुर गरए जलधारा।
जनि मुख ससि डर रोअए अंधारा ॥

मुखचन्द्र के भय से केशरूपी अंधकार को रुला कर कवि ने सचमुच मरकत पर धूप बरसा दी है। 'प्रेम के प्रसंग' में प्रतिभा का चोखा चमत्कार है।

एक तनु गोरा कनक कटोरा
अतनुक कांचला उपाम।
हार हरल मन जनि बूझि ऐसन

फांस पसारल काम ॥

इत्यादि कविता पढ़ते ही बनती है। सारे का सारा प्रकरण प्रेम की मन्दाकिनी का प्रसन्न प्रवाह है। पाठक इस प्रकरण को पढ़ प्रेम में लीन हो जाता है और वारवार अपनी प्रणयिनी से 'शीतल ओठों का मुरझाया सा चुम्बन' मांगता है।

'दूतियों' की करामात के पश्चात् 'नोंकझोंक' की चुनौतियां देता हुआ कवि पाठकों को 'सखियों की सीख' का आभास देता है और उन्हें 'मिलन' के अभिराम उपवन में ले जाकर भांति भांति की रौंसों पर फिराता है। उपवन में सौकुमार्य, सुरभि, तथा सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। प्रणयी अपनी प्रेमिका के स्पर्श का उपक्रम ही करता है कि वह चिल्ला उठती है—

तेहि अवसर पहु जागल कन्त।
चीर संभारलि जिउ भेल अन्त ॥
नहिं नहिं करए नयन ढर नोर।
कांच कमल भमरा झिकझोर ॥
जैसे डगमग नलनिक नोर।
तइसे डगमग धनिक सरीर ॥

और कमल पत्र पर पड़े जलबिन्दुओं की भांति डगमगाने लगती है। मिलन के पश्चात् सखियों का संभाषण आता है। राधा के ऊपर तानों के शीकरासार की वर्षा होती है।

नयन जुगल भेल काजल बिथार।
अधर निरस करु कओन गमार ॥
पीन पयोधर नखरेख देल।
कनककुंभ जनि भगनहु भेल ॥

इत्यादि कह कर उसे खूब रिसाया जाता है। वह भी उचित शब्दों में उत्तर देती है। उसके इन शब्दों में—

'से सुपुरुप मोहे कएल सिंगार'

भावना की पुनीत छटा छिटक रही है। 'सखी संभाषण' के पश्चात् कौतुक के दिन आते हैं। फिर मिलने की अभिलाषा ललकती है। यह अभिलाषा शनैः शनैः अभिसार में परिणत होती है। रात्रि के सूचीभेद्य अंधकार की कसौटी पर 'प्रेम का हेम' खूब परखा जाता है।

प्रेमहेम परखा ओल कसौटी।
भादव कुहु तिथि राति ॥

कृष्ण के यह पूछने पर—

सुमुखि पुछुओं तोहि सरुप कहसि मोहि,
सिनेहक कतदुर ओर ॥

राधा उत्तर देती है—

ठामहि रहिअ घुमि परस चिन्हिअ भूमि,
दिगमग उपजु संदेह।

अर्थात् स्नेह का न ओर है न छोर। मैं तो प्रेम की इस अनन्त क्षीरराशि में कान्दिशीक हो गई हूं। स्पर्शमात्र से पृथ्वी का भान हो रहा है। दृष्टि शून्य हो गई है, इन्द्रियां स्तब्ध हैं, और मन प्रेम के अन्तस्तल में रमा हुआ है।

'अभिसार के पश्चात् 'छलना' मान, और 'मानभंग' के प्रकरण आते हैं, और पाठकों को भावों की ललित दोला पर भरपेट झुलाया जाता है। 'विदग्ध विलास' नाम का प्रकरण अपने जैसा आप है। यहां ऐन्द्रिय शृङ्गार की पराकाष्ठा है। कहीं कहीं कवि शृङ्गार में इतना अधिक लीन हो जाता है कि वह कविता के औचित्य की सीमा को लांघ काम के नग्न नृत्य का अभिनय करने लगता है। वह स्निग्ध उन्माद तथा उद्धत सौकुमार्य के मलय-समीर में झूमता हुआ औचित्य के प्रतिबन्धों और पार्थिव आचार की चुनौती को ठुरा देता है। कामिनी रूपी उषा के सुवर्ण मेघ को देखते ही वह अपना पुरुषत्व उस पर न्यौछावर कर देता

है और उसकी अरुण तथा ललाम लुनाई में घुल जाना चाहता है, एकरस होजाना चाहता है। इस में विद्यापति का दोष नहीं, दोष है उषा के अस्फुट हास्य का, अर्ध विकसित वनमुकुलों का और निरावरण प्रकृति के रुचिर यौवन का। विद्यापति का 'विरह वर्णन' पढ़ने योग्य है। कृष्ण के विरह में राधा किस प्रकार कलपती है, उसकी वृत्तियां स्मृति के परिवाह में किस प्रकार बहती हैं, विद्यापति ने इन बातों का मार्मिक वर्णन किया है।

कृष्ण के गोकुल परित्याग को पढ़ कर पाठक का दिल भावों के प्रबल आवेग से स्तब्ध हो जाता है। राधा का नीरव रुदन, उसका वियोग संताप, उदासीन प्रकृति के बीच में उस अकेली का शून्य-नृत्य, सभी के वर्णन में कवि ने कमाल किया है।

विद्यापतिका कवित्व. तुलसीदास के साथ तुलना

तुलसीदास की कविता में आत्मा का स्वच्छ प्रवाह है। मानसिक वृत्तियों का विलय है। उसमें आत्मा और विश्वात्मा के ऐक्य का आदर्श प्रतिफलन है। उसकी कविता में भाव और भाषा दोनों साथ चलते हैं। भावों के अन्तस्तल में पहुँच तुलसी कभी कभी भाषा के धरातल को भूल जाता है। वह केवल स्वप्न साम्राज्य में ही नहीं विचरता, उसका हृदय विश्व की विविध भावनाओं का सितार है। उसके गीतों में संसार का प्रमोद खिल रहा है, उसके शोकोच्छ्वासों में संसार का चिन्तानल दहक रहा है। संक्षेप में तुलसीदास अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्त भावों का यथार्थ ग्रामोफोन है।

दूसरी ओर विद्यापति उत्कृष्ट कवि है, वह अपनी कविता को पहचानता है। वह अपनी प्रतिभा पर* अभिमान करता है। वह

---

* बालचन्द विज्जावइ भासा। दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहई। इ निच्चय नाअर मन मोहइ॥
कीर्तिलता प्रथम पल्लव.

धुरंधर विद्वान् है, उसकी उत्प्रेक्षा, उपमा और अलंकार सजीव हैं। उसकी मधुर पदावली मन को मोह लेती है। उसके अलंकारों की चमक आंखों* को चौंधिया देती है। कामवासना के दृश्य उसकी कविता में आवश्यकता से अधिक हैं। धार्मिक दृश्यों की भी उस की कविता में एकान्ततः कमी नहीं। प्लेटो के समान वह भी कभी उच्च भावों के विमान द्वारा आकाश यात्रा कर आता है। परन्तु यह यात्रा आखिर यात्रा ही है। स्वर्गधाम का निरन्तर उपभोग तो कुछ और ही वस्तु है।

उसके प्रारंभिक जीवन की कविताएं कुत्सित शृङ्गार से सनी

---

* चण्डीदास और विद्यापति की तुलना करते हुए दिनेशचन्द्र लिखते हैं—

'चण्डीदास और विद्यापति में से पहला प्रकृति से प्रेरित हो गीत गाता है—उसका गान आत्मा की अन्तस्तली से आता है, भाषा के अलंकारों पर ध्यान नहीं, मानों कविता का एक स्रोत बह रहा है, जिसमें कालुष्य और कर्दम का नाम नहीं। दूसरा कवि अपने आप को पहचानता है, वह निष्णात विद्वान् है, उसकी उपमा और अलंकार कवित्व के प्रोद्भास हैं, वे कान को आत्मसात् कर लेते हैं, उसके चित्रों की जाज्वल्यमानता आंखों को चौंधिया देती है। ऐन्द्रियता की भावना और वासना की कदर्यता को धार्मिकता के उत्तुङ्ग तत्व दबा देते हैं। उसकी आरंभिक कविता ऐन्द्रियता की वासना से परिलिप्त है, और पिछली छायावादिता की उड़ानों से परिस्फुरित; चण्डीदास प्रोन्नत नभस्तल का पक्षी है, जहां पार्थिव सौन्दर्य की न्यूनता भले ही हो परन्तु जो फिर भी स्वर्ग के समीपतर है। विद्यापति भरदिन पृथ्वी के आतपधौत कुंजों और शष्पावृत स्थलियों में परिभ्रमण करता है। वह जीवन की संध्या में में ऊपर उड़ता है और अपने सहयोगी कवि को पकड़ लेता है।'

History of Bengali Language and Literature पृष्ठ १४६।

हुई हैं। इनमें प्रतिभा के प्रकाश और वासनाकालुष्य के अन्धकार का तान्त्रिक संमिलन है। काले अम्बर में बिजली दौड़ रही है। जीवन के अन्तिम दिनों की कविता में छायावाद की आभा है। विद्यापति ने जीवन के ऐन्द्रिय पहलू की पर्याप्त व्याख्या की परन्तु वह उसके आध्यात्मिक पहलू को संसार के संमुख न रख सका। वासना कितनी ही उत्कृष्ट क्यों न हो वह है तो आखिर मल। उसे धो डालना ही कविता का प्रमुख ध्येय है। इस ध्येय की पूर्ति में तुलसीदास ९८ प्रतिशत सफल हुए हैं तो विद्यापति ५० प्रतिशत। यही इन दोनों की कविता में भेद है।

विद्यापति का संप्रदाय

विद्यापति की कविता का मुख्य विषय राधाकृष्ण की लीला का वर्णन है। इससे अनुमान होता है कि वह वैष्णव रहे होंगे। बाबू व्रजनन्दन सहाय ने भी इन्हें अपने समर्पणपत्र में 'वैष्णव कवि चूड़ामणि' लिखा है। परन्तु कुछ बातें इस परिणाम के विरोध में हैं। विद्यापति के पिता शैव थे, शिवजी की उपासना के पश्चात् ही उन्हें पुत्ररत्न का लाभ हुआ था। ऐसी अवस्था में विद्यापति का शैवधर्मावलम्बी होना अधिक स्वाभाविक है। इस बात में विद्यापति का एक पद भी प्रमाण है--

आन चान हरि कमलासन
सब परिहरि हम देवा।
भक्त बछल प्रभु बान महेसर
जानि कएलि तुअ सेवा॥

कोई चन्द्र की पूजा करते हैं, कोई विष्णु की पूजा करते हैं, किन्तु मैंने सब को छोड़ दिया। हे बाण महेश्वर! भक्त वत्सल जानकर मैंने तुम्हारी ही सेवा की। विद्यापति के गांव बिसपी से उत्तरवर्ती भेड़या नामक गांव में बाणेश्वर महादेव का स्थान है। जनश्रुति के अनुसार विद्यापति इन्हीं की सेवा किया करते थे।

परन्तु शैव होने पर भी इनका वैष्णवों से विशेष अनुराग था । हृदय के उद्‌गारों को प्रकट करने के लिये शैवों के संप्रदाय में समुचित साधनों की कमी है। विद्यापति जैसे प्रबल भावुक कवि के लिये अपने भावों को दबाना असंभव था। इस लिये उसने शैव और वैष्णवों का ऐक्य उद्‌भावित करके वैष्णवों की देवी और देव के केलिवर्णन को अपनी कविता का क्षेत्र बनाया। आप एक स्थान पर कहते हैं—

भलहरि भलहर भल तुअ कला।
खन पित बसन खनहि बघछला ॥ इत्यादि

वास्तव में पहुँचे हुए कवि तथा योगियों की दृष्टि में शिव और विष्णु का भेद नहीं रह जाता। यह लोग अविनाशी सत्ता के पुजारी होते हैं। और इस अविनाशी सत्ता का प्रत्येक स्वच्छ वस्तु में प्रतीक रूपेण उद्‌भावन किया जा सकता है।

विद्यापति के प्रधान आश्रयदाता राजा शिव सिंह हैं। राजा

विद्यापति के आश्रयदाता

शिवसिंह मिथिला के सिमरांव और सुगांव नामक दो प्रसिद्ध राजघरानों में से सुगांव राजघराने में हुए थे। सुगांव राजघराने से पहले सिमरांव राजघराने के क्षत्रिय लोगों का मिथिला में राज्य था। इन सब में हरिसिंह अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्हों ने नैपाल को जीता था। हरिसिंह के मंत्री चंडेश्वर थे, और उनके राजपण्डित कामेश्वर ठाकुर। चंडेश्वर विद्यापति के पूर्वज थे और कामेश्वर शिवसिंह के पूर्वज।

हरिसिंहदेव एक बृहद् यज्ञ कर के संन्यासी हो गए। उनके चले जाने के पश्चात् मिथिला पर *गयासुद्दीन ने चढ़ाई कर वहां अपना शासन स्थापित कर लिया। कुछ दिनों पश्चात् बादशाह ने कामेश्वर ठाकुर पर प्रसन्न हो मिथिला का राज उन्हीं को सौंप

*विद्यापति की पदावली की भूमिका पृष्ठ २८.

दिया। तभी से मिथिला का शासन ब्राह्मणों के हाथ में आया।

कामेश्वर के पुत्र हुए भोगेश्वर और उनके पुत्र हुए गणेश्वर। गणेश्वर के दो बेटे थे, वीरसिंहदेव, और कीर्तिदेव। इन्हीं कीर्ति-सिंह के दरबार में विद्यापति ने 'कीर्तिलता' का निर्माण किया था। यह दोनों भाई निःसन्तान थे। इस लिये भोगेश्वर के भाई भवसिंह के बेटे देवसिंह राजा हुए।

राजा शिवसिंह इन्हीं देवसिंह के पुत्र थे। इन की राजधानी गजरथपुर नामक नगर में थी। विद्यापति को इन के प्रति प्रगाढ अनुरक्ति थी। यह पक्के रसिक और काव्यमर्मज्ञ थे। विद्यापति के पदों में इन के नाम के साथ इन की धर्मपत्नी लखिमा देवी का नाम भी आता है शिवसिंह ने मुसलमानों से स्वातन्त्र्य प्राप्ति करने के लिये अच्छे प्रयत्न किये। इस के लिये उन्हें एक बार कारावास का कष्ट भी उठाना पड़ा। देवसिंह की मृत्यु के पश्चात् मुसलमानों ने मिथिला पर फिर चढ़ाई की। परन्तु शिवसिंह के सामने उनकी एक न चली। राज्याधिरोहण के ३ वर्ष पश्चात् मुसलमानों ने एक और चढ़ाई की, जिस में वीरता दिखा कर राजा शिवसिंह संभवतः मारे गए।

शिवसिंह की मृत्यु के पश्चात् विद्यापति बहुत दिनों तक लखिमा-देवीके पास रहे। यहीं पर २९९ लक्ष्मणाब्द में यहांके राजा पुरादित्य के लिये उन्हों ने 'लिखनावली' लिखी। ३०९ लक्ष्मणाब्द में आपने भागवत की प्रतिलिपि भी यहीं समाप्त की। इस के पश्चात् राजा-शिवसिंह के भाई पद्मसिंह की स्त्री के लिये आप ने २ ग्रन्थ लिखे। पद्मसिंह के उत्तराधिकारी हरिसिंह के लिये आपने 'विभागसार' की रचना की। ३२१ में होने वाले धीरसिंह के लिये आपने 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' की रचना की। फलतः ३२१ लक्ष्मणाब्द अर्थात् सं० १४८९ विक्रमी या १४३० ईसवी तक इनका जीवित रहना निश्चित होता है।

विद्यापति की मृत्यु

३२१ लक्ष्मणाब्द के पश्चात् विद्यापति की कोई रचना नहीं मिलती। इससे प्रतीत होता है कि धीरसिंह के राजत्वकाल में अथवा उसके कुछ पीछे इनकी मृत्यु हुई हो। विद्यापति एक पद में कहते हैं--

सपन देखल हम सिवसिंघ भूप।
वतिस वरिस पर सामर रूप॥
वहुत देखल गुरुजन प्राचीन।
अव भेलहुँ हम आयुविहीन॥
सिमटु सिमटु निअ लोचन नीर।
ककरहु काल न राखथि थीर॥
विद्यापति सुगतिक प्रस्ताव।
त्याग के करुना रसक सुभाव॥

शिवसिंह की मृत्यु के ३२ वर्ष पश्चात् विद्यापति ने यह स्वप्न देखा था। शिवसिंह २९६ लक्ष्मणाब्द में मरे थे, अतः ३२८ लक्ष्मणाब्द में विद्यापति ने उक्त स्वप्न देखा होगा, जो विक्रमीय संवत् १४४९ पड़ता है। यदि इस स्वप्न के ३ वर्ष पश्चात् विद्यापति की मृत्यु मानी जावे तो वे ९० वर्ष की अवस्था में सं० १४९७ विक्रमी में अथवा १४४० ईसवी में मरे थे।

विद्यापति की अन्तिम दिनों की कविता

जन्म भर शृङ्गार रस में 'बूड़े' रहने के कारण अन्तिम समय में विद्यापति को मानसिक उत्ताप हुआ और वे संसार से खिन्न हो गए। निराशा की काली घटा में ज्ञानरूपी बिजली कड़कती है और शान्त रस की वर्षा होती है। विद्यापति आवेश में आ इस प्रकार से पढ़ते हैं—

तातल सैकल वारि बूंद सम, सुतमित रमनि समाज।
तोहें बिसरि मन ताहि समर्पिनु अब मझु हब कौन काज॥

माधव हम परिनाम निरासा।
तुहु जगतारन दीन दयामय अतए तोहर विसवासा।
आध जनम हम नींद गमायनु, जरा सिसु कत दिन गेला॥
निधुवन रमनि रभसरंग मातनु तोहे भजब कओन बेला॥

अपनी प्रचुर संपत्ति को विद्यापति ने अन्त समय में ठुकरा दिया। वह कहते हैं—

जतन जतेक धन पापे बटोरल मिलि मिलि परिजन खाए।
मरनक बेरि हरि कोइ न पूछिए करम संग चलि जाए॥
ए हरि वन्दों तुअ पद नाय॥

अपनी अवस्था की ओर लक्ष्य करके विद्यापति इस प्रकार आँसू बहाते हैं—

वयस कतह चल गेला।
तोहें सेवइत जनम बहल तइओ न अपन भेला॥

वयस तुम कहां चले गए। तुम्हें सेवते हुए अपना जनम बिता दिया। किन्तु तुम अपने न हुए!

अन्तिम दिनों की इस कविता में परिणतवयस्क आत्मा का अधीर रुधन है। इसमें आत्मा का स्वच्छ प्रतिफलन और मनोवृत्तियों का एकान्त विलय है।

विद्यापति का बंगीय साहित्य पर प्रभाव

डाक्टर ग्रियर्सन (Grierson) के विद्यापतिविषयक तत्त्वानुसंधान से पहले तक विद्वानों की यह धारणा थी कि विद्यापति बंगाल में उत्पन्न हुए थे। असल बात यों है कि विद्यापति की रचनाएं मधुरभाव से ओतप्रोत हैं। भारतीय शृङ्गारी कवियों और वैष्णवों के उपास्यदेव राधाकृष्ण हैं। राधा और कृष्ण के भाव-चित्रण में विद्यापति का स्थान अत्यन्त उच्च है।

१४वीं सदी में होने वाले बंगाली कवि चण्डीदास विद्या-

चण्डीदास का विद्यापति से साक्षात्कार

पति की* कविता पर मुग्ध थे और उन्हों ने कवितासम्बन्धी विषयों पर वार्तालाप करने के लिये विद्यापति से साक्षात्कार भी किया था। बंगला के प्रसिद्ध कवि अद्वैता ने भी विद्यापति के दर्शन किये थे।

मिथिला और बंगाल में विचारों का यातायात

विद्यापति के समय में मिथिला का विश्वविद्यालय उन्नति के शिखर पर था। देशविदेशों से विद्यार्थी यहां अध्ययन के लिये आते थे। बंगाल और बिहार का साहित्यिक सम्बन्ध इन दिनों जोरों पर था। बंगाल के कवि मिथिला में आते थे और मिथिला के कवि बंगाल में जाते थे। राधा और कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करने वाली बंगलाकविता का मिथिला में खूब आदर हुआ। बंगाल के प्रसिद्ध कविरत्न गोविन्द-दास की कविता बिहार में अब भी गाई जाती है। इस कविता पर मैथिल भाषा की छाप लगी हुई है। इसी प्रकार मैथिल कविता को बंगाल के कवियों ने खूब पसन्द किया। और उस पर बंगाल की छाप देकर उसका खूब प्रचार किया।

बंगालियों ने विद्यापति के गीतों को अपना लिया

कविवर अद्वैत से २७ वर्ष पश्चात् चैतन्यदेव का जन्म हुआ। वे मिथिला गए और वहां उन्हों ने विद्यापति के सुन्दर गीत सुने। इन्हें सुनते ही वे मन्त्रमुग्ध हो गए। वे ढूंढ २ कर विद्यापति के पद गाने लगे। विद्यापति के पदों को गाते गाते, वे प्रेमावेश में मूर्छित हो जाते थे। अब क्या था चैतन्यदेव की शिष्य परम्परा में विद्यापति के पद गाने की प्रथा प्रतिदिन बढ़ती गई।

---

* History of Bengali Language and Literatur पृष्ठ १३६।

विद्यापति के अनुकरण पर कृष्णदास, नरोत्तमदास, गोविन्ददास, ज्ञानदास, श्री निवास, नरहरिदास, आदि कवियों ने भी कविता की। बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त के कथनानुसार वंगभाषा पर विद्यापति का गहरा प्रभाव पड़ा है। त्रैलोक्यनाथ भट्टाचार्य कहते हैं 'विद्यापति और चण्डीदास की अतुलनीय प्रतिभा से समस्त वंगसाहित्य उज्वल और सजीव हुआ है। वैष्णव गोविन्ददास और ज्ञानदास से लेकर हिन्दू बंकिमचन्द्र और ब्राह्म रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक सब ही उन लोगों की आभा से आलोकित हैं और उन लोगों का अनुकरण करके कविता रचना में व्यस्त पाये जाते हैं'।

फल यह हुआ कि विद्यापति वंगालियों की रग रग में रम गए।

शनैः शनैः वंगाली विद्यापति को अपने प्रान्त का समझने लगे

सैकड़ों वर्षों तक लगातार वंगालियों द्वारा गाए जाने के कारण विद्यापति के वंगदेशीय पदों का रूप भी ठेठ वंगला हो गया। वंगाली विद्यापति को अपने देश का समझने लगे। उन्हों ने अपनी कुशाग्रबुद्धि के सहारे विद्यापति का नाम धाम सब कुछ वंगाल में ढूंढ निकाला। 'यही कारण है कि वंगला १२८२ साल में स्वर्गीय राजकृष्ण मुखोपाध्याय ने जब पहले पहल 'वंगदर्शन' नामक पत्र में यह प्रकाशित किया कि विद्यापति वंगाली नहीं; प्रत्युत मैथिल थे, और इसके प्रमाण में उन्हों ने ताम्रपत्र आदि पेश किये, तब समूचे वंगाल में कोलाहल मच गया। विद्यापति पर वंगाली इतने फिदा थे कि उनका अन्यदेशीय होना वे किसी तरह भी न सह सकते थे। उस समय एक प्रसिद्ध वंगला लेखक ने यह अनुमान लगाया था कि विद्यापति वंगाली ही थे, पहले वंगाली लोग मिथिला में विद्याध्ययन को जाते थे, संभव है विद्यापति यहां से विद्याध्ययन को गए हों और वहां उन्हों ने अपनी प्रतिभा से राजा शिवसिंह को प्रसन्न

करके गांव प्राप्त किया हो और वे वहीं बस गए हों'* । परन्तु यह सब बातें अब निराधार सिद्ध हो चुकी हैं । महामहोपाध्याय हर-प्रसाद शास्त्री, जस्टिस शारदाचरण मित्र, बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त आदि सभी बंगाली विद्वान् विद्यापति को मिथिला देश में जन्मा मान चुके हैं ।

हमें धन्यवाद देना चाहिये ग्रियर्सन साहब को जिन्होंने सब से पहले विद्यापति का बिहारी होना सिद्ध किया था ।

उमापति १५०० संभवत: विद्यापति का समकालीन था । उसने मैथिली तथा बंगला भाषाओं में कृष्ण की भक्ति के गीत लिखे थे ।

मीराबाई हिन्दी के स्त्री कवियों में सब से श्रेष्ठ गिनी जाती है ।

मीराबाई १४६० उसके जन्मकाल तथा जीवन के विषय में मतभेद है । कहा जाता है कि वह राजपूताने की राजकुमारी थी । और उसका विवाह भोजराज के साथ हुआ था जो मेवाड़ के महाराणा कुम्भा जी का युवराज था । उसका पति गद्दी पर बैठने से पहले ही स्वर्ग सिधार गया । कुम्भा जी को उदयकर्ण नाम के उनके पुत्र ने मार दिया और १४६९ में उसने राजगद्दी पर अधिकार कर लिया । मीराबाई बचपन ही से कृष्ण की आराधिका थी । संभवत: उसकी इस बात पर मेवाड़ का राजवंश उससे अप्रसन्न रहा हो । कुछ भी हो पति की मृत्यु के उपरान्त वह सर्वात्मना कृष्ण की भक्त बन गई और उदयकर्ण के हाथों अनेक प्रकार से सताई जाकर उसने चित्तौड़गढ को त्याग स्वामी रामानन्द के शिष्य भगत रयदास से यथाविधि भक्ति धर्म की दीक्षा लेली । यह घटना १४७० के लगभग हुई बताई जाती है ।

कृष्ण के रणछोर नामक रूप में मीराबाई की विशेष आस्था थी और कहा जाता है कि एक दिन रणछोर की पूजा करते करते

---

* विद्यापति की पदावली ।

वह प्रतिमा में विलीन होगई। रयदास रामानन्द का चेला था और राम के रूप में परमात्मा की पूजा करता था। ऐसी दशा में नहीं कह सकते कि मीराबाई ने उसे अपना गुरु क्यों बनाया। रयदास से दीक्षा लेने पर मीराबाई के विचारों में कुछ परिवर्तन हुआ या नहीं यह कहना भी कठिन है। मीराबाई अपने गीतों में तीन चार जगह रयदास का नाम लेती है।

मीराबाई के गीतों में कृष्ण की भक्ति छनी पड़ती है। वह कहीं कहीं अपने परमात्मा को राम के नाम से भी पुकारती है। उसकी कविता व्रजभाषा में है; वह सुन्दर है और रस से परिपूर्ण है। गुजराती में भी ठीक इसी प्रकार की बहुत सी कविताएं पाई जाती हैं, जिन्हें जनश्रुति के अनुसार मीराबाई की रचना बताया जाता है। उदाहरण—

बसो मेरे नैनन में नन्दलाल।
मोहनि मूरति सांवरि सूरति नैना बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजित उर वैजन्ती माल॥
छुद्र घण्टिका कटितट सोभित नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु सन्तन सुखदाई भक्त बछल गोपाल॥
बंसीवारो आयो म्हारे देस, थारी सांवरी सूरत वाली भेस।
आऊं आऊं कर गया सांवरा, कर गया कौल अनेक।
गिनते गिनते घिस गइ उंगली, घिस गई उंगली की रेख।
मैं बैरागिनि आदि की, थारे म्हारे कद को संदेस॥
बिन पानी बिन साबुन सांवरा, हुई गई धुइ सपेद।
जोगिन हुई जंगल सब हेरूं तेरा नाम न पाया भेस॥
तेरी सुरत के कारणे, धर लिया भगवां भेस।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहै घूंघर वाला केस।
मीरा को प्रभु गिरधर मिल गये दूना बढ़ा सनेह॥

वल्लभाचार्य १४७६

कृष्ण पूजा के प्रचार का सब से अधिक श्रेय वल्लभाचार्य को है। वह दक्षिणी ब्राह्मण के पुत्र थे और १४७९ में, बनारस में उत्पन्न हुए थे। व्रज-भूमि के गोवर्धन नामक स्थान में उन्होंने कृष्ण की प्रतिमा को स्थापित किया और वहीं से उनके संप्रदाय का भारत के भिन्न भिन्न भागों में प्रचार हुआ। उन्हों ने जो कुछ भी लिखा संस्कृत में लिखा, यद्यपि उनके संप्रदाय ने हिन्दी के बहुत से धुरंधर लेखक पैदा किये। १५३१ में इनका देहावसान हुआ और इसी समय इनके पुत्र विट्ठलनाथ वल्लभ संप्रदाय की गद्दी पर बैठे।

विट्ठलनाथ १५१५

इनका जीवनकाल १५१५ से १५८५ तक बताया जाता है। यह अपने पिता द्वारा स्थापित वल्लभ संप्रदाय के नेता ही नहीं, प्रत्युत हिन्दी के अच्छे लेखक और कवि भी थे। हिन्दी कविताओं के अतिरिक्त इन्होंने 'मुण्डन' नाम का एक गद्यग्रन्थ भी लिखा था, जो हिन्दीगद्य के इतिहास में अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। इसकी भाषा व्रजभाषा है। चार शिष्य वल्लभाचार्य के और चार विट्ठलाचार्य के मिलकर 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हैं, इनका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

भक्ति संप्रदाय के विभाग १४००—१५५०

इस युग में दृष्टिगोचर होने वाले भिन्न भिन्न प्रकार के भक्ति आन्दोलनों को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है—

१—वह श्रेणी जो राम के रूप में परमात्मा की पूजा करती थी और प्रतिमापूजन में विश्वास रखती थी।

२—वह श्रेणी जो राम के रूप में परमात्मा को भजती थी, परन्तु प्रतिमा पूजन और अवतारवाद का खण्डन करती थी।

३—वह श्रेणी जो कृष्ण के रूप में परमात्मा की पूजा करती थी।

भक्तिवाद की प्रत्येक श्रेणी हिन्दी के द्वारा अपना प्रचार कर रही थी, क्योंकि इस युग में हिन्दी ही साधारणरूपेण बोलचाल की भाषा थी। फलतः हिन्दी ने भक्तिवाद का प्रचार किया और भक्तिवाद ने हिन्दी का प्रचार किया। इस युग से पीछे के काल में बने हुए हिन्दी साहित्य पर उपर्युक्त तीनों श्रेणियों में से एक न एक श्रेणी की अचूक छाप लगी हुई है।

मलिक मोहम्मद जायसी १५४०

भक्ति सम्बन्धी कविता की अपेक्षा वीररसात्मक कविता का स्थानीय प्रचार अधिक था। वीररसात्मक गाथाओं ने हिन्दी भाषा के विकास में राजपूताने से बाहर विशेष भाग नहीं लिया। गाथाओं में वीररस का परिपाक है। उनमें राजभक्तिरस की पुट बराबर मिली हुई है। वीररसात्मक गाथाओं में पद्मावत का स्थान सर्वोच्च है। इसके लेखक मलिक मोहम्मद जायसी १५४० के लगभग पैदा हुए थे। ये प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख़ मोहिदी मुहीउद्दीन के शिष्य थे और जायस में रहते थे। यह जन्म के मुसलमान थे, परन्तु इन्हों ने हिन्दू सिद्धान्तों का मनन किया था और कबीर के सिद्धान्तों को ध्यान पूर्वक पढ़ा था। अमेठी के राजा इनका बहुत आदर करते थे। जनश्रुति के अनुसार इनके प्रताप से उनको एक पुत्ररत्न का लाभ हुआ था। अमेठी में इनकी कब्र आज तक है। इन्हों ने अखरावट नाम की एक और कविता लिखी थी।

अखरावट

इसमें वर्णमाला के एक एक अक्षर को लेकर सिद्धान्त संबन्धी तत्त्वों से भरी हुई चौपाइयां कही गई हैं। यह कबीर की चौंतीसी के आदर्श पर बनाई गई प्रतीत होती है। इस छोटीसी पुस्तक में ईश्वर, सृष्टि, जीव और ईश्वरप्रेम आदि विषयों पर विचार किया गया है।

परन्तु वह ग्रन्थ जिसने जायसी के नाम को सदा के लिये अमर कर दिया है, उनका रचा 'पद्मावत' है । इसके पढ़ने से प्रतीत होता है कि जायसी का हृदय कैसा कोमल और 'प्रेम की पीर' से भरा हुआ था । क्या लोकपक्ष में और क्या अध्यात्मपक्ष में, दोनों ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरसता विलक्षण प्रतीत होती है ।

पद्मावत

पद्मावत में प्रेम गाथाकी परम्परा प्रौढता को प्राप्त हुई मिलती है । पद्मावत की कथा में एक विशेषता है । उसमें इतिहास और कल्पना का मनोरम संमिश्रण है । चित्तौड़ की महारानी पद्मिनी या पद्मावती का इतिहास हिन्दू हृदय के मर्म को स्पर्श करने वाला है । जायसी ने यद्यपि इतिहासप्रसिद्ध नायक और नायिका ली पर उन्हों ने अपनी कहानी का रूप वही रक्खा है जो कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में प्रतिष्ठित हो रहा था । इस रूप में कहानी का पूर्वार्द्ध कवि की अपनी कल्पना है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर है । पद्मावत की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

चित्तौड़ का राणा रतनसेन सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मिनी अथवा पद्मावती के अपूर्व सौन्दर्य को सुन संन्यासी के वेष में लंका पहुँचा और वहां से उसे ले आया । दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन ने भी पद्मिनी के अपूर्व सौन्दर्य की कथाएं सुनी थी । उसने पद्मिनी को जीत लाने की इच्छा से चित्तौड़ पर चढ़ाई की । अलाउद्दीन अपने उद्देश्य की पूर्ति में असफल रहा, परन्तु राणा रतनसेन पकड़ा गया । दो वीरों ने उसे कैद से छुड़ा दिया और वह चित्तौड़ लौट गया । वहां पहुँच उसने देवपाल नाम के राजा पर, पद्मावती के अपमान का बदला लेने के लिये चढ़ाई की । युद्ध में देवपाल मारा गया, परन्तु राणा भी इतना अधिक घायल हो गया कि

चित्तौड़ लौटने पर उसका देहान्त हो गया। नागमती और पद्मिनी नाम की उसकी दोनों स्त्रियां उसके साथ सती हो गईं। जब वे सती हो रही थीं अलाउद्दीन चित्तौड़ के दरवाजे पर आ पहुंचा और उसने राजपूतों के वीरता दिखाने पर भी किले पर अधिकार कर लिया।

कथा के अन्त में जायसी कहते हैं कि उपर्युक्त कथा कल्पना-मात्र है। मनुष्य का शरीर ही चित्तौड़ है, उसमें रहने वाला आत्मा ही रतनसेन है, बुद्धि ही पद्मावती है, अलाउद्दीन ही माया है, गुरु ही तोता है इत्यादि। जायसी अपने ग्रन्थ की समाप्ति पर लिखते हैं:—

तन चित उरमन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पद्मिनि चीन्हा॥
गुरु सुवा जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत् को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बांचा सोई न एहि चित बांधा॥
राघवदूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥

यद्यपि पद्मावत की रचना संस्कृत प्रबन्धकाव्यों की सर्गबद्ध पद्धति पर नहीं किन्तु फारसी की मसनवी शैली पर है, तथापि शृङ्गार, वीर आदि रसों के वर्णन परम्परागत भारतीय काव्यरचना ही के अनुसार हैं। पद्मिनी के रूप का जो वर्णन जायसी ने किया है वह पाठक को सौन्दर्य की लोकोत्तर भावना में मग्न करने वाला है। उसमें अनेक प्रकार के अलंकारों की योजना पाई जाती है। कुछ पद्य देखिये—

सरवर तीर पद्मिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई॥
ससिमुख अंग मलयगिरि वासा। नागिनि झांपि लीन्ह चहुँ पासा॥
ओनई घटा परी जग छांहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा मंह चन्द देखावा॥

पद्मिनी के रूप वर्णन में जायसी ने कहीं कहीं उस अनन्त सौन्दर्य की ओर जिसके विरह में यह सारी सृष्टि व्याकुल है

सुन्दर संकेत किये हैं—

बरुनी का बरनौं इमि बनी । साधे बान ज़ानु दुइ अनी ॥
उन बानन असको जो न मारा । बेधि रहा सगरौ संसारा ॥
गगन नखत जो जाहिं न गने । वै सब बान ओहि के हने ॥
धरती वान बेधि सब राखी । साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ॥
रोंव रोंव मानुस तन ठाढ़े । सूतहिं सूत वेध अस गाढ़े ॥

कैसे गंभीर भाव हैं ? कितना विशद आशय है ? आत्मा का कैसा स्वच्छ प्रवाह है ? परमात्मा की तीरन्दाजी का कैसा अनमोल नकशा है ? निर्गुण आकाश में मायारूपी बाणों के लगने से उसमें नक्षत्र रूपी गुणों का कैसा अच्छा अभ्युदय है ?

पद्मावत का ऐतिहासिक आधार, १३०३ में होने वाला चित्तौड़-गढ़ का घेरा है । जायसी ने अपनी कथा में अनेक कथाओं के रस निचोड़ कर रख दिये हैं । कविता की भाषा वही है जो जायसी के जमाने में आम तौर से बोल चाल में आती थी । इसमें फारसी के शब्दों और मुहावरों की खासी झलक है । आरम्भ में 'पद्मावत' फारसी वर्णमाला में लिखी गई थी ।

मलिक की विशेषता

'कबीर ने झाड़ फटकार के द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों का कट्टरपन दूर करने का जो प्रयत्न किया वह किसी सीमा तक चिढ़ाने वाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करने वाला नहीं । मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबन्ध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ । अपने नित्य के जीवन में जिस हृदयसाम्य का अनुभव मनुष्य कभी कभी किया करता है उसकी अभि-व्यंजना उससे न हुई । जायसी आदि प्रेम कहानियों के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवनदशाओं को सामने रक्खा जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है । हिन्दूहृदय और मुसलमान हृदय आमने सामने कर के अजनबीपन मिटाने

वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्हों ने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियां हिन्दुओं ही की बोली में पूरी सहृदयता से कह कर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिणी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्षसत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी हुई थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।*

नरोत्तमदास १५३० के लगभग उत्पन्न हुए थे। इनके रचे सुदामाचरित और ध्रुवचरित प्रसिद्ध हैं। यह कवितात्मक ग्रन्थ हैं। इन्हों ने फुटकर कविताएं भी रची हैं।

नरोत्तमदास, १५३०

इन्हों ने ब्रजभाषा में 'हित तरंगिणी' नाम का ग्रन्थ लिखा है। हिन्दी में अलंकार विषय का यह सब से पहला ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ ने केशवदास की 'कविप्रिया' के लिये मार्ग प्रस्तुत किया था।

किरपाराम, १५४०

---

* पद्मावत की भूमिका

अध्याय ६

मुगल दरबार और हिन्दी साहित्य पर लालित्य की छाप।

हिन्दी कविता पर नवीन प्रभाव

मुसलमानों को धार्मिक भाषा अरबी थी। उनके दरबार का सारा काम फारसी में होता था। फारसीका साहित्य विशद था और ललित था। भारत में मुसलमानों के आने से पहले ही फारसी उन्नति के शिखर पर पहुंच चुकी थी। शासनव्यवस्था में भाग लेने वाले हिन्दुओं ने फारसी सीखी और समय समय पर उस में कविता भी की। परन्तु भारत में मुसलमानों का फारसी से कब तक काम चल सकता था। देश के साथ संबन्ध स्थापित करने के लिये उसके अनुकूल किसी नई भाषा का आविष्कार आवश्यक था। उस आवश्यकता को पूरा करने के लिये लश्करी जबान उर्दू को जन्म दिया गया। पैदा होते ही यह भाषा फारसी के पदचिह्नों पर चली। इसकी कविता पर फारसी की पूरी छाप थी। इसके किस्से कहानियों में आश्चर्य को उकसाने वाली वही बातें थीं जो फारसी के गद्य में प्रचलित थीं।

इधर हिन्दी अपने प्राचीन मार्ग पर चलती रही। उसका विषय अबभी धर्म ही रहा। उसकी भाषा अब भी प्राय: प्राचीन सी रही। परन्तु उसकी शैली में कुछ कुछ परिवर्तन आगया। अब उस में लालित्य की मात्रा अधिक दीखने लगी। यह सुषमा इसमें संभवत:फारसी के संपर्क से आई थी। १५ वीं सदी के मध्य में हिन्दीपर फारसी की भरी छाप पड़ी, इस छाप को मुगल बादशाहों ने परिष्कृत कर चिरस्थायी बना दिया।

मुसलमान बादशाह साहित्य पर कृपा दृष्टि रखते आए थे। आततायियों की बात जाने दीजिये, ऐसे समाज कलंक तो सदा से होते आए हैं। अकबर ने साहित्य की उन्नति में स्तुत्य भाग लिया। उसके दरबार में कवियों की भीड़ रहती थी। उस में हिन्दी साहित्य का अच्छा आदर था। अकबर का शासन (१५५६-१६०५) भारत के लिये सौभाग्य की बात थी। यह मुसलमान होने पर भी अत्यन्त उदार तथा दूरदर्शी था। वह रणखेत का बांका वीर, सौजन्य की मूर्ति, और भावुकता की पराकाष्ठा था। उसकी शासन प्रणाली स्तुत्य थी, उसका साहित्य प्रेम प्रशंसा के योग्य था। उसके दरबार में शिल्प, चित्रकला, संगीत, सुलेख, आदि सभी को स्थान था। उसने अनेक पुस्तकालय स्थापित किये थे, और संस्कृत ग्रंथों का फ़ारसी में अनुवाद कराया था। कवियों को मनमाने पुरस्कार मिलते थे। ऐसे सुखशान्तिमय राज्य का इंगलैंड की महारानी एलिज़ा-बेथ के राज्य की भांति, (जो अकबर की समकालीन थीं) साहित्य तथा ललित कलाओं के विकास पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

हिन्दी कविता ने शान्तिरस का पान किया, और ललित विरति-रसपूर्ण भक्ति को जन्म दिया। दरबार से दूर रहने वाले कवियों को भी अकबर के शान्तिमय राज्य से भारी सहायता मिली। झगड़े फ़िसादों के दब जाने से कवियों का काम निर्विघ्न चल सकता था। हिन्दू कवि अपनी अतीत दशा पर रो सकते थे। नैराश्य में डूब भक्ति का सहारा ले कर जीवन समुद्र के परले पार पहुँच सकते थे। वे भविष्य के सुखमय स्वप्नों का चसका ले क्षण भर के लिये भविष्य की उत्तान तरंगों में बह सकते थे। परन्तु यह सब क्षणिक था, कल्पनामात्र थी। अकबर की शासन प्रणाली ने जहां शान्ति स्थापित की, वहां जनता के उत्साह, शौर्य, तथा उमंगों को दबा उन्हें केवल भक्ति के रस में फंसा दिया। सब तरह से पंगु हुआ वृद्ध हिन्दू-धर्म इस युग में केवल भक्ति की बैसाखी के सहारे खड़ा था। वह

अपने अतीत और भविष्य दोनों ही से निराश था।

दूरदर्शी अकबर ने हिन्दूविद्या तथा सभ्यता की रक्षा करने के नैतिक उपाय किये। उसने हिन्दू सामन्तों को अच्छे अच्छे ओहदे दिये और उनका मान किया। हिन्दू हो या मुसलमान पठित होना चाहिये, अकबर उसकी वृत्ति का प्रबन्ध कर देता था। फलतः साहित्य में दिनों दिन रङ्ग आने लगा, उसमें रसों और भावों की सरिता बह निकली। कविताकामिनी बिखरी कलियों को एकत्र कर नये सिरे से अपना शृङ्गार करने लगी। कवित्वकला पूर्णिमा की ओर बढ़ने लगी, और शृङ्गार का मधुमय वसन्त समीप आने लगा। यों तो यह प्रभाव इस युग में रची गई सभी कविताओं में झलकता है, परन्तु इसका असली स्वरूप उन कवियों की उक्तियों में प्रत्यक्ष होता है जो दरबार में अथवा उसके आसपास रहते थे।

अकबर के दरबारी कवि

अकबर ने स्वयं भी हिन्दीभाषा में कुछ फुटकर कविताएं बनाई थीं, जिनमें वह अपने आपको अकबर राय के नाम से संकेतित करता है। कवित्व की दृष्टि से यह खरी हैं, उत्कृष्ट हैं। संभव है अकबर के दरबारी गायक तानसेन ने इन्हें बादशाह के नाम पर बनाया हो। अकबर के मन्त्रियों में से बहुत से अच्छे कवि थे और आशुकवि थे। राजा टोडरमल (१५२३-१५८९) ने हिन्दुओं को फारसी पढ़ने के लिये प्रोत्साहित किया। फलतः फारसी तथा हिन्दी की खिचड़ी से उर्दू की उत्पत्ति हुई, और उसे राजभाषा बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। राजा टोडरमल ने भागवतपुराण का फारसी में अनुवाद किया और हिन्दी में अनेक फुटकर कविताएं बनाई। उसकी नीति संबन्धी कविताएं प्रसिद्ध हैं। उनमें भांति भांति की नीति के पुष्पों को चुन कर सजाया गया है। एक पद्य लीजिये—

गुन बिन चाप जैसे, गुरु बिन ज्ञान जैसे, मान बिन दान जैसे जल बिनसर है।
कण्ठ बिन गीत जैसे, हेत बिन प्रीति जैसे, वेश्यारस रीति जैसे, फूल बिनुतर है॥
तार बिन जंत्र जैसे, स्याने बिन मंत्र जैसे, नर बिन नारि जैसे, पूत बिन घर है।
टोडर सुकवि जैसे मन में विचारि देखो, धर्म बिन धन जैसे पंखी बिन पर है॥

कन्नौजिया दुबे ब्राह्मण था, पहले जयपुर नरेश का राजकवि था। जयपुर नरेश ने उसे बादशाह अकबर के पास भेजा, जहां उसने शीघ्र ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। वह राजकाज में निष्णात था, मतवाला गायक था, और प्रतिभाशाली कवि था। अकबर ने उसे कविराय की उपाधि से विभूषित किया। उसकी प्रतिष्ठा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी। उसकी कविता छोटी होती थी। उसकी मजाक चटकीली है, और दिल में गुदगुदी करने वाली है। शोक है कि उसका रचा कोई भी ग्रन्थ इस समय प्राप्य नहीं। परन्तु उसके नाम से बहुत सी फुटकर कविताएं प्रचलित हैं। यथा--

राजा बीरबल
१५२८-१५८३

पेट में पौढ़िके पौढ़े मही पर पालना पौढ़िके बाल कहाये।
आई जबै तरुनाई त्रिया संग सेज पै पौढ़ि के रंग मचाये॥
छीर समुद्र के पौढ़नहार को 'ब्रह्म' कबौं चित ते नहिं ध्याये।
पौढ़त पौढ़त पौढ़त ही सो चिता पर पौढ़न के दिन आये॥

राजा मनोहरदास
१५७७

राजा मनोहरदास अकबर के दरबारी थे और चोखे कवि थे।

महाराजा मानसिंह
१५३५-१६१८

मानसिंह जयपुर के निवासी थे, अकबर के सेनापतियों में से एक थे, और कवियों के आश्रयदाता थे। उन्हों ने एक एक कविता पर कवियों को लाख लाख रुपये पारितोषिक में दिये थे।

अबुल फैयाज़ अथवा फैज़ी अबुलफज़ल के भाई थे, जिन्होंने 'आइने अकबर' लिखा है। दोनों ही अकबर के मित्र थे। अबुलफैयाज़ फारसी के पारखी थे। इन्हों ने हिन्दी में भी अच्छी कविता की थी।

अबुल फैयाज़

अकबर के मन्त्रियों में सब से प्रवीण हिन्दीकवि अब्दुल-रहीम खानखाना थे। ये सम्राट् अकबर के शिक्षक बैरामखां के पुत्र थे, जिनकी सहायता से अकबर को छोटी अवस्था में राजगद्दी मिली थी। इनका जन्म संवत् १६१३ में लाहौर में हुआ था। ये अकबर के प्रधान सेनापति, मन्त्री और नवरत्नों में से एक थे। अकबर इनका बड़ा आदर करता था। अकबर की मृत्यु के बाद ये जहांगीर के दरबार में रहे। जहांगीर ने इनके साथ अनुचित व्यवहार किया, यहां तक कि राजद्रोह के अभियोग में इनको कैद भी कर डाला। इनके सब पुत्रों की मृत्यु इनके जीवनकाल में हो गई थी। फलतः इनका अन्तिम जीवन कष्टमय बीता। संवत् १६८३ में इन्होंने नश्वर शरीर को त्यागा।

अब्दुल रहीम खानखाना,
१५५३-१६२७

रहीम कुशल सेनापति थे, सुकवि थे, रसिक थे, और दानवीर थे। इनके जीवन का मुख्य भाग युद्ध करते बीता। आपकी विद्वत्ता का सिक्का सब को मानना पड़ता है। आप अरबी, फारसी, तुर्की, संस्कृत और हिन्दी में निष्णात थे। आप ने सब भाषाओं में कविता की है और खूब की है। फारसी में बाबर का चरित्र और एक दीवान, तथा संस्कृत में 'खेट कौतुकम्' नामक ज्योतिष ग्रन्थ के अतिरिक्त इन्हों ने निम्न लिखित ग्रन्थ हिन्दी में लिखे हैं—

रहीम सतसई, बरवै नायिकाभेद, मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी, शृङ्गार सोरठा, नगरशोभावर्णन।

इनकी कविता में भावों का चमत्कार है, प्रतिभा का आलोक

है, और शृङ्गार की अरुणिमा है। इनका 'वरवैनायिकाभेद' शृङ्गार-रस की उत्कृष्ट कविता है। वरवै के उदाहरण--

लहरत लहर लहरिया अजब बहार।
मोतिन जरी किनरिया विथुरे बार॥
जस मदमातल हथिया हुमकत जात।
चितवत जात तरुनिया मन मुसकात॥

उपर्युक्त वरवों की जान इनके शब्दों में है। पूरबी शब्द ही वरवों के लिये सब से अधिक उपयुक्त हैं। लहरिया, किनरिया, आदि शब्दों में चंचलता के स्मित कटाक्ष हैं। वरवों में पूरबी हिन्दी के उपर्युक्त रूप को छोड़ कर और कोई भी भाषा पर्याप्त रूपेण सफल नहीं हो सकती। ग्रामीण छन्द होने के कारण सरलता ही वरवों का भूषण है। वह उर्दू के आशार की तरह स्पष्ट तथा मर्मस्पर्शी छन्द है। वरवों के लिये नायिकाभेद सब से अच्छा विषय है।

रहीम की अन्योक्तियां उच्चकोटि की हुआ करती थीं। शिक्षा का भाग इनकी कविता में पर्याप्त है, परन्तु है वह सारा अन्योक्तियों में। वे कहते हैं--

रहिमन जगकी रीति, मैं देख्यो रस ऊख में।
ताहू में परतीति, जहां गांठ तह रस नहीं॥

एक ही संसार में बसने वाले निर्धन साधुओं और विषयी धनिकों का कैसा सुन्दर चित्र है? रहीम ने पुरानी बात में जान डाल दी है, उसे खरा बना पाठकों के सामने उपस्थित किया है। इनका शृङ्गार प्रसन्न है और अश्लीलता से ऊपर है। उसमें अभिव्यंजना का चमत्कार है।

आप फर्माते हैं—

नैन सलोने अधर मधु, कहु रहीम घटि कौन।
मीठो भावे लोन पर, अरु मीठे पर लोन॥

कितनी स्वाभाविकता है? शृङ्गार के माधुर्य में लावण्य की

पोटली डाल दी है।

अमी हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जिहि चितवत इक बार॥

'जियत मरत झुकि झुकि परत' में जितना अर्थ भरा है उतना पन्ने के पन्ने रंग डालने पर भी नहीं आ सकता था।

रहीम पर कबीर का प्रभाव

कबीर और रहीम की कविता में भाषा तथा भावों का अचूक सादृश्य है। रहीम कबीर के मोतियों पर इतना अधिक मरत है कि वह दिन दहाड़े उनमें हाथ डाल चोरी कर लेता है।

रहीम के--

प्रीतम छवि नैनन बसि, पर छवि कहां समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिर जाय॥

दोहे को कबीर के निम्नलिखित दोहे से मिलाइये--

कबिरा रेख सिन्दूर अरु, काजर दिया न जाय।
नैनन प्रीतम रमि रहा, दूजा कहां समाय॥

दोनों के 'नैन' छवि में भरे हुए हैं, कबीर को आंखों में काजर को जवाब है, और रहीम थके मुसाफिर को भरी सराय बता दूर करते हैं। दूसरा उदाहरण लीजिये--

अन्तर दाव लगी रहै, धुंआ न प्रगटै सोय।
कै जिय जाने आपुनो, जा सिर बीती होय॥

इस दोहे को कबीर के नीचे लिखे दोहे के साथ तौलिये--

हिरदै भीतर दव बलै, धुआं न परगट होय।
जाकै लागी सो लखै, की जिन लाई सोय॥

'दाव' के वर्णन में रहीम कबीर से कोसों पिछड़े हुए हैं।

रहिमन गली है सांकरी। दूजो ना ठहराहिं।
आपु अहैं तो हरि नहीं। हरि तो आपुन नाहिं॥ रहीम
जब मैं था तब गुरु नहीं। जब गुरु हैं हम नांहि।

प्रेम गली अति सांकरी। ता में दो न समाहि ॥ कबीर.

कबीर और रहीम दोनों प्रेम के समुद्र में डूब चुके हैं, परन्तु कबीरने मोती पाज़िये हैं और रहीम अभी उनकी तलाश में है। प्रेम के परिपाक में कबीरने अनङ्ग को भस्मकर दिया है, परन्तु रहीम के चेतन धूलि कणोंपर अनङ्गका अधिकार है। उन्हें जर्जरपन में भी यौवन की याद सताने लगती है। कबीर अनन्त के साम्राज्य में पहुंच चुका है, रहीम अभी स्वर्ण सरिता की धारा के छोर पर है। दोनों जानते हैं कि 'God most High created Adam in His own form' (Sura) परन्तु एक ने इस तथ्य का प्रत्यक्ष अनुभव किया है और दूसरे ने अभी इस पर मनन किया है। कबीर 'प्रणयी फकीर' पर मरता है। प्रतीक्षा करते करते उसकी आंखों में झाईं पड़ गई हैं। उसके प्रेमकी पीर बिखर गई है, वह मौतकी दुआ करता है अथवा फकीर के दर्शन की। अपने 'करेजे की करक' को 'प्रेम की पीर' को 'दिलमें लगी गांस' को वह जानता है और कहता है 'I endure the sorrows thou layest on me.' "Whatever woe befalls me is a favour" "So far every pain in love, when it arises from thee, I give thanks instead of complaining.'* वह रंज और गंज के समन्वय पर पहुंच चुका है। इन बातों में, अन्तस्तल की आत्मिक झंकार को सुनने में रहीम उससे पीछे है। वह अभी नैन और अधरों पर फिर रहा है। उसके प्रेम में एकान्त रुदन नहीं, उस के उपदेशों में सुधारक की भविष्यवाणी का प्रसाद नहीं।

इतना होने पर भी हम कहेंगे कि रहीम जीवनशास्त्र के निष्णात हैं। वे संसार की ग्रन्थि को सुलझाना चाहते थे। वे कलुषित संसार को धूल समझ कर प्रायः छोड़ चुके थे, तृष्णा

---

* इब्न उल फारिद

उनकी दृष्टि में भीषण व्याल बन गई थी; वे प्रेम मार्ग के बटोही बन निशीथ के आङ्गन में सैकड़ों बार रोये थे। उस नीरव आङ्गन में, उस निःसलिल सरिता में, काले अम्बर के नीचे उन्हों ने संसार को परखा था और उसे कोरा कङ्काल पाया था। वे इस कङ्काल को छोड़ छवि के उस सङ्घात की ओर चल रहे थे जिसकी अनन्त रश्मियां संसार के अगणित व्यक्तियों में विवर्तित हो समय के पदचिन्हों की नांई भास रही हैं।

तानसेन, १५६०–१६१०

तानसेन ग्वालियर के रहने वाले थे, हिन्दू से मुसलमान बने थे, और अकबर के दरबार के तथा अपने युग के सर्वश्रेष्ठ गायक थे। उन्हें १५६३ में अकबर ने अपने दरबार में बुलाया और पहला गान सुनते ही उन्हें दो लाख का पारितोषिक दिया। तानसेन हिन्दी में भी अच्छी कविता करते थे। वह जहांगीर के दरबार में भी रहे थे। उनकी रचनाओं में 'संगीत सार' और 'राग माला' प्रसिद्ध हैं।

रामदास

गोपछल के रामदास, जिन्हें महाकवि सूरदास का पिता बताया जाता है अकबर के दरबारी गायक थे और तानसेन को छोड़ शेष सब गायकों से श्रेष्ठ थे।

करण तथा नरहरि सहाय

दोनों अकबर के दरबारी कवि थे और परस्पर मित्र थे। नरहरि को अकबर ने 'महापात्र' की उपाधि से सुशोभित किया था जब कि दूसरे कवि 'गुणपात्र' ही कहाते थे।

गंगाप्रसाद अथवा कवि गंग। १५३३ में जन्म

अकबरी दरबार के प्रसिद्ध कवि थे। इनका जन्मकाल १५३३ से १६१७ तक बताया जाता है। इनका जीवन अज्ञात है। यद्यपि इनकी श्रेष्ठ कवियों में गिनती थी तथापि शोक है कि आज कल इनका रचा कोई ग्रंथ नहीं प्राप्त होता। कहा

जाता है कि इनकी रची कविता पर प्रसन्न हो, इनके आश्रयदाता अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना ने इन्हें ३६ लाख रुपये पारितोषिक में दिये थे। कवि गंग हास्यरस के आचार्य थे। इनकार युद्धवर्णन भी मार्मिक होता था।

काव्यकला—

उपर्युक्त सब कवि अकबर के दरबार में रहते थे। इनकी कविता में नीति का होना स्वाभाविक था। नीति एक प्रकार की शिक्षा है, उसमें प्रतिभा की उड़ानों के लिये अवकाश कम है। इन कवियों के समकाल ही में तुलसीदास और सूरदास भक्ति की सरिता में वह रहे थे। इनकी कविता पर अगले अध्यायों में विचार किया जायगा। दरबार और राजनीति में पाई जाने वाली नियमितता का हिन्दी की कविता पर प्रभाव पड़ रहा था। मुसलमानों की ललितकला, और दरबार तथा राजनीति की वस्तुसत्ता ने कविता को एक प्रकार के मधुर बंधन में कसना आरम्भ कर दिया था। इस बंधन में मानसिक वृत्तियों का संकोच था। कविता का दलन था। यथार्थ कविता नियमों के भार को नहीं सह सकती। फलतः जहां इसी युग के प्रतिभाशाली कवि तुलसीदास और सूरदास छन्दों को जिधर से पकड़ते हैं वहीं उन पर सोने की पत्ती चढ़ा देते हैं, जैसा भी बरतन उनके हाथ में आता है उसे ही साफ कर उसमें अपनी शराब भर देते हैं, वहां दरबारी कवि कविता के आदर्श को भूल बाहरी टीपटाप में शब्दों को समाप्त कर देते हैं। उनके छन्द सुन्दर हैं, परन्तु तुलसी की चौपाइयां सुन्दरता में मणियां हैं, नीलम पर धूप हैं।

कुछ भी हो मुगलयुग में हिन्दी कविता पर कला का प्रभाव प्रत्यक्ष होने लगा और उस पर नियमों की छाप पड़ने लगी। पिछले अध्याय में बताया गया है कि १५४० में उत्पन्न होने वाले कविवर किरपाराम ने ब्रजभाषा में 'हिततरंगिणी' नाम का काव्य

लिखा था । इसका विषय काव्यकला था । इसने आचार्य केशवदास की कविप्रिया के लिये मार्ग बनाया था ।

गुणालंकारसंयुक्तां सरसां पुण्यदर्शनाम् ।
केशवो रसिकामोदां सिषेवे कवितावधूम् ॥

केशवदास बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत ओर्छा नामक स्थान के रहने वाले थे । इनका महत्त्वशाली ग्रन्थ 'विज्ञान गीता' है, जिसे इन्हों ने अपने आश्रयदाता ओर्छा के राजा मधुकरशाह को भेंट किया था । इनकी सब से श्रेष्ठ रचना 'कवि प्रिया' बताई जाती है । इसमें इन्हों ने साहित्य के नियमों पर विचार करते हुए बताया है कि कवि को किन किन विषयों पर, किस प्रकार की, और किन नियमों के अनुसार कविता करनी चाहिये । इस ग्रन्थ की रचना से केशवदास की साहित्य क्षेत्र में धाक बैठ गई और उन्हें अलंकार शास्त्र का आचार्य माना जाने लगा । इन्हों ने अपना यह ग्रन्थ 'प्रवीणराय' पातुरी नाम की प्रसिद्ध वेश्या को समर्पण किया था जिसकी कविताएं आज भी आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं । केशव की ' रामचन्द्रिका ' मधुकरशाह के पुत्र इन्द्रजीतसिंह को समर्पित हुई थी । केशव ने राजा बीरबल के द्वारा इन्द्रजीत को अकबर के भारी जुर्माने से छुड़ाया था, इस लिये इन्द्रजीत उनका बहुत आदर करते थे । केशव ने 'रसिकप्रिया' साहित्यरस विवेचना पर और 'अलंकृत मंजरी' अलंकारों पर लिखी थी । इन ग्रन्थों में कवित्वकला के नियम ही नहीं, प्रत्युत उन नियमों के नवीन उदाहरण भी दिये गये हैं । केशव की कविता कठिन है, उसमें रसों का चमत्कार है । केशव अलंकारों का आचार्य है और कृत्रिमता का विश्वकर्मा है । उसके ग्रन्थों पर अनेक टीकाएं लिखी जा चुकी हैं । उसका अनुकरण भी खूब किया गया है ।

केशवदास १५५५-१६१७

केशवदास का महत्त्व

कबीर ने विदेशी अत्याचारों के नीचे पिसती हुई जनता के हृदय की नैराश्यजन्य शुष्कता को भक्ति के रस से सींचा था। उन्होंने सारी सृष्टि के साथ जनता का रागात्मक संबन्ध स्थापित किया था। बहिरंग तत्त्वों से दुखी हुए समाज को उन्हों ने अन्तरंग सौन्दर्य का अनुभव कराया था। परन्तु आवश्यकताओं की पूर्ति मनुष्य को अपने वर्तमान जीवन से उकता देती है। अन्तरंग भावुकता से छक कर जनता बाह्य सरसता और सुन्दरता की ओर झुकी। 'तुलसी और सूर ने केवल वैराग्य तथा केवल बहिरंग के साथ सम्बन्ध रखने वाली कविता में अन्तरात्मा को फूकने का प्रयत्न किया परन्तु वह समय के रसप्रवाह को न रोक सके। मुगल दरबार की बढ़ती हुई शान शौकत ने रीति के इस प्रवाह को भरसक सहारा दिया। कविवर केशवदास ने बहिरंग से संबन्ध रखने वाली उस युग की सब प्रवृत्तियों को अपने ग्रन्थों में एकत्र कर दिया'। यही उनकी विशेषता है।

केशव की रचना पर विचार

केशव की ६ पुस्तकों में से रामालंकृत मंजरी, कविप्रिया और रसिक प्रिया साहित्यशास्त्र से संबन्ध रखती हैं। रामालंकृतमंजरी पिंगल पर लिखी गई है। कविप्रिया अलंकार ग्रन्थ है और रसिकप्रिया में रस, नायिका भेद, वृत्ति आदि विषयों पर विचार किया गया है।

'केशव का समय संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास का वह युग है जिसमें संकलन और विश्लेषण का क्रम जोरों पर था। प्राचीन रसमार्ग उद्भट आलंकारिकों और रीतिमार्गियों के प्रचण्ड आक्रमणों को सह कर भी मम्मट आदि नवीन रसमार्गियों के प्रयत्न से अपने उचित स्थान पर प्रतिष्ठित हो गया था। ध्वनिमार्ग आगे चल कर उसकी प्रतिद्वंद्विता में खड़ा हुआ, परन्तु वह भी उसका

पोषक बन बैठा था। यद्यपि रस के वास्तविक स्वरूप के विषय में अप्पय दीक्षित और पंडितराज जगन्नाथ के वादविवाद के लिये अभी स्थान था पर फिर भी शास्त्रकारों ने यह निश्चित कर लिया था कि काव्यमें सारभूत अन्तरंग वस्तु रस है, और अलंकार, रीति और ध्वनि अपनी शक्ति के अनुसार उसके सहायक हैं, विरोधी नहीं, और न्यूनाधिक रूप से सभी का काव्य से स्थायी संबन्ध है। फलतः साहित्य शास्त्रकार अब विरोधी मतों से बहुत कुछ विरोधी अंश निकाल कर साहित्यशास्त्र के भिन्न भिन्न अंगों के सामंजस्य से एक पूर्ण पद्धति बना रहे थे। विश्वनाथ का साहित्यदर्पण और उसके समान अन्य ग्रन्थ इसी प्रयत्न के फल थे। केशव इन्हीं पिछले ढंग के आचार्यों में हैं। संस्कृत से चली आती हुई इस परम्परा को उन्होंने हिन्दी में स्थान दिया।'*

कविप्रिया

कविप्रिया के वर्णीकरण में केशव ने उन विषयों का वर्णन किया है जिन पर कविता की जानी चाहिये, यथा रंग, नदी, नगर, सूर्योदय आदि आदि। केशवदास ने इन विषयों को वर्ण्यालंकार और वर्णालंकार नाम के दो भागों में बांटा है। आगे चल कर उसने अलंकार का अर्थ विस्तृत कर दिया और उसके, वर्ण्यालंकार, वर्णालंकार तथा विशेषालंकार नाम के तीन भेद कर दिये। केशव ने अध्याय के अध्याय काव्यप्रकाश से लिये हैं। कहीं २ राजानक रुय्यक से भी सामग्री ली गई है। सूक्ष्मभेदविधान की ओर केशव का ध्यान बहुत अधिक जाता है। उसने उपमा के बाईस और श्लेष के तेरह भेद बताए हैं। रीतिमार्ग की सूक्ष्मताओं में पड़ केशव के अन्तरंग और बहिरंग का तारतम्य नष्ट हो गया था। उसकी कविता पर आडंबर और कृत्रिमता की छाप है। बाह्य शृङ्गार के बोझ में सुन्दरी कविता दब रही है। जूड़े के साथ

* नागरी प्रचारिणी पत्रिका

गुथा हुआ एक पुष्प, फूलों का एक गजरा, या मोतियों की एक लड़ी ललना के लावण्य को खिलाती है, परन्तु यहां तो उसके अङ्गों को तोड़ मरोड़ कर उस पर सोने का बोझ लाद दिया गया है।

कवित्व की दृष्टि से केशव का स्थान बहुत ऊंचा नहीं है। इनकी कविता को पढ़ मनुष्य का संसार के साथ रागात्मक संबन्ध नहीं उत्पन्न होता। गढ़े हुए पद्यों अथवा फर्मायशी कविता में यह राग कैसे संभव है ? केशव के काव्य में रागात्मक तत्त्व बहुत कम मिलता है।

कवित्व

मनुष्य जीवन की भिन्न भिन्न दशाओं का वर्णन करने में केशव दक्ष हैं। परन्तु यहां भी उनकी दृष्टि परिमित है और बाह्य इङ्गितों पर रुक जाती है।

वर्णन

भय और लज्जा से उत्पन्न हुई सिकुड़न का आप इस प्रकार वर्णन करते हैं--

सबै अङ्ग लै अङ्ग ही में दुरायो।

यह वर्णन खरा है और कालिदास के शकुन्तला नाटक में आने वाले (भय से पूंछ दबाकर भागने वाले) मृग के वर्णन को याद दिलाता है। मनुष्य जीवन के अन्दर तो उनकी अन्तर्दृष्टि कुछ दिखाई भी देती है पर प्रकृति के जितनेभी वर्णन इन्होंने किये हैं वे प्रकृति निरीक्षण का नाममात्र को भी परिचय नहीं देते। 'क्लिष्टता की दृष्टि से केशव की कविवर मिल्टन के साथ तुलना की जाती है, परन्तु यह मिल्टन पर सरासर अन्याय है। मिल्टन के साथ उनकी इतनी ही समानता है कि इन्होंने भी प्रकृति का परिचय कवि-परम्परा से पाया है। मिल्टन लावा (Lark) पक्षी को खिड़की पर ला बैठाते हैं तो ये कहीं बिहार की तरफ विश्वामित्र के

तपोवन में—

एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं।

कह चलते हैं।' प्रकृति के सौन्दर्य से उनका हृदय द्रवीभूत नहीं होता। उनके हृदय का वह विस्तार नहीं जो प्रकृति में भी मनुष्य के सुख दुःख के लिये सहानुभूति ढूंढ सकता है, जीवन का स्पन्दन देख सकता है, परमात्मा के अन्तर्हित स्वरूप का आभास पा सकता है। इनके लिये फूल निरुद्देश्य फूलते हैं, नदियां बेमतलब बहती हैं, वायु निरर्थक चलती है। केशव की पुस्तकें पढ़ते चले जाइये, सारा वर्णन चमत्कार से परिपूर्ण मिलेगा। इनकी कल्पना मस्तिष्क की उपजमात्र है, हृदयजात नहीं।

हां, केशवदास कला में प्रवीण हैं, उनकी बुद्धि प्रखर है और दरबारी होने के कारण उनका वाग्वैदग्ध्य ऊंचे दरजे का है। रामचन्द्रिका सुन्दर और सजीव वार्तालापों से भरी पड़ी है। व्यंजनाएं कई स्थानों पर खरी हैं, पर वे वस्तु या अलंकार की हैं, भाव की नहीं।

'भाषा, इनकी काव्योपयोगी नहीं है। प्रसाद गुण का इनमें अभाव है। परन्तु इनके नाम और करामात का ऐसा जादू है कि इन्हें महाकवि केशवदास कहे बिना जो नहीं मानता।'

केशवदास के समकालीन कवि

केशव के भाई बलभद्र सनाढ्यमिश्र ने अनेक ग्रन्थ रचे थे। इनमें से एक भागवतपुराण के ऊपर टीका है। उनकी कृतियों में 'नख शिख' को सब से श्रेष्ठ माना जाता है। नखशिख का विषय काव्यकला के साथ संबन्ध रखता है। नखशिख में नायक और नायिका के एड़ी से लेकर चोटी तक के अंगों का वर्णन किया जाता है। इस प्रकार की कविता संस्कृत और हिन्दी दोनों में समान है। प्रतिभा के क्षीण होने पर कवियों के लिये यही एक विषय रह गया था। नायक और नायिकाओं के भेदों पर बलभद्र ने लिखा है, और

खूब लिखा है। इन्हों ने नायक नायिकाओं के इतने भेद बना डाले हैं कि उन्हें पढ़ते २ पाठक की तबीयत ऊबने लगती है।

बालकृष्ण त्रिपाठी
१६००

बालकृष्ण ने अनेक ग्रन्थ रचे थे जिन में 'रसचन्द्रिका' प्रसिद्ध है। इसमें कविता की कला का अच्छा निरूपण है।

जहांगीर और शाहजहां के समय के आलंकारिक कवि।

अकबर की मृत्यु के पश्चात् भी हिन्दीसाहित्य को प्रोत्साहन मिलता रहा। जहांगीर और शाहजहां मनचले बादशाह थे। ललितकलाओं के साथ उनका प्रेम था। जहांगीर (१६०५-१६२७) और शाहजहां (१६२७-१६५८) ने अकबर की नीति को बनाये रक्खा और हिन्दी कवियों को आश्रय दिया। शाहजहां के पुत्र दाराशिकोह साहित्यसेवकों के प्रेमी थे और उनका हिन्दूधर्म की ओर खासा झुकाव था। औरंगजेब के जमाने में भी, (१६५८-१७०७) श्रेष्ठ कवियों को कविराज की उपाधि से विभूषित किया जाता था।

सुन्दर-१६३१

जाति के ब्राह्मण थे, शाहजहां के राजकवि थे, और कविराज पदवी से विभूषित थे। उन्हों ने 'सुन्दर-श्रृङ्गार,' नामका काव्य लिखा था जिसका विषय पुस्तक के नाम से प्रकट है। उन्हों ने व्रजभाषा में 'सिंहासन बतीसी' लिखी थी जिसका पीछेसे लल्लूजी-लाल ने उर्दू में अनुवाद किया।

सेनापति-१५८९

सेनापति का जन्म १५८९ के लगभग हुआ था और मृत्यु १६४९ के पश्चात्। वह कनौजिया ब्राह्मण थे और कृष्ण के परम भक्त थे। उनका प्रधान ग्रन्थ है 'कवित्तरत्नाकर' जिसका संवत् १६४९ है। अलंकार तथा काव्यकला के साथ संबन्ध रखने वाली बातों का इस ग्रन्थ में अच्छा विवेचन है। इनका ऋतु वर्णन

मादक होता था । कविवर देवदत्त के सिवाय और सभी हिन्दी-कवियों से इस विषय में यह बाजी लेगये हैं । इनके रचे दूसरे ग्रन्थ का नाम 'काव्यकल्पद्रुम' है । प्रतीत होता है कि इन्हों ने फुटकर कविताएं लिखी थीं जिन्हें पीछे से लोगों ने पुस्तक के रूपमें संगृहीत कर दिया । जेठ और असाढकी मिश्रित ऋतु का वर्णन देखिये-

तपत है जेठ जग जात है झरनि जर्यो तार को तरनि मानों झरनि झरत है ।
इतहि असाढ उठि नूतन सघन घटा सीतल समीर हिय धीरज हरत है ॥
आधे अङ्ग ज्वालनि के जाल विकराल आधे सीतल सुभग मोद हीतल भरत है ।
सेनापति ग्रीषम तपति रितु भीषम है मानौ बड़वानल सों वारिधि जरत है ॥

अनोखी कल्पना है, आग और पानी के संमिश्रण का अच्छा नमूना है । सेनापति अपनी प्रियतमा का वर्णन इस प्रकार करते हैं ।

पून्यो सी तिहारी लाल प्यारी मैं निहारी बाल तारे सम मोती के सिंगार रहे साजि कै ।
झीनी पट चांदनी सों गात अवदात जात लोचन चकोरनि को देखे दुख भाजिकै ॥
सेनापति तनसुख सारी को किनारी बीच नारी के वदन आछी छवि रहि छाजिकै ।
पूरण सरद चन्द बिम्ब ताके आस पास मानहु अखण्ड रह्यो मण्डल विराजि कै ॥

त्रिपाठी भाई

रत्नाकर त्रिपाठी कनौजिया ब्राह्मण थे, कानपुर जिले के टिकवामपुर नामक स्थान में रहते थे । आपके चार पुत्र थे जो सब के सब हिन्दी के अच्छे कवि बने । ये शाहजहां और औरंगजेब के

जमानेमें सत्रहवीं (१७) सदी के पिछले भाग में हुए और इन्होंने केशवदास के रीतिप्रवाह को भली प्रकार विकसित किया। ज्येष्ठ पुत्र का नाम चिन्तामणि त्रिपाठी था, जिसके अनेक आश्रयदाताओं में से शाहजहां भी एक थे। इन्हें साहित्य में प्रमाण माना जाता है। इनके ग्रन्थों में छन्दविहार, काव्य विवेक, कविकुलकल्पतरु, और काव्यप्रकाश प्रख्यात हैं। इन्हों ने कवित्त में रामायण लिखी थी और अनेक फुटकर कविताएं भी की थीं।

सब में छोटे का नाम था जटाशङ्कर अथवा नीलकण्ठ त्रिपाठी।

भूषण त्रिपाठी

चिन्तामणि और नीलकण्ठ को अपेक्षा भूषण और मतिराम अच्छे कवि थे। भूषण अनेक राजाओं के दरबार में गये, परन्तु आश्रय उन्हें सितारा के शिवाजी तथा पन्ना के राजा छत्रसाल के दरबार में मिला। एक बार छत्रसाल ने भूषण की पालकी में स्वयं कन्धा दिया था। शिवाजी उन पर विशेष रूप से मेहरबान थे। कहा जाता है कि एक बार प्रसन्न हो उन्हों ने एक ही कविता के लिये भूषण को ५ हाथी और २५००० रुपये पारितोषिक के रूप में दे डाले थे। इनका प्रधान काव्य 'शिवराज भूषण' है। यह वीर-रसका उत्कृष्ट ग्रन्थ है। यह ऊंची कोटि का अलंकार ग्रन्थ है और शिवा जी की प्रशंसा में लिखा गया है। आइये इसके कवित्व पर विचार करते हुए इसकी केशव के रामचन्द्रिका नामक ग्रन्थ के साथ तुलना करें।

सच्ची कविता वह है जो सारी सृष्टि के साथ हमारा 'रागात्मक' संबन्ध स्थापित करे। सच्ची कविता के पढ़ने से जीवन के साथ हमारा एक घनिष्ट और नवीन संबन्ध उत्पन्न हो जाता है। उस नवीन संबन्ध के द्वारा हमारे संमुख प्रकृति के बाह्य तथा अन्तर्गत् के (मानसिक) द्वार खुल जाते हैं और वह तीव्र वेग से में उस केन्द्र की ओर ले जाता है जहां अनन्त भावनाओं तथा

स्वर्गीय इच्छाओं का उद्गम है। फलतः कविता में अन्तरंग और बहिरंग दोनों का होना आवश्यक है। अनन्त की भावना गढे हुए उदाहरणों से नहीं हो सकती, और नाही फर्मायिशी पद्यों तथा चाटुकारी के लिये की गई झूठी प्रशंसा से ही वह संभव है। रामचन्द्रिका को लिखते समय केशव की आंख अलंकारों के लक्षणों की ओर रहती थी, उनका अन्तरात्मा शब्दाडम्बर में इतना धंसा रहता था कि उसे अनन्त आकाश की ओर देखने का अवसर ही नहीं मिलता था। फलतः केशव की कविता में अन्तरंग की न्यूनता थी।

दूसरी ओर भूषण का शिवराजभूषण अलंकार ग्रन्थ होने पर भी उत्कृष्ट काव्य है, क्योंकि यहां शिवाजी की प्रशंसा झूठी नहीं अपितु यथार्थ है, और सच्चे दिल से की गई है। कविता करते समय भूषण के दिल में बेचैनी थी, भाव उमड़ रहे थे। उसने किसी प्रकार का पारितोषिक पाने की नीयत से अपना यह पद्य—

इन्द्र जिमि जम्भ पर वाडव सुअंभ पर,
रावण सदम्भ पर रघुकुल राज है।
पौन बारिवाह पर संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहसबाह पर राम द्विजराज है॥
दावा द्रुमदण्ड पर चीत मृगझुण्ड पर,
भूषन वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥

नहीं लिखा, प्रत्युत अपने दिल का आवेश बाहर निकाल कर उसे हलका करने के लिये, हिंदुत्व के संदेश को जनसाधारण के दिल की गहराई तक पहुंचाने के लिये, और उसकी रक्षा के सत्यस्वरूप को प्रत्यक्ष कराने के लिये। शिवाजी और भूषण पृथक्

पृथक् दो व्यक्ति नहीं थे। वे एक ही घटना के दो पक्ष थे। हिन्दुत्व की प्रदीप्त आत्मा कर्मक्षेत्र में शिवाजी और भावनाक्षेत्र में भूषण के रूप में जाज्वल्यवती हुई थी। भूषण प्रोद्वर्तित भावनाक्षेत्र के शिवाजी थे और शिवाजी कठोर कर्मक्षेत्र के भूषण। संक्षेप में भूषण के काव्य को पढ़ हमारे हृदय में रागात्मक संबन्ध का संचार हो जाता है। हमारा हृदय वीरता के समुद्र में हिलोरें लेने लगता है। उसकी तन्त्री झनक उठती है और भावना रणक्षेत्र की तलवारों पर नाचने लगती है। भूषण का ध्येय यही था, और यही उसकी कविता थी।

शिवराजभूषण का निर्माणकाल १६६६ और १६७३ के बीच में है। भूषण के ग्रन्थों में से कुछ लुप्त हो गये हैं। शिवराजभूषण के अतिरिक्त उनकी और कविताएं भी मिलती हैं, जो शिवराज तथा छत्रसाल की स्तुति में लिखी गई हैं। भूषण वीररस और रौद्ररस की मूर्ति थे। हिन्दी साहित्य में उनका आसन बहुत ऊंचा है। हिन्दू जाति के जीवन में उनकी जान है, उसी के उत्थान की उन में तड़प है। भूषण की कविता में सुमेरु डोल रहा है, सूर्यमण्डल फटा जा रहा है, महोदधि मथे जा रहे हैं। भूषण का प्रधान मन्त्र था 'जग जांय तेरी नोक से सोये हुए हों भाव जो' इसी के निमित्त वह शिवाजी के दरबार में पहुँचा था। उसने अपनी तेजोमयी वाणी से शिवाजी के हृदय में प्रचण्ड क्रोधाग्नि भड़का दी थी जिसने मुसलमानों की आततायिता को कुछ काल के लिये भस्म कर दिया था। निम्न लिखित पद्य में भूषण और शिवाजी दोनों एक साथ प्रतिबिम्बित हैं—

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठे बार बार,
दिल्लि दहसति चितै चाह करषति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर पति;
फिरत फिरंगिन की नारि फरकति है॥

थरथर कांपत कुतुबसाहि गोलकुण्डा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते पातसाहन की छाती धरकति है॥

शिवाजी और भूषण की समकालीनता पर विचार

काशी के प्रसिद्ध पण्डित भागीरथप्रसाद दीक्षित ने भूषण के विषय में बहुत खोज की है। शिवराज भूषण की अन्तरंग परीक्षा और ऐतिहासिक घटनाओं की बहिरंग परीक्षा के पश्चात् आप इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि 'भूषण शिवाजी के समकालीन कदापि न थे, उनके आश्रय में उन्होंने ग्रन्थ नहीं रचा था, और न मतिराम भूषण के भाई ही थे। यह बातें किंवदन्ती के आधार पर फैल गई हैं। आपने भूषण के विषय में निम्न लिखित प्रकार से विवेचना की है—

(१) भूषण का वंशपरिचय और मतिराम का बंधुत्व।
(२) भूषण और उसके आश्रयदाता।
(३) शिवाजी और भूषण की समकालीनता।
(४) शिवराजभूषण का निर्माणकाल।

भूषण का वंश परिचय और मतिराम का बन्धुत्व

दुज कनौज कुल कश्यपी रत्नाकर सुतधीर।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा तरनितनूजा तीर॥
शिवराजभूषण।

से स्पष्ट है कि भूषण कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में कश्यप गोत्री रत्नाकर के पुत्र थे और जमुना के किनारे त्रिविक्रमपुर 'त्रिकमनपुर' नामक गांव में रहते थे।

(आ) 'छन्दसार पिङ्गल' में मतिराम अपना इस प्रकार परिचय देता है—

'तिरपाठी वनपुर बसै वत्सगोत्र सुनि गेह।
विबुध चक्र मनि पुत्र तहं गिरिधर गिरधर देह॥

भूमिदेव बलभद्र हुव तिनहि तनुज मुनिगान।
पंडित पंडितमण्डलीमण्डन मही महान॥
तिनके तनय उदारमति विश्वनाथ हुव नाम।
तासु पुत्र मतिराम कवि निज मति के अनुसार॥

इन दोहों से स्पष्ट है कि मतिराम वत्सगोत्री, वनपुरनिवासी पंडित विश्वनाथ के पुत्र थे और श्रुतिधर के भतीजे थे। भूषण कश्यप गोत्री थे और मतिराम वत्सगोत्री। पहले रत्नाकर के पुत्र थे, दूसरे विश्वनाथ के। फलतः दोनों बन्धु न थे।

(इ) नवीनकृत 'प्रबोधरससुधासर' से विदित होता है कि जहांगीर के समय में प्रसिद्ध चिन्तामणि से भिन्न इसी नाम के एक और कवि थे। अतः शुजा के प्रशंसक चिन्तामणि से प्रसिद्ध चिन्तामणि भिन्न थे जो कि भूषण के भाई थे।

(ई) नीलकण्ठ के विषय में कोई प्रमाण भूषण का भाई होने का नहीं पाया जाता।

(२) भूषण और उनके आश्रयदाता— (१) रुद्रशाहि

'कुल सुलंक चित्रकूटपति साहस सील समुद्र
कवि भूषण पदवी दई, हृदयराम सुत रुद्र॥

शि० रा० भूषण।

रुद्रशाहि चित्रकूटपति सोलंकी वंश में हृदयराम के पुत्र थे, उन्होंने प्रस्तुत कवि को भूषण की उपाधि से विभूषित किया था।

(२) भूषण के दूसरे आश्रयदाता रीवांनरेश अवधूतसिंह जी थे। समय (१७५७-१८१२ वि०)।

(३) महाराज साहू सितारानरेश (१७६५-१८०५ वि०)। इनकी प्रशंसा में भूषण और चिन्तामणि के अनेक छन्द पाये जाते हैं।

(४) कमाऊंनरेश ज्ञानचन्द्र (१७५७-१७६५ वि०)। मतिराम

ने ज्ञानचन्द्र के हाथियों की प्रशंसा की है, और भूषण ने भी उसके हाथियों की भूरिभूरि प्रशंसा की है।

(५) बाजीराव पेशवा—(१७७७-१७९७ वि०)

बाजीराव बाजकी चपेट चंग चहुँ ओर,
तीतर तुरुक दिल्ली भीतर बचै नहीं।

(६) चिन्तामणि (चिमनाजी) बाजीराव के छोटे भाई थे। (१७८० वि० के लगभग)

(७) महाराज छत्रसाल बुंदेला—(१७२८-१७९१ वि०)।

'साहू को सराहौं कै सराहूं छत्रसाल को'
शि० रा० भूषण

(८) रावराजा बुधसिंह बूंदीनरेश—(१७६४-१७९८) की प्रशंसा में भूषण के छन्द मिलते हैं।

(९) जयपुरनरेश सवाई जयसिंह—(१७५६-१८०० वि०) सं० १७५६ में गद्दी पर बैठे थे। इन्होंने जयपुर बसाया था और जयपुर, दिल्ली आदि में वेधशालाएं बनवाई थीं, जिनका भूषण में वर्णन पाया जाता है।

(१०) दिल्ली का बादशाह जहांदारशाह सं० १७६९ में गद्दी पर बैठा था। भूषण उससे मिले थे।

(११) भगवन्तराय खीची—असोथर नरेश थे, इन्होंने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की थी। भूषण इनसे परिचित थे।

(१२) पौरच जाति के राजा अमरेश के पुत्र अनिरुद्धसिंह की प्रशंसा में भी भूषणकृत एक छन्द मिला है। ये क्षत्रिय थे और अलीगढ़ में रहते थे। इनका समय अनिश्चित है।

(२) भूषण और शिवाजी

उक्त आश्रयदाताओं में से एक भी शिवाजी का समकालीन नहीं था। शिवाजी की मृत्यु सं० १७३७ विक्रमी में हुई। इनकी मृत्यु के २० वर्ष पीछे तक भूषण का एक भी आश्रयदाता

दिखाई नहीं देता । अकेले छत्रसाल के प्रारंभिक काल से शिवाजी का अंतिम समय मिलता है । पर भूषण छत्रसाल के यहां साहू के दरबार से लौट कर गये थे और तभी उन्होंने 'साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रछाल को' वाला पद्य लिखा था ।

भूषण को उपाधि भी रुद्रसाहि द्वारा सं० १७५७ के लगभग मिली थी । अतः रुद्रसाहि से २० वर्ष पूर्व परलोकवासी होने वाले शिवाजी के दरबार में भूषण कैसे पहुँच सकते है ।

भूषण शिवाजी को ईश्वर का अवतार मानते थे । भूषण ने राष्ट्रकवि होने के कारण अन्य राजाओं में शिवाजी का आदर्श स्थापित करने के लिये शिवराजभूषण रचा । भूषण और शिवाजी के मिलने की घटना का साहू से ही सम्बन्ध है ।

उपर्युक्त परिणाम भूषण की रचना से प्रत्यक्ष हो जाता है । उसमें ऐतिहासिक क्रम नहीं है, और नाहीं उसमें जीवनचरित्र का ढंग ही है । 'सूदन का सुजानचरित्र, लाल का छत्रप्रकाश, पद्माकर की हिम्मतबहादुरविरुदावली आदि ग्रंथ उनके रचयिताओं ने अपने आश्रयदाताओं के सामने रह कर रचे हैं । उनमें और शिवराज भूषण के क्रम में बहुत भिन्नता है' । इसकी बहुत सी घटनाएं शिवाजी के पीछे की हैं । 'शिवराजभूषण के छन्द २४९ में जो अनेकों आश्रयदाताओं का उल्लेख है, उनके, यहां जाने के पीछे ही भूषण साहू के दरबार में पहुंचे थे और तभी अपने ग्रन्थ में उन्होंने उनका उल्लेख किया है ।' अतः भूषण शिवा जी के समकालीन कदापि न थे ।

उपर्युक्त मत पर अभी वादविवाद चल रहा है । रुद्रशाहि के काल निर्णय पर सारी समस्या का निर्णय निर्भर है । क्योंकि उसी ने प्रस्तुत कवि को भूषण की उपाधि से विभूषित किया था । इस प्रश्न का निर्णय करने के लिये ऐतिहासिक गवेषणा की आवश्यकता है ।

मतिराम त्रिपाठी

मतिराम पहले बूंदी के महाराज राव भाऊसिंह के दरबार में रहते थे, परन्तु पीछे से सुलांकी के राजा शंभुनाथ के दरबार में पहुंच गये । राव भाऊसिंह की स्तुति में उन्हों ने 'ललितललाम' नाम का अलंकार ग्रन्थ लिखा । इसके कुछ उदाहरणों में आश्रय-दाता की स्तुति है, और कुछ में प्रेमका वर्णन है । इसमें अलंकारों को सरल रीति से समझाया गया है, इस लिये यह ग्रन्थ सरस होता हुआ भी सुबोध है । इसका रचनाकाल १६६४ के लगभग है । शंभुनाथ की स्तुति में इन्हों ने 'छन्दसारपिङ्गल' लिखा था, जिसमें कविता करने के प्रकारों की विवेचना की गई है । 'रसराज, का विषय प्रेम है, इसमें नायिकायों के भेदों पर विचार करते हुए प्रेम की महिमा दिखाई गई है । यह ग्रन्थ अत्यन्त सरस है । इन्हों ने एक और ग्रन्थ बनाया था जिसका नाम 'सतसई मतिराम' है । इनकी भाषा स्वच्छ है सुन्दर है और मधुर है । इनकी उपमा सुन्दर हैं, मनुष्य के भिन्न भिन्न स्वभावों का इन्हों ने मार्मिक चित्रण किया है । इनके दोहों की बिहारी के दोहों के साथ तुलना की जाती है ।

साखन करत उपचार अति, परति विपति उत रोज ।
झुरसत ओज मनोज के, परसत उरोज सरोज ॥
भली लगे उर भावते, करी भावती आप ।
काम निसैनी सी बनी, यह बेनी की छाप ॥

मतिराम के इन दोहों में शृङ्गार का परिपाक पूर्ण है । चिन्तातुर नवेली के वर्णन में मतिराम ने कमाल किया है—

सोचति सेज परी यों नवेली, सहेली सों जात न बात सुनाई ।
चंद चढ्यो उदयाचल पै, मुखचन्द पै आन चढ़ो पियराई ॥

कैसी सुन्दर कल्पना है ? मुखचन्द्र की पियराई का कैसा अच्छा उत्थान है ? एक स्थान पर आप सयानी नायिका से कहते है—

कुंजन में मतिराम कहूं, निसी धौसहु घात परे मिलि जैवो ।
लाल सयानी अलीन के वीच, निवारिये ह्यां की गलीन को ऐवो ॥

शाहजहां के समय के अन्य कवि—

शंभुनाथ, १६५०

सितारा के राजा शंभुनाथ मतिराम के मित्र और आश्रयदाता थे। उनके दरबार में कवियों की भीड़ रहती थी। उन्हों ने 'नायिका भेद' और 'नखशिख' की रचना की है। यह ग्रन्थ अपने विषय में अच्छे हैं। इनके 'नखशिख' का शृङ्गार की कविता में ऊंचा स्थान है।

सरस्वती, १६५०

वनारस के ब्राह्मण थे, संस्कृत के धुरंधर विद्वान् थे। शाहजहां के कहने पर आपने हिन्दी में कविता प्रारंभ की भी। आपकी 'कवीन्द्रकल्पलता' प्रसिद्ध है। इस में शाहजहां, दाराशिकोह तथा वेगम साहिवा की स्तुति की गई है।

तुलसी, १६५५

तुलसी में मौलिकता कम थी। उन्होंने १६५५ में 'कवि-माला' नाम का अच्छा संग्रह वनाया था जिस में १४४३ से १६४३ तक के ७५ कवियों की सूक्तियों का संग्रह है।

कविवेदांगराय, १६५०

आप भी इसी युग में हुए थे। इन्होंने शाहजहां के कहने पर 'पारसी प्रकाश' नाम का ज्योतिषविषयक ग्रन्थ लिखा था। इस में हिन्दू और मुसलमानों के मास, तथा वर्षादि के गिनने की विधियों पर विचार किया गया है।

विहारीलाल चौवे

ये केचिदन्यरसवर्णनमूकवाचः,
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनन्ति।
तेषामयं मनसि चन्दनचन्द्रिकेन्दु—
कान्तद्रवं विजयते विकिरन् विहारी ॥

अलङ्कारविषयक कविता करने वाले कवियों में बिहारीलाल का स्थान सब से ऊंचा है। कहा जाता है कि ये धौम्यगोत्री सोती घरबारी माथुर चौबे थे। उनका वेद ऋक्, शाखा आश्वलायन; प्रवर तीन अर्थात् कश्यप अत्रि और सारण्य, तथा कुलदेवी महाविद्या थीं। उनके पिताका नाम केशवदेव अथवा केशवराय था, और पितामह का नाम वसुदेव। महाशय व्रजदास के मत में बिहारी के पिता केशवदास, और कविवर केशवदास दोनों एक थे।

बिहारी का जीवन चरित्र

बिहारीका जन्म संवत् १६५२ में ग्वालियर में हुआ था। उनके एक भाई और एक बहिन और थे। पत्नी की मृत्यु के उपरान्त बिहारी के पिता (१६५९ में) ओरछे चले गये। ओरछे के इन्द्रजीतसिंह के दरबार में बिहारी का कविवर केशव तथा प्रवीण राय पातुकी (नर्तिका) से संयोग हुआ।

ओरछे के पास, दसान नदी के किनारे गुढ़ौ गांव में महात्मा नरहरिदास रहते थे। बिहारी १२ वर्ष की अवस्था में ही अपने पिता के साथ महात्माजी के पास आने जाने लगे और विद्याभ्यास करने लगे। उक्त स्वामीजी ने आपका नाम बिहारी 'दास' रक्खा। इन्हीं दिनों आप कविवर केशवदास से भी शिक्षा पाते रहे। पातुरी के नृत्य ने आपको बाल्य ही में रंगीला बना दिया और आप में कविता के लक्षण दीखने लगे। बिहारी के शृङ्गारिक पाण्डित्य का सूत्रपात यहीं से होता है।

संवत् १६७० के लगभग, केशवदेव ने बिहारी आदि के साथ व्रज की ओर प्रस्थान किया। वृन्दावन पहुँच केशवदेव नरहरिदास के गुरु सरसदेवजी के पास ठहरे। वहां बिहारी ने विद्याभ्यास किया और संगीत सीखा। बिहारी की बहिन का विवाह हरिकृष्ण मिश्र के पुत्र परशुराम मिश्र के साथ हुआ। बिहारी का विवाह मथुरा के किसी चौबे की पुत्री से हुआ। विवाह के पश्चात बिहारी अपनी

ससुराल में और उनके पिता वृन्दावन में रहने लगे।

सं० १६७५ के लगभग नरहरिदास वृन्दावन की ओर आए। उन्हों ने अवसर पा बिहारी की प्रशंसा शाहजहां से की। शाहजहां बिहारी को अपने साथ आगरे ले गये। वहां बिहारी ने फारसी का अभ्यास किया। यह दिन उनकी उन्नति के थे। कहा जाता है कि अब्दुलरहीम ख़ानख़ाना ने बिहारी के इस दोहे को सुन-

गंग गोंछ मोछैं जमुन अधरनु सरसुति रागु।
प्रकट खानखानान कैं कामद वदन प्रयागु॥

उसे भारी पारितोषिक दिया था। विहारी ने अपना परिचय उन्हें इस प्रकार दिया था-

जनम गवालियर जानिये, खण्ड बुँदेले बाल।
तरुनाई आई सुघर, वसि मथुरा ससुराल॥
श्री नरहरि नर नाह कौं, दीनी बांह गहाई।
सुगुन आगरैं आगरै, रहत आइ सुख पाई॥

१६७७ सं० के आस पास शाहजहां को पुत्र का लाभ हुआ और देश में उत्सव मनाए गये। राजकीय महोत्सव में ५२ के लगभग राजा उपस्थित थे। सब के साथ विहारी की जान पहचान हो गई और सभी ने उनके लिये थोड़ा बहुत सालाना बांध दिया।

सं. १६७७ से सं. १६९१ तक विहारी मथुरा वृन्दावन तथा आगरे में यथारुचि और यथावसर रह विद्याभ्यास करते रहे। वे बीच बीच में सालाना लेने के लिये राजाओं के पास भी जाया करते थे। इन यात्राओं में विहारी को ४-५ बार आमेर भी जाना पड़ा था।

एक बार १६९२ के लगभग विहारी सालाना लेने आमेर गये।

विहारी के जीवन की विशेष घटना

उन दिनों वहां के महाराजा जयसिंह अपनी नवोढा वधू पर मस्त हो रहे थे और दिन रात उसी के महल में पड़े रहते थे। विहारी को

उनकी इस दशा पर शोक हुआ। उन्हों ने मंत्रियों के कहने से निम्नलिखित दोहा राजा के पास महल में भेजा—

नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहि विकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बंध्यो, आगे कौन हवाल॥

दोहे ने जादू का काम किया। राजा को अपनी स्त्रैणता का बोध हो गया और उन्हों ने बिहारी को अपने यहां रख लिया। राजा की चौहानी रानी ने प्रसन्न हो बिहारी को काली पहाड़ी नाम का ग्राम पारितोषिक में दिया और उनका एक चित्र खिंचवाया जो अब तक जयपुर के महल में विद्यमान है। इन दिनों आमेर में सुन्दर, चतुरलाल, मंडन, गंग, गोपाललाल, मुकुन्द आदि अनेक कवियों का जमघट हो रहा था। बिहारी भी उनमें मिल गये।

बिहारी के ८-१० वर्ष आनन्द में बीते। १७०० के लगभग चौहानी रानी के प्रार्थना करने पर बिहारी ने राजपुत्र रामसिंह को विद्याध्ययन प्रारंभ कराया। उसके दो वर्ष पश्चात् कुमार रामसिंह के हिन्दीज्ञान के लिये बिहारी ने दोहों का एक संग्रह बनाया। उस समय तक सतसई पूरी नहीं हुई थी।

इस बीच में बिहारी ने अपनी स्त्री को आमेर बुलवा लिया। परन्तु वह निःसन्तान रहे इसलिये उन्होंने अपने भाई के निरंजन नामक पुत्र को गोद ले लिया। कालीपहाड़ी पहुँच बिहारीग्राम वधूटियों के हाव भावों का परीक्षण किया करते थे। यह बात उनके दोहों से स्पष्ट है।

१७०४ के जाड़ों में उन्होंने अपनी सतसई पूरी कर दी। उसी साल महाराज जयसिंह औरंगजेब के साथ बलख की चढ़ाई पर गये थे और वहां से वीरता के साथ बादशाही सेना को पठानों तथा बर्फ से बचा लाए थे। बिहारी ने इस अवसर पर निम्नलिखित दोहे पढ़ कर—

बिहारी की सतसई

सामा सेन सयान की, सबै साहि कैं साथ।
बाहुबली जय साहि जू, फतै तिहारे हाथ ॥
यों दल काढै बलक तैं, तैं जयसिंह भुआल।
उदर अघासुर कैं परैं, ज्यों हरि गाइ गुआल ॥
घर घर तुरकिनि हिन्दुनि, देति असीस सराहि।
पति नु राखि चादर चुरी, तैं राखी जय साहि ॥

अपनी सतसई महाराज को भेंट कर दी।

इस घटना के आसपास बिहारी की स्त्री का देहान्त हो गया। फलतः वे संसार से विरक्त हो वृन्दावन जा बसे और अपने पोष्य पुत्र को रामसिंह के दरबार में छोड़ गये। बिहारी आमेर छोड़, अपने गुरु श्री नरहरि के पास वृंदावन आए, और अपना शेप जीवन वहीं शान्तिपूर्वक भगवद्भजन में व्यतीत करके संवत् १७२१ में परम धाम सिधारे।

खेद का विषय है कि जिस प्रकार बिहारी की, सतसई से पहली कोई रचना नहीं मिलती, उसी प्रकार इससे पीछे की भी उनकी कृति देखने में नहीं आती। सम्भव है वृन्दावन पहुँच इन्हों ने कविता का व्यसन ही छोड़ दिया हो।

सतसई में ७०० के लगभग दोहे तथा सोरठे सम्मिलित हैं। जिस शैली पर सतसई की रचना हुई है उसे संस्कृत में मुक्तक कहते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य लिखते हैं—

'मुक्तमन्येन नालिङ्गितम्, पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्'। अर्थात् अगले पिछले पद्यों से जिसका संबन्ध न हो, अपने विषय को प्रकट करने में अकेला ही समर्थ हो ऐसे पद्य को मुक्तक कहते हैं। इसका नाम उद्भट भी है। हिन्दी में इसे फुटकर कहते हैं। इसकी रचना अत्यन्त कठिन है।

सतसई का विषय

सतसई के बहुसंख्यक दोहों का इशारा राधाकृष्ण की केलि-क्रीडा की ओर है । उनका प्रयोजन है कविता की कला का निर्देश और अलङ्कारों का संप्रदर्शन । क्योंकि प्रत्येक दोहा स्वतन्त्र है इस लिये उसको सहज ही आगे पीछे किया जा सकता है और यही कारण है कि सतसई आजकल अनेक रूपों में मिलती है । सब रूपों में आज़मशाही पाठ प्रामाणिक है, जो औरंगजेब के तीसरे पुत्र कुमार आज़मशाह के लिये तैयार किया गया था । आज़मशाही प्रति की संक्षिप्त विवेचना से ज्ञात हो जायगा कि इस काल के कवियों की धारणा के अनुसार कवि बनाने से बनता था न कि स्वभाव से । प्रारम्भिक पद्यों का विषय सामान्य है । अगले कतिपय पद्य नायक के चतुर्विध भेदों में से प्रत्येक भेद पर लागू हैं । उन से अगले दोहों का संबन्ध नायिकाभेद के साथ है । इन पद्यों में नायिकाओं के भेदों पर विचार किया गया है । आगे चलकर रसों का विवेचन है । लगभग १७० दोहे विरह की पीडा में छटपटा रहे हैं । तीसरे प्रकरण में नखशिख का वर्णन है । इसमें ऋतुओं की छानबीन है । चतुर्थ प्रकरण में नौ रसों की, अर्थात् हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, शान्त, तथा शृङ्गार की विवेचना है ।

सतसई की टीकाएं

सतसई की ३० के लगभग हिन्दी टीकाएं हो चुकी हैं । परन्तु सहृदय लोगों की उनसे तृप्ति नहीं हुई । वे नीलकण्ठ के इस कथन की दुहाई देकर—

'पश्येयमेकस्य कवेः कृतिं चेत्
सारस्वतं कोशमवैमि रिक्तम् ।
अन्तः प्रविश्यायमवेक्षितश्चेत्
कोणे प्रविष्टा कविकोटिरेषा ॥

*सतसई के समुद्र से अभी और मोती निकालने का प्रयत्न कर रहे हैं।

विहारीदास अपने विषय में अनुपम हैं। उन्हों ने अपनी सतसई गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती तथा अमरुशतक के आदर्श को सामने रख कर लिखी है, और उनसे तथा संस्कृत के अन्य कवियों से बहुत कुछ लिया है। परन्तु यह लेना चोरी नहीं प्रत्युत 'मजमून का छीनना' है।

---

* टीकाओं के नाम इस प्रकार हैं—

(१) कृष्णलाल की टीका—इस टीका में ५–७ दोहों के अतिरिक्त शेष दोहों का क्रम वही है जो विहारी के निजक्रम की अन्य प्रतियों में है और जो क्रम विहारीरत्नाकर में रक्खा गया है। इस में अलङ्कार तथा ध्वनि आदि का झगड़ा नहीं है। कुछ लोग कृष्ण-लाल को विहारी का पुत्र मानते हैं।

(२) मानसिंह कवि विजयगढ़ वाले की टीका—इसका रचनाकाल १७२४ से पूर्व है।

(३) चरणदास की टीका—रचनाकाल १७५० के लगभग।

(४) पठान सुलतान की कुण्डलियों वाली टीका—(१७६१ के लगभग) यह प्रायः अप्राप्य है।

(५) अनवरचन्द्रिका टीका—(१७७१ संवत्) कर्ता शुभकरण तथा कवि कमलनयन।

(६) राजा गोपालशरण की टीका—(१७७० सं०)।

(७) कृष्णकवि की कवित्तवन्ध टीका—(१७८२ सं० के लगभग)।

(८) साहित्यचन्द्रिका टीका—(१७९४ सं०) निर्माता पन्ना वाले कर्णकवि।

(९) अमरचन्द्रिका टीका—निर्माता कवि सूरति मिश्र (१७९४ सं०)

(१०) रघुनाथ वन्दीजन की टीका—(१८ वीं शताब्दी के मध्य में)।

(११) ईसवी खां की रसचन्द्रिका टीका—(सं० १८०९)। ऊपर की स

बिहारी की अन्य कवियों के साथ तुलना—

स्वारथ,सुकृत न, श्रमु वृथा, देखि विहंग विचारि।
बाज पराये पानि परि, तू पंछी नु न मार॥

इस दोहे में—

आयासः परहिंसा वैतंसिकसारमेय तव सारः।
त्वामपसार्य विभाज्यः कुरंग एषोऽधुनैवान्यैः॥

टीकाओं में यह श्रेष्ठ है।

(१२) हरिचरणदास की हरिप्रकाश टीका—(सं० १८३४)।

(१३) लालकवि बन्दीजनकृत लालचन्द्रिका टीका—(१८४० के लगभग)।

(१४) मनिरामकृत प्रतापचन्द्रिका टीका—(१८०० सं० के कुछ पश्चात्)।

(१५) अमरसिंह कायस्थ राजनगर छतरपुर की अमरचन्द्रिका टीका—(१८४५ सं० के लगभग)।

(१६) राधाकृष्ण चौबेकृत बिहारी सतसइया पर पद्य टीका—

(१७) ठाकुरकविकृत देवकीनन्दन टीका—(सं० १८६१)।

(१८) रणछोड़ जी राय दीवान की टीका—(सं० १८६० के लगभग)।

(१९) महाराज मानसिंह जोधपुर वाले की टीका—(सं० १८७० के लगभग)।

(२०) लल्लूलाल जी की लालचन्द्रिका टीका—यह प्रसिद्ध पण्डित आगरा के वासी औदीच्य ब्राह्मण थे। सन् १८०४ में कलकत्ते में कम्पनी के फोर्ट विलियम कालिज में इनकी नौकरी हुई। इन्होंने १०–१२ ग्रन्थ बनाये थे जिन में से यह टीका भी एक है। इसका हिन्दी जगत् में अत्यधिक प्रचार है। यह आज़मशाही के क्रम पर बनाई गई है।

(२१) नवाब जुल्फिकार अली की कुण्डलियां (१७२५ से १७८५ ई० के बीच)

(२२) ईश्वरीप्रसाद कायस्थ कृत कुण्डलियां—

(२३) सरदार कवि की टीका—(संवत् १९२०–३० के बीच)

आर्या का भाव दिखाई दे रहा है । आर्या में चमत्कार है परन्तु सारमेय के स्थान पर बाज को रख कर बिहारी ने नीलम पर धूप बरसा दी है।

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुंह चूम्यो ढिग जाइ।
हंस्यौ, खिसानी, गलु गह्यौ, रही गरें लपटाइ॥ बिहारी

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै—
निंद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं,
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥
अमरुशतक।

---

(२४) पद्माकर जी के पौत्र गदाधर जी की टीका—(संवत् १९२५ के लगभग)
(२५–२६) धनंजय तथा गिरिधर की टीकाएं—
(२७) रसिक बिहारी की रसकौमुदी टीका—(सं० १९५७)
(२८) कुलपति के वंशज अयोध्याप्रसाद की टीका—(स० १९३०)
(२९–३०) रामबक्स तथा गंगाधरकृत टीकाएं।
(३१) प्रभुदयाल पांडे जी की टीका—(सं० १९५३ में प्रकाशित) यह खड़ी बोली की पहली टीका है।
(३२) छोटूरामकृत वैद्यक टीका—इसमें बिहारी को वैद्य बनाया गया है।
(३३) पण्डित अंबिकादत्त व्यास की कुण्डलियां—(निर्माणकाल सं० १९४८ के लगभग)
(३४) पण्डित ज्वालाप्रसाद कृत भावार्थ प्रकाशिका टीका—(सं० १९५४)
(३५) साहेबजादे बाबा सुमेरसिंह की कुण्डलियां
(३६) मुंशी देवीप्रसाद का गुलदस्तरा बिहारी—(सं० १९८१ में प्रकाशित)
(३७) भानुप्रताप तिवारी की टीका—(सं० १९६०)
(३८) गुरुवर पद्मसिंह शर्मा का संजीवन भाष्य—(सं० १९७५)

इनके सिवाय बिहारी की सतसई पर ७–८ टीकाएं और हैं। काशी के हरिप्रसाद ने सतसई का (१७७५) में संस्कृत में अनुवाद किया था।

दोनों का भावार्थ एक है, परन्तु श्लोक के रचयिता का मनो-विज्ञान अधूरा है। विस्रब्ध, और फिर सुचिरं चुम्बन करने वाली धृष्टा का मुंह लज्जा से झुकेगा नहीं, वह तो विहारी के कथनानुसार 'खिसानी' खीस कर 'रही गरैं लपटाई' गले में स्वयं लिपट जायगी। शृङ्गार के क्षेत्र में विहारी को स्वयं कामदेव भी नहीं परास्त कर सकता, क्योंकि विहारी का वचपन प्रवीणराय पातुरी (नर्तिका) के साथ वीता था और कालापहाड़ में वह ग्रामवधूटियों को स्नान करते देखा करता था। स्त्रियों के स्नान का इससे अच्छा चित्र कहां मिलेगा ?

मुंह पखारि मुंडहरु भिजै, सीस सजल कर छ्वाइ।
मौरु उचै घूटेंनु तैं, नारि सरोवर न्हाइ ॥

यह दोहा कामिनी के स्नान का सवाक् चित्र है। आगे चलकर आप फर्माते हैं—

विहंसति सकुचति सी दिएं, कुच आंचर विच वांहि।
भीजैं पट तट कौं चली, न्हाइ सरोवर मांह ॥

इससे विहारी की तीव्र दृष्टि का कुछ कुछ आभास मिलता है। कहीं भी हो, कुछ भी हो, विहारी समस्त सृष्टि को शृङ्गार के रंग में रंगी हुई देखते थे। उन्हें पत्तों की 'मर्मर' में आलिङ्गन के हाव दीखते थे। संध्या के अम्बर में प्रकृति की कामवासना का अरुण विकास दीखता था। वह समय के क्षीण पदचिह्नों में मृत्यु का कामाभिसार देखते थे। उषःकाल की अरुणिमा उनके लिये कामोद्दीपक थी। सरिता के अविरल मूक प्रवाह को देख विहारी का मन मचल जाता था। प्रकृति के परिवर्तन शील स्वप्न विहारी के लिये सत्य थे, वह उनमें 'अनङ्ग' की लीला देखता था, वासना का उन्माद पाता था। विहारी शृङ्गार का अनन्य उपासक था। इस दृष्टि से उसका स्थान हिन्दी कवियों में सर्वोत्तम है और संसार के कवियों में आदर के योग्य है।

नेक उतै उठ बैठिये, कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जात नंहदी छनक, मंहदी सूखन देहु ॥ बिहारी

सुभगव्यजनविचालनशिथिलभुजाभूदियं वयस्यापि।
उद्वर्तनं न सख्याः समाप्यते किंचिदपगच्छ ॥ आर्या

दोनों पद्यों का भाव एक है। परन्तु यहां भी आर्या मुंह की खा रही है। तनिक सोचिये तो जो नायिका धृष्ट नायक की आंखों के सामने उबटना मलवाने के लिये अपनी लावण्यमुद्रा को खोल सकती है क्या उसे उसके सम्मुख कभी पसीना आने का अन्देशा भी रह जाता है? यह अवस्था तो पहुंची हुई अवस्था है, इस अवस्था में नवीनता नष्ट हो जाती है और पसीना पहले ही वह चुका होता है। परन्तु आर्या को तो अपनी लावण्ययष्टि पर पसीने के मोती जड़ने से काम, उसे समय असमय का क्या पता? दूसरी ओर बिहारी की नायिका के लावण्यनीलम में लज्जा का प्रभातातप मिला हुआ है, प्रियतम के सम्मुख लज्जा के मारे उसके नखों में से भी पसीना छना पड़ता है, फिर उसके जोवनभरे शरीर का तो कहना ही क्या? Shelley के अनुसार—

'............like a naked bride
Glowing at once with love and loveliness,
Blushes and trembles at its own excess.

बिहारी की नायिका का लावण्य अपने ऊपर अपने आप लज्जित हो रहा है।

फिर फिर चित उतही रहत टुटी लाज की लाव।
अंग अंग छवि भौर में भयो भौंर की नाव ॥ बिहारी

भ्रामं भ्रामं स्थितया स्नेहे तव पयसि तत्र तत्रैव।
आवर्तपतितनौकायितमनया विनयमपनीय ॥ आर्या

भाव दोनों का एक है। परन्तु स्नेह के आवर्त में और 'अंग छवि भौर' में कुछ भेद है। प्रेम के आवर्त में शान्ति है, छवि

के आवर्त में उमंगों की कल्लोल हैं, पहले में चित्त का लय है, दूसरे में उसे झटके मिलते हैं, उसे कनखियों में तैरना पड़ता है, चितवनों पर नाचना पड़ता है। सच्चे प्रणयी अथवा प्रणयिनी को इन बातों का उपदेश वृथा है, क्योंकि वहां तो आवर्त प्रेम का है, और प्रेम के आवर्त में फंस जाना पाप नहीं, प्रत्युत इष्टसिद्धि है। परन्तु बिहारी का भौंरा छवि पर मारा मारा फिरता है। वह जहां भी भीगी आंख देखता है, वहीं पहुँच अपनी प्यास बुझाना चाहता है, वह नहीं जानता कि सुवर्ण की इस सरिता में सलिल नहीं, वास्तविकता नहीं। छवि के रत्नार्णव में फंस वह कान्दिशीक हो जाता है और जो भी वीचि सम्मुख आती है उसी को आलिङ्गन कर लेता है। यहां भी बिहारी पते की बात कह रहे हैं।

छुटे छुटावैं जगत तैं, सटकारे सुकुमार।
मन बांधत बेनी बंधे, नील छबीले बार ॥ बिहारी

कमलाक्षि! विलम्ब्यतां क्षणं कमनीये कचभारबन्धने।
दृढलग्नमिदं दृशोर्युगं शनकैरद्य समुद्धराम्यहम् ॥

भाव एक है पर वर्णनशैली में सुमेरु और शिवालिक का भेद है। पहले पर प्रभात का आतप कैसी केलि करता होगा अनुमान कर लो। दूसरे के कर्कश वदन को देख उसे लज्जा आती है और वह जान्हवी में बूड अपनी हंसी को छिपाता है। ललना के खुले बाल विरहतप्त लावण्य की ऐंठी हुई आहें हैं, उनकी ऐंठ को देख संसार के भेद भावों की गांठ का खुल जाना संगत है। 'नील छबीले बार' में तो बिहारी संध्या और प्रदोष दोनों को एक कूजे में बन्द कर गया है। छविमय चपल अंगुलियां जब नीले बालों को बांधती होंगी तो कौन सहृदय अपने दिल को चोरी से उनके बीच में न छिपा देगा। परन्तु आर्या उस चोरी से अपरिचित है। उसको वेणी से कुछ डर सा लगता है। वह चोरी से वेणी में छिपने के बजाय वहां से खिसकना चाहती है।

कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढिगौ इतौ उदोत।
वंक विकारी देत ज्यौं, दाम रुपैया होत॥ विहारी

मानौ भुजङ्गिन कंज चढ़ी मुख ऊपर आय रहीं अलकैं त्यौं,
कारी महा सटकारी हैं सुन्दर भीजि रहीं मिल सौंधन ही सौं।
लटकी लटवा लटकीली तें और गई बढ़िकै छवि आनन की यों,
आंक वढै दिये दूजी विकारी के होत रुपैयन तें मुहरें ज्यौं॥
सुन्दरदास

यहां भी विहारी दो क़दम आगे चल रहा है। 'छुटिपरत मुख' से वाला की बेकरारी और सीधापन ज़ाहिर हो रहा है। कुटिल अलकें क्या गिरती हैं छुरी पड़ती हैं' 'Her whole being is crying out' वाला मामला हो रहा है। वाला का जिया उछला आ रहा है। परन्तु अलकों की वक्रकला के मुखचन्द्र पर गिरते ही दोनों की सुन्दरता शतगुण हो जाती है और दाम तथा वांक सार्थक हो जाते हैं। दूसरी ओर सवैया अभी पुराने राग अलाप रहा है। उसकी अलकें भुजंगिन वनी हुई हैं। संभवतः कला और भुजङ्गी के पारस्परिक भेद को सवैया वनाने वाले कवि भी जानते हों।

रह्यों एंचि अन्त न लह्यो, अवधि दुसासन वीर।
आली वाढ़त विरह ज्यौं पांचाली को चीर॥ विहारी

द्दग दुस्सासन लाल के, ज्यौं ज्यौं खैंचत जात।
त्यौं त्यौं द्रोपदी चीर लौं, मनपट वाढ़त जात॥ रत्नहज़ारा

दोनों में एक ही भाव का वर्णन है, दोनों चमत्कार से परिपूर्ण हैं। दोनों की विरहिणी —

'Ethereal, flushed and like a throbbing star
Seen amid the sapphire heaven's deep re-
pose' Keats.

विरह के गभीर शून्य में ढाढस बांधे लटकी हुई हैं। एक ओर

विहारी का वीर अवधि दुसासन, संमिलन की घड़ी को खींच कर पीछे हटाता जा रहा है और उसके द्वारा वाला को निराशा में डुबोता हुआ उसके प्रेमपट को उतार उसकी नग्न तथा स्तिमित मनोमुद्रा को देखना चाहता है। परन्तु विरहजन्य चाह प्रेमपट को बराबर बढ़ाती जा रही है और सती के धर्म की रक्षा करती है।

दूसरी ओर रत्नहज़ारा इस कड़ी परीक्षा को नायिका के प्रियतम के सिर मंढता है। लाल की आंखें बाला के मन को खैंचकर अपने साथ ले जाती हैं। वह ऊपर के मन चाहती हैं कि इस प्रकार बाला का मन टूट जाय और वह निराश हो घर में बैठ जाय। परन्तु मन का पट यहां भी द्रौपदी के चीर की भांति बराबर बढ़ता जाता है और वियोग होने पर भी वह दूसरे में लगना अथवा विरक्त होना नहीं स्वीकारता। दोनों वर्णनों में कौन सा श्रेष्ठ है पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं।

विहारी के अस्वाभाविक वर्णन

आड़ दै आले बसन, जाड़े हू की राति।
साहस कै कै नेह बस, सखी सबै ढिग जाति॥

दोहे के अनुसार सखियां, जाड़े की रात में, भीगे कपड़ों की आड़ में प्रीति के आवेश के कारण विरहिणी के पास जा रही हैं। यहां विहारी सरे वाजार जाड़े का, भीगे कपड़ों वाली सखियों का और विरहिणी का खून कर रहे हैं। संभव है विहारी Moderate climate की शीत ऋतु को याद कर रहे हों। वे यदि सखियों को इस भय से कि कहीं वह विरहिणी के समीप पहुँच उसकी लपटों से न झुलस जांय भीगे कपडे पहनाने के बजाय उन्हें वहां तापने के लिये भेजते तो बड़ा अनुग्रह होता। विरहिणी की शरीर लतिका को Steam pipe न वता उसे कोयलों की दहकती भट्टी वताना गुलाव पर स्याही छिड़कना है।

औंधाई सीसी सुलखि, बिरह बरति बिललात।
बिच ही सूख गुलाब गौ, छींटो छुई न गात॥

दोहे में 'छींटो छुई न गात' बहुत खटकता है। बिहारी 'बिल-पती बाला को बिरह की भट्टी में जलाने से पहले यदि दाग के इस शेर को—

समझ कर फूंकना इसको ज़रा ऐ दागे नाकामी।
बहुत से घर भी हैं आबाद इस उजड़े हुए दिल से॥

याद कर लेते तो अच्छा होता। खैर! उन्हें यह अधिकार तो है कि वे शीशी के गुलाब को विरहिणी के ज्वलन्त शरीर पर पड़ने के पश्चात् उसके सुगन्धित निःश्वासों की बाष्प के रूप में उसे वहां से उड़ा दें परन्तु विरहिणी के दाव को बुझाने की नीयत से औंधाई गई शीशी को बीच ही में छायाग्राहिणी बन हड़प जाने का अधिकार उनको किसी भी धर्मशास्त्र के अनुसार नहीं है। बिहारी का विरहवर्णन इस प्रकार की अस्वाभाविक कल्पनाओं से भरा पड़ा है। उसके मरीज अजब मरजों में मुब्तला हैं। एक मरीज़ अपनी आहों से आसमान को पोत रहा है तो दूसरा चिल्लों के जाड़ों में प्रखर लू चला रहा है। एक चन्द्रमा को कोस रहा है तो दूसरा जाड़ों में खस की टट्टियों का आयोजन कर रहा है। विरहिणी क्या हुई, बला हो गई, सनसनाता Boiler हो गया। एक ओर इतनी मञ्जुल सुकुमारता कि छवि आभूषण तक को नहीं सहार सकती दूसरी ओर इतनी अधिक कठोरता कि जहां पड़ी है, चारों ओर शोले बरसा रही है। प्रातीप्य की कुछ सीमा होती है। प्रतिभान का कुछ औचित्य होता है।

परिणाम

बिहारी शृङ्गाररस का सर्वोत्तम कवि है। स्मृति की कसक, और विस्मृति के निरालेपन के वर्णन में वह अपने जैसा आप है। यौवन के इन्द्र धनुष को जैसा उसने खींचा है वैसा संसार में किसी ने खींचा होगा। कामना और विलास के पुण्यतीर्थ प जितने स्नान उसने किये हैं उतने किसी ने नहीं। तरुणाई के उन्मु व

विकास में गौर बाला के रक्तिम लज्जाभास को जैसा उसने परखा है वैसा किसी ने नहीं। मदनाहत युवतियों की तन्द्रामग्न चितवनों को जितना उसने ताड़ा है उतना किसी ने नहीं। उसने जन्म और कर्म से क्लान्त हुए मर्त्यलोक को स्त्रीत्व का रसायन देकर चिरंजीव बनाया है। उसने कीर्तिक्लिष्ट पौरुष को तन्द्रामयी रमणियों के मसृण प्रेमपाश में फंसा अनेक वार निर्वापित किया है। उसने प्रेम की ओस से एक एक बूंद लेकर अपनी सतसई को भरा है। उसकी एक एक बूंद में शृङ्गार का मन्त्र है, अनङ्ग का राग है, और प्रेम की वारुणी है । ओस की बूंद का कोई नाम नहीं, धाम नहीं, बिहारी की प्रत्येक बूंद पर स्त्रैणता का नाम है और वासना का गीत है। इन बातों में बिहारी संसार के नेता हैं।

बिहारी के हृदय में प्रेम था। परन्तु वह प्रेम भौतिक था, ऐन्द्रिय था। उसको कविता में 'प्रेम' की रटन सुन पड़ती है और समय समय पर उसमें दैविक आकर्षण भी प्रतीत होने लगता है, परन्तु वास्तव में यह 'प्रेम' अनन्त प्रेम के उस उच्च आदर्श से, जो मनुष्य को निःस्पृह और निःस्वार्थ बनाता है कहीं दूर है। 'यह तो मनुष्य के हृदय का, जो प्रेम का एक मात्र आगार है, और जहां सच्चा प्रेम देदीप्यमान रत्न की भांति जगमगाता रहता है, प्रतिबिम्ब मात्र है, विकारमात्र है'। इसमें प्रत्येक स्थान पर कामवासना बस रही है। आश्चर्य तो इस बात का है कि विषय वासना के उज्जृम्भित समुद्र में खुले हाथ दिखाए गए हैं। विनय और सौम्यता को निर्दयता के साथ बिदा कर दिया गया है। यह बात उस समय के प्रायः सभी कवियों पर लागू है। इसका कारण संभवतः उस युगकी परिस्थिति रही हो। सब जानते हैं कि मुसलमानों के आगमन के साथ भारत में जघन्य विलासप्रियता का सूत्रपात हो गया था। कवि लोग दरबारों में रहते थे, इसलिये उन पर इस प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ना स्वभाविक था।

बिहारी और उसके पृष्ठपोषक आलङ्कारिक कवियों को क्या पता था कि—

That outward forms, the loftiest, still receive
Their finer influence from the world within;
Fair ciphers of vague import, where the eye
Traces no spot, in which the heart may read
History and prophecy' Coleridge.

रूपमात्र का आगार परमतत्त्व वासनाओं से अतीत है। उस पर अलंकारों का लेश नहीं, ललनाओं के मधुमय स्मित का प्रभाव नहीं। वह उज्वल आलोक सौन्दर्य का सार है और औचित्य का आदर्श है। मनुष्य को उसकी ओर ले जाने वाली कविता ही यथार्थ कविता है। छवि के उस धाम में ही मनुष्य के स्वप्नों का यथार्थ *शृङ्गार है। वहीं उसके अविरत क्रन्दन का अवसान है।* बिहारी को अपने जीवन की सन्ध्या में इन तत्त्वों का कुछ कुछ आभास अवश्य हुआ था, परन्तु वह आभास आरोपित था, नैराश्य घटा में चपला का क्षणिक प्रस्फुरण था। बिहारी ने प्रकृति के नीरव गीतों में, शान्ति का, पवित्रता का, नैतिक आचार के समन्वय का राग नहीं सुना था।

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग कांचो कांच सो।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियत जहां॥

में तो बिहारी सुनी बात को दुहरा रहा है। बिहारी रोना नहीं जानता, वह आत्मा के रुचिर हास्य को भ नहीं पहचानता, वह अभी लावण्य के समुद्र में तैर रहा है, उसके लिये किनारा दूर है। उसमें विचारों की न्यूनता नहीं, उसकी प्रतिभा तीव्र है, उसके भाव परिष्कृत हैं, उसकी भाषा सरस है और कसी हुई है, उसकी आंख बाज की है, परन्तु शोक! केवल पार्थिव सौन्दर्य की परख में, 'नील छबीले बालों' के गिनने में, स्नानरत युवतियों के

'कुच आंचर बिच बांह' के देखने में, विरहिणी नायिकाओं की 'चढी हिण्डौरे सी रहे, लगी उसासनि साथ' की भावना में और:—

पजर्‌यो आग वियोग की, बह्यौ विलोचन नीर।
आठों याम रहै हियौ, उठ्यौ उसास समीर॥

के वासनामय सङ्कलन के विश्लेषण में। उपर्युक्त बातों पर उसने लिखा है, खूब लिखा है और कमाल का लिखा है। परन्तु उसने न तो कभी Wordsworth के—

'Sorrow that is not sorrow;
And miserable love, that is not pain'

पर ही कुछ लिखा और नाही Coleridge तथा Plato के निम्नलिखित भावनामय सिद्धान्त पर ही कभी विचार किया—

'And what if all of animated nature
Be but organic harps diversly framed,
That tremble into thought, as over them
sweeps
Plastic and vast one intellectual breeze,
At once the soul of each and God of all!

Coleridge.

प्रत्येक की आत्मा और समवाय के परमात्मा का यथार्थबोध ही सत्य का प्रमुख लक्षण है। उपनिषदों के 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के अनुसार सत्य, कल्याण तथा सुन्दर तीनों का तादात्म्य है। बिहारी ने इस तादात्म्य को नहीं परखा था। उसने सौन्दर्य की एकान्त उपासना की थी परन्तु यह नहीं जाना था कि 'गुलाब का फूल हमारे लिये जिस कारण सुन्दर है, समग्र संसार के अन्दर उस कारण की ही मुख्यता है। संसार में जितनी अधिक 'अधि-कता' है उतना ही कठिन संयम भी है। उसकी केन्द्र को अति-करने वाली शक्ति अनन्त विचित्रताओं के द्वारा अपने को चारों

ओर सहस्रधा करती है और उसकी केन्द्रानुगामिनी शक्ति इस उद्दाम विचित्रता के उल्लास को पूर्ण *सामञ्जस्य के साथ भीतर मिला कर रखती है।' यही जो एक ओर विकास और दूसरी ओर निरोध है, इसी के अन्दर सुन्दरता है, संसार के अन्दर, इसी छोड़ देने और खींच लेने की नित्य लीलाओं में 'आदित्यवर्ण भगवान्' अपने को सर्वत्र प्रकाशित कर रहे हैं। संसार की आनन्द लीला को जब हम पूर्णरूप में देखते हैं, तब हमको ज्ञात होता है कि अच्छा बुरा, सुख दुःख, जीवन मृत्यु सब ही उठ कर और गिर कर विश्वसङ्गीत के नीरव छन्द की रचना कर रहे हैं। यदि हम समग्ररूपेण देखें तो इस छन्द का कहीं भी विच्छेद नहीं है। कहीं भी सौन्दर्य की न्यूनता नहीं है। संसार के भीतर सौन्दर्य को इस प्रकार समग्ररूप से देखना और सीखना ही सौन्दर्यबोध का अन्तिम लक्ष्य है।

बिहारी सौन्दर्य के इस व्यापक तत्त्व को पूर्णरूपेण नहीं देख सका था। उसने विलास की उद्दाम लालसा पर आधिपत्य नहीं प्राप्त कर पाया था। फलतः उसका सौन्दर्य बोध और उसके द्वारा उसका कवित्व परिमित है और एकदेशीय हैं।

जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह औरंगजेब के विरोधी थे। वे १६२५ में उत्पन्न हुए और १६८१ में उनकी मृत्यु हुई। १६३४ में जब कि वे अभी बालक ही थे, उन्हें सिंहासन पर बैठना पड़ा। वे अच्छे कवि थे। साहित्य में उनका आदर उनके रचे 'भाषाभूषण' से है। २८१ दोहों के इस छोटे से ग्रन्थ में अलंकारों का मार्मिक निरूपण किया गया है। 'भाषा भूषण' संस्कृत साहित्य की शैली पर लिखा गया है। इसकी अनेक टीकाएं हो चुकी हैं। यों तो 'रीति प्रवाह' के मुख्य प्रवर्तक केशवदास थे, परन्तु उन्हें

जसवन्तसिंह १६२५

* रवीन्द्रनाथ ठाकुर रचित 'साहित्य'

जनता नास्तिक समझती थी, इसलिये उनके ग्रन्थों का यथेष्ट आदर न हुआ। फलतः जसवन्तसिंह को अलंकारक्षेत्र में ख्याति लाभ करने का दैविक अवसर मिल गया और उन्होंने उस अवसर से लाभ भी भरसक उठाया। कुछ ही वर्षों में इनका 'भाषाभूषण' अलंकारों के विषय में प्रमाण गिना जाने लगा और ये महाकवि माने जाने लगे।

देवकवि १६७३

कविभिर्हृतलावण्यां, कविता कामिनीं रसैः।
सकटाक्षां पुनश्चक्रे, देवो रसिकनन्दनः ॥

इनका यथार्थ नाम देवदत्त था। इनका जीवनकाल १६७३ से १७४५ तक बताया जाता है। यह इटावा के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इन्होंने १६ वर्ष की अवस्था में अपनी पहली कविता राजकुमार आझमशाह के सामने पढ़ी थी। ये आश्रयदाता की खोज में भारत के अनेक स्थानों पर फिरे परन्तु इन्हें कोई आश्रयदाता न मिला। इस घटना का देव के जीवन पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

देव के ग्रन्थ

जनश्रुति के अनुसार इन्होंने ७२ ग्रंथ रचे थे, जिनमें से ३० आजकल प्राप्य हैं। इनमें 'देवमायाप्रपंच' नाम का एक नाटक भी है। इनकी रचनाओं में 'जातिविलास' 'रसविलास' और प्रेमचन्द्रिका' प्रसिद्ध हैं। 'काव्य रसायन' नामक ग्रंथ में रस, अलंकार तथा छन्द आदि का मार्मिक विवेचन है। 'भावविलास' 'भवानी विलास' और 'कुशलविलास' भी रीति प्रवाह की दृष्टि से अच्छे गिने जाते हैं। देव की अधिकांश कविता शृङ्गाररस की है। नायिकाभेद पर इनका 'सुखसागरतरंग' नाम का ग्रन्थ प्रसिद्ध है। देव ने देश की नायिकायों का खरा तथा मनोहर वर्णन किया है। आप 'भवानी विलास' में लिखते हैं—

आवन सुन्यो है मनभावन को भामिनि,
सु आंखिन अनंद आंसू ढरकि ढरकि उठै।

देव दृग दोऊ दौरि जात द्वार देहरी लौं,
केहरी सांसे खरी खरकि खरकि उठै ॥
देव की कविता कल न परति कहूँ ललन चलन कह्यौ,
बिरह दवा सो देह दहकै दहक दहक।
जेठी बड़ीन मैं बैठी वहू उत,
पीठि दिये पिय दीठि सकोचन।
आरसी की मुदरि दृढ दै, पिय को,
प्रतिबिम्ब लखै दुखमोचन ॥

भाषा और शैली की दृष्टि से देव का स्थान ऊंचा है। छन्द की रचना में, विशेषणों की छांट में, तुलनाओं की खींच में, घरेलू कहावतों की खोज में, नायिकाओं के भाव प्रदर्शन में और विरह के स्वाभाविक वर्णन में देव अद्वितीय हैं। आप लिखते हैं--

फूल से फैलि परे सब अङ्ग, दुकूलन में दुति दौरि दुरी है।
आंसुन के जलपूर में पैरति, सांसन सों सनि लाज लुरी है॥
देवजु ! देखिये दौरि दसा, व्रजपौरि बिथा की कथा बिथुरी है।
हेम की बेलि भई हिमरासि, घरीक में घाम सों जाति घुरी है॥

विरह का सुन्दर तथा सवाक् चित्र है। ताप और शैत्य के बीच में 'हेम की लतिका' फंस गई है, वह आन्तरिक प्रेमावेश से गुलाब सी फैल गई है, और अपने सन्ताप को बुझाने के लिये 'आंसुन के जलपूर' में पैर रही है। 'सांसन सों सनि लाज लुरी है' कह कर देव ने अग्नि, जल, वायु तीनों प्रचण्ड शक्तियों को बाला के विपक्ष में खड़ा कर दिया है। 'एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्' वाला मामला है। ऐसे दारुण संग्राम में पौरि की 'कथा बिथुरि जाय' तो क्या आश्चर्य है ! भाषा और भाव दोनों एक दूसरे से बढ़ कर हैं।

माखन सो तनु दूध सो जोबन है, दधि ते अधिक उर ईठि।
जा छवि आगे छपाकर छांछ, समेत सुधा वसुधा सब सीठी ॥

नैनन नीरु चुवै 'कविदेव' दुभावत बैन वियोग अङ्गीठी ।
ऐसी रसीली अहीरि अहै, कहो क्यों न लगे मन मोहन मीठी ॥

मिठास के लोकोत्तर समवाय को प्रस्तुत करके देव पूछता है कि अहीरी मीठी क्यों न लगे । पश्चिम की अन्तिम किरणों में अभिसार का संदेसा भेज देव पूछता है कि इसे स्वीकार करोगे या नहीं । देव की अहीरी के सामने Keats की नायिका--

Light feet, dark violet eyes, and parted hair,
Soft dimpled hands, white neck and creamy
breast.

फीकी पड़ जाती है । 'माखन सो तनु दूध सो जोवन' देव के इस एक पद में ही Keats का सारा मक्खन मलाई आ जाता है ।

योंही मेरो मन मेरे काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रङ्ग में ॥

दीनता का विनीत आभास है । श्याम रंग का चोखा चमत्कार है । 'श्याम' की महिमा का सवाक् चित्रण है । नीरव गभस्तली में लटके हुए निराश मन को श्याम के अप्राप्य प्रेम का प्रलोभन दिखाना कठोरता की पराकाष्ठा है ।

वड़े वडे नैनन ते आंसु भरि भरि ढरि,
गोरो गोरो मुख आजु ओरो सो विलानो जात ॥

सन्ताप की अग्नि में ओला पिघल रहा है । चन्द्रमा वहा जा रहा है । गोरे मुख का चटकीला वर्णन है ।

सांसन ही सों समीर गयो अरु आंसन ही सब नीर गयो ढरि ।
तेज गयो गुन ले अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि ॥
देव जियै मिलिबेइ की आसकै आसहु पास अकास रह्यौ भरि ।
जा दिन ते मुख फेरि रहै हंसि हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि ॥

'मिलिबे' की आशा का एकमात्र मन्दिर हृदय है । उसे हरि ने 'हेर' लिया है । अब वहां आकाश ही आकाश है । सन्तप्त शून्य

में आशा कहां ? पृथिवी, जल, अग्नि, वायु सब के सब मुग्धा के साथ अत्याचार करने पर तुले हुए हैं। फूल विखरा जा रहा है। आशा अलिनी नीरव है । नभ के पुष्प पार्थिव सौन्दर्य की असहायता पर हंस रहे हैं। अडोल अटवी में अभेद्य तमोवितान के नीचे अवला अनंग के साथ जूझ रही है। 'दर्दे जिगर' को परखने के लिये मचलने वाला श्याम दूर है । मुग्धा उसे तलवार दिखा कहती है—

And hit
The innocent mansion of my love, my
heart:
Fear not ; 't is empty of all things but
grief.*

यह हुआ नैराश्य की सुषमा का प्रदर्शन। नैराश्य की चरम अवस्था रोष में परिणत हो जाती है। रोष में आ मुग्धा चीख पड़ती है—

ऐरे मन मेरे तैं घनेरे दुख दीन्हें अब,
एकै मार देकै तोहि मूहिं मारौ वार वार ॥

कैसा रमणीय रोष है ! निशीथ के मस्तक पर उषा नाच रही है। बुझते प्रदीप का अन्तिम प्रस्फुरण है। श्याम वस में न आया तो अपने मन को कोसने लगी । अवला की अकिञ्चनता का सजीव चित्र है।

सांवरे लाल को सांवरो रूप मैं, नैननि को कजरा करि राखौं।

कैसी स्फीत भावना है। 'लाल' का सांवरे रंग का काजल लज्जाभ आंखों में कैसा रुचिर प्रतीत होगा इसे स्वयं देव समझ सकते हैं। विभिन्न रंगों के इस संमिश्रण में, 'वनावे' में, अनोखा जादू है। जोवन की आंखों में हलाहल भर दिया है, विजली फेर

---

* Cymbeline. act III.

दी है, उसके अस्फुट अधर पर वारुणी छिड़क दी है, संगीत की नीरव कूंची खींच दी है।

मञ्जुल मंजरि पंजरि सी ह्वै, मनोज संभारति चीर न।
भूख न प्यास न नींद परै, परि प्रेम अजीरन के जुर जीरन॥
देव घरी पल जात घुरं, अंसुवान के नीर उसास समीरन।
आहन जाति अहीर अहै, तुम्हें कान्ह कहा कहौं काहु कि पीरन॥

अन्तिम चरण में कितना क्लेश है? एक एक शब्द में कोमलता की कूक है, प्रेम की वीणा है, सन्ताप की सीत्कार है, और विलास लिप्सा की रक्तिमा है। स्नान करते समय 'छलिया' ने 'अहीरी' के वस्त्र उठा लिये। 'अहीरी' झिझक कर कहती है—

अम्बर हरैया हरि अम्बर उजार्‌यो होत,
हेरि के हंसे न कोई हंसे तो हंसन देहु।
देव दुति देखिबै को लोयन में लागि लखौ,
लोयन में लाज लागि लोयन लसन देहु।
हमरे वसन देहु देखत हमारे कान्ह,
अबहूं वसन देहु, व्रज में बसन देहु॥

मनोविज्ञान का आदर्श उदाहरण है। वर्षों की 'गविष्टि' के पश्चात् अहीरी पर श्याम आसक्त हुआ है। इष्टसाधन के इस लोकोत्तर समय में अहीरी पार्थिव उपचारों को भूल 'अम्बर के विशाल नेत्र' की परवाह न कर अपने सर्वात्मा को श्याम के लोचन में विलीन कर देती है। भावों के प्रातीप्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

शृङ्गारिक चमत्कार के साथ देव में ज्ञान और वैराग्य की छाया भी विद्यमान है। वह उठती अवस्था

देव पर विरति की छाप में ही 'पुरदेह की पैंठ' में सौदा खरीदने गया था, वह वृत्ति के लिये पचासों दरबारों में फिरा था, परन्तु उसे सौदा न मिला, राजवृत्ति न मिली। जोवन की 'पीठ' में उसे अनेक कष्ट मिले, उस पर 'भीड़' पड़ी

उसने जगह जगह व्यापारियों को अपने हीरे दिखाये, परन्तु सब ने उन्हें कांच समझ ठुकरा दिया। घरेलू क्लेशों ने और देशदेशान्तर की यातनाओं ने देव को चिता दिया था कि मनुष्य का कल्याण इस बात में है कि वह 'कस करि बांधो गांठरी, उठ कर चालो बाट' का अनुसरण करे। फलतः उसके प्रेम में सन्ताप की रक्तिमा है, उसके गान में अनन्त की गूंज है, उसके शृङ्गार में विरति का संकेत है। वह सौन्दर्य का पुजारी है, परन्तु उसका सौन्दर्य क्षणिक नहीं, तथ्य है, वह ओस की बिन्दु का शृङ्गार नहीं, उसमें कल्पान्त-स्थायी नक्षत्र की स्फूर्ति है। शरीर की आराधना करता हुआ भी देव 'आत्मिक सत्ता' की ओर बढ़ रहा है। 'देव छितीस की छाप बिना जमराज जगाति महादुख दैहैं' में वह संसार को उपदेश देता है कि भरपेट सौन्दर्य की आराधना करो, परन्तु तुम्हारी आराधना के विषयीभूत पार्थिव सौन्दर्य पर स्वर्गीय सौन्दर्य की छाप होनी चाहिये। यह है वेदान्तियों का प्रतीकवाद। इसके अनुसार धूलि के प्रत्येक कण को लोकोत्तर सौन्दर्य का प्रतीक मान उसमें सौन्दर्य की भावना की जा सकती है। यह भावना दृढ होनी चाहिये, यहां तक कि आराधक सत्य को सौन्दर्य और सौन्दर्य को सत्य का पर्याय समझने लग जाय। Keats इस सिद्धान्त का इस प्रकार वर्णन करता है—

'Beauty is truth and truth is beauty,
that is all
Ye know on earth,
and all ye need to know'

'आवत आयु को द्यौस अथौत, गये रवि त्यौं अंधियारिये ऐहै।
दाम खरै के खरीद खरो गुरु, मोह की गोनि न फेरि बिकैहै॥
जात उठी पुर देह की पैंठ, अरे बनिये वनिये नहिं रैहें॥

में देव जगत् की अनित्यता का उपदेश देता है और श्रान्त

जीव को पार्थिव सौन्दर्य की पूजा से हटा लोकोत्तर सौन्दर्य की ओर ले जा रहा है।

भारतीय साहित्य में सौन्दर्य तथा सत्य का, भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् का समन्वय करने वाले कवि गिने चुने हैं। भारत का सामान्य कवि या तो संसार को छोड़ देता है अथवा वह उसमें--

'धार में धाई धंसी निरधार ह्वै जाय फंसी उकसी न अंधेरी ॥ देव.

फंस जाता है। अन्तरंग तथा बहिरंग सौन्दर्य का समन्वय कबीर में पर्याप्त है, परन्तु कबीर प्रतिभा के तुङ्ग पर पहुँचा हुआ है, वह सुमेरु की चोटी से कहता है 'यह तत वर तत एक है, एक प्राण दुई गात' अर्थात् दोनों तत्त्व एक हैं, एक सूक्ष्म सौंदर्य है और दूसरा घनीभूत सौन्दर्य। दोनों को समानरूप से पूजो। परन्तु ऊंचाई के कारण उसका उपदेश अरण्यरोदन होजाता है। जायसी ने पद्मावत में कबीर के उपदेश को पास आकर, सरसरूप में दुहराया; परन्तु जायसी जाति का मुसलमान था, और हिन्दू समुद्र का खारा झाग है। यह जब तक जियेगा खारा बनकर, कट्टर बन कर जियेगा। पद्मावत की शिक्षा पर इसने कान नहीं दिया। इसने केशव और विहारी के कामविलास को खूब सराहा। इस विलास में प्रवीण-राय पातुरी की बांक थी, अदायें थीं, और रसीले हावभाव थे। इसमें चटक थी, परन्तु वह चटक—

'सेमर सुवना सेइया दुई ढेंडि की आस।
ढेंडि फूटि चटाक दे, सुवना चला निरास ॥

के अनुसार क्षणिक थी, फूटने वाली थी, उसमें अनन्तता क झलक न थी, उसमें 'चरमसत्ता' का आलोक न था। लावण्य समुद्र में जीवन का अभाव था। सौन्दर्य की दमकती अंगूठी नग की कमी थी। देव ने उस कमी को किसी सीमा तक पूरा कि और तुलसीदास के लोकोत्तर राम की ओर जनता को चलाया।

जीवन के प्राकृतिक व्याख्यान (Naturalistic interpretation of life) में देव पहुँचा हुआ है।

परिणाम

उसने प्रेम और प्रेम के साथ सम्बन्ध रखने वाले भावों के एक एक पहलू को पकड़ा और उसे भावना की कूँची से जगमग कर दिया।

ये अँखियां सखियां न हमारी ये जान मिलीं जलबिन्दु ज्यों कूप में।
कोटि उपाय न पाइये फेरि समाय गईं रंगराई के रूप में॥

इस पद्य में उसने रूप के कूप में बंद की नांई मिलती हुई आंखों का जीता जागता फोटो उतारा है। 'न हमारी ये जान मिलीं' में विवशता है। 'Love is a spirit all compact of fire' प्रेम और वैराग्य में अपना पराया नहीं रहता। आज आंखें भी दुखिया का साथ छोड़ रही हैं। देव ने ऐसे चित्र अनेक उतारे हैं, उसकी चित्रशाला इन चित्रों से भरी पड़ी है।

परन्तु क्या देव जीवन की,आचार सम्बन्धी व्याख्या में भी (Moral interpretation of life) पूरा उतरा है? उत्तर होगा, नहीं। उसने इस काम के लिये प्रयत्न किये हैं, अनेक किये हैं, और कहीं कहीं खरे भी किये हैं। परन्तु वह इस कला में कच्चा था। यह काम तो तुलसीदास के लिये रिजर्व था। तुलसी ने जीवन के सब पहलुओं को अपनी मैजिक लैण्टर्न से चमका दिया। इतना होने पर भी हम कहेंगे कि देव महाकवि था, उसने नवीन मार्ग की ओर चलने का प्रयत्न किया और वह बहुत कुछ अपने इस प्रयत्न में सफल भी हुआ।

देव का यह पद्य–

वागो वन्यौ जर पोंस को तामहिं ओस को हार तन्यो मकरी ने।
पानी में पाहन पोत चल्यो चढ़ि, कागद की छतुरी सिर दीने॥
आंख में वांधि कै पांख पतंग के, देव सुसङ्ग पतङ्ग को लीने।
मोम के मन्दिर माखन को मुनि, बैठ्यो हुतासन आसन कीने॥

उसके महाकवित्व को सिद्ध करने के लिये अकेला ही पर्याप्त है ।

अलंकार विषय पर लिखने वाले पिछले कवि–

औरंगजेब के राज्यकाल में (१६५८–१७०७) मुगलसाम्राज्य शनैः शनैः आभाहीन हो रहा था । उसके साथ ही हिन्दी साहित्य की आभा भी क्षीण होने लगी थी । कवियों का ध्यान भाव से

औरंगजेब का काल

हट भाषा पर एकाग्र हो रहा था । प्राचीन आलंकारिकों में मौलिकता थी । वे किसी सीमा तक अन्तरंग और वहिरंग के समन्वय को समझते थे । उनके अलंकार पाठक का जीवन और संसार के साथ 'रागात्मक संबन्ध' उत्पन्न कर देते थे । औरंगजेब के समय में प्रतिभा दीन हो रही थी, मौलिकता तलवार के नीचे सिसक रही थी । हिन्दुओं को पार्थिवजीवन के लाले पड़ रहे थे। ऐसी क्रूर परिस्थिति में मौलिक कविता के स्वप्न देखना औरंगजेब को ब्रह्मसूत्र पहराना है । कवियों की संख्या में अब भी न्यूनता नहीं आई । पर यह कवि श्रान्त थे, लोकोत्तर जीवन से निराश थे । ये प्रतिदिन की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये सामन्तों की स्तुति में अलंकारों के गजरे गूँथा करते थे । दूरदर्शी अकबर ने शासन व्यवस्था को, प्रजातन्त्र कवियों की मौलिकता तथा प्रतिभा को प्रोत्साहन दिया था । उसके उत्तराधिकारियों ने कवित्व तथा वास्तुकला को अपनाते हुए अप्रत्यक्षरूपेण अपनी प्रजातन्त्रप्रियता का परिचय दिया था । परन्तु औरंजेब के राज्यकाल में पासा बदल गया । उसने गिनेचुने उलेमाओं के हित के लिये हिन्दुओं के धार्मिक साम्राज्य को नष्टभ्रष्ट करना आरम्भ कर दिया । उसकी इस दुर्नीति का प्रत्यक्षतम प्रभाव कवियों पर पड़ा, जो एक ओर से ले दूसरे सिरे तक आनन्दवर्धनाचार्य के इस कथन की दुहाई देते हुए कि—

नास्त्यचौरः कविजनो, नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं, यो जानाति निगूहितुम्॥
शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किंचन नूतनम्।
उल्लिखेत् किंचन प्राच्यं, मन्यतां स महाकविः॥

कुछ अपना और कुछ पुराना मिला कर कविता (के शरीर) को गढ़ने का प्रयत्न करने लगे। औरंगजेब के समय से लेकर १८वीं सदी के अन्त तक आलंकारिक कविता करने वाले मुख्य कवि निम्न लिखित हैं—

आगरे के चौबे ब्राह्मण थे और बिहारीलाल चौबे के भतीजे थे।

कुलपति मिश्र १६२० के लगभग जन्म	वह जयपुर के महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे। उनकी मुख्य कृति 'रस-समुच्चय' है। इसमें अलंकारों का वर्णन है।
रामजी १६४६	राम जी ने एक 'नायिका भेद' लिखा था। इन्हों ने अन्य विषयों पर भी कविता की थी।
मुण्डन १६४२ में उत्पन्न	बुन्देलखण्ड के निवासी थे। इन्हों ने अनेक विषयों पर कविता की थी।

कंपिल के रहने वाले थे और अनेक दरबारों में घूमे थे। राजा

सुखदेव मिश्र १६८० के लगभग	गौर ने इन्हें कविराज की पदवी से सुभूषित किया था। अलंकार तथा छन्दःशास्त्र आदि विषयों पर इनकी कविता अच्छी है।

नवाज जन्म के ब्राह्मण थे और पन्ना के छत्रसाल के दरबार

नवाज १७००	में रहते थे। उन्होंने हिन्दी में 'शकुन्तला-नाटक' लिखा था और अन्य विषयों पर भी अच्छी कविता की थी।

दोआववर्ती वनपुरा नामक स्थान के थे। ये कई साल तक औरंगजेब के दरबार में रहे और फिर जंबू के राजकवि रहे। इनकी गिनती श्रेष्ठ कवियों में है। इनके 'कालिदास हजारा' नामक संग्रह-काव्य में १४२३ से लेकर १७१८ तक के २०० से ऊपर के कवियों की सूक्तियों का संग्रह है।

कालिदास त्रिवेदी १७०० के लगभग

जन्म के ब्राह्मण थे, पीछे से एक मुसलमान रंगरेज की लड़की से प्रेम करने के कारण मुसलमान वन गये। शेख रंगरेजिन भी कविता करती थी। आलम, औरंगजेव के लड़के मुअज्जम-शाह के यहां नौकर थे। इनकी कविता सुन्दर होती थी।

आलम, १७०३

अलंकारों के आचार्य समझे जाते थे। उनका 'काव्यसरोज' प्रसिद्ध है। उन्होंने और भी अनेक ग्रन्थ लिखे थे। इनकी कविता सुन्दर है और भावपूर्ण है।

श्रीपति, १७२० के लगभग

चन्दकला की कला कलधौत की कै चपला थिर ह्वै छवि छाजै।
कै ससि सूरज की किरनैं यक ठौर ह्वै रूप अनूपम साजैं॥
श्रीपति जोति को जाल किधौं अवलोकत ही दुख धीरज भाजै।
पावकजाल कै दीपकमाल कै लाल की माल कै बाल विराजै॥

उत्प्रेक्षा का सुन्दर चमत्कार है। भाषा की लोच और भावों की लटक देखने योग्य है।

आगरा के रहने वाले थे। आपने विहारी की 'सतसई' पर और केशव की 'रसिक प्रिया' पर टीकाएं लिखी थीं। आपने अलंकार तथा नख शिख पर भी अच्छे ग्रन्थ लिखे थे।

सूरफी मिश्र १७२६

वनारस के ब्राह्मण थे और करमुदीन खां (वादशाह मुहम्मद-

शाह के वजीर) के कृपाभाजन थे। मुअज़्ज़मशाह के कहने पर आपने अलंकार विषय पर एक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें वजीर की स्तुति में अनेक पद्य संकलित थे। इस पुस्तक को आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

गंजन १७२६

एक स्थान पर आप कहते हैं--

'नेक जो हंसो तो होत लाल माल होख की,
नेक दृग हेरे मोंहि नीलमनि झलकी।
जो हों मुख धोइबे को अंजुली भरौं लैं झोरी,
सखिन निहारी राती दुति होती जल की॥
जो हों रचौ बीरन चिलक दुरै जोवन की,
मेरे देखिबे को आंखें गंजन की ललकीं।
आंगन कढौं तो भौंर भीरन अंधेरो होत,
पाऊं जो धरौं तो मही होत मखमल की॥

अमेठी के राजा थे। उन्होंने अपना नाम भूपति रख कर कविता की थी। आपने बिहारीलाल के आधार पर एक 'सतसई' भी लिखी थी।

गुरुदत्तसिंह १७२४

प्रयाग के सिंगरौर नामक स्थान में रहते थे। इन्हों ने अलंकारों तथा नखशिख पर अनेक ग्रन्थ लिखे थे। इनकी कविता चाव के साथ पढ़ी जाती है। इन्होंने बिहारी से अनेक भाव लिये हैं। यथा—

तोपनिधि, १७२४

रावटी तिमहले की बैठी छबिवारी बाल,
देखति तमासो गुड़ि आलिनि लड़ायो है।
परि गयो नजर हरिननैनी जू के हरि,
हरिहू के (ने) तिरछि कढ़ाछहि चलायो है।
नैन सखरी तरफरी गिरि परि ऐसी,
बीच हरि धरि खरि लूटि रस पायो है॥

साखु नन्द धाइ आई पाइ गहै कहै तोप,
आज ब्रजराज घर ऊजरौ बसायो है ॥ तोप

तोष हरिननैनी को तिमहले पर बिठाकर उसे वहां से गिराता है। हरि न होते तो गिर कर अनिष्ट हो जाता। परन्तु कैसा ही तिरछा कटाक्ष क्यों न हो वह मृगनैनी को तिमहले पर से नहीं गिरा सकता। इसी भाव को बिहारी के दोहे में देखिये। बिहारी फर्माते हैं—

हेरि हिंडोरे गगन तें, परी परी सी टूटि।
धरी धाय पिय बीच ही करी खरी रस लूटि ॥ बिहारी.

प्रियतम के देखने पर मुग्धा परी का हिण्डौले से गिर पड़ना स्वाभाविक है। कौन सी परी प्रियतम के कटाक्षों को पीती हुई हिंडोले में झूल सकती है? बिहारी की कल्पना स्वाभाविक है।

प्रीतम को हितपौन गही, लिये जाति तेहि संग।
गहि डोरी कुललाज की, भई चंग के रंग ॥ तोष

प्रीतम का हितपवन बाला को उड़ाये लिये जा रहा है, परन्तु कुललज्जा की डोरी ने उसे पकड़ रक्खा है। फलतः बाला की दशा चंग (पतंग) के समान हो रही है। इसी भाव को बिहारी के दोहे में पढ़िये—

नई लगनि कुल की सकुच, बिकल भई अकुलाय।
दुहूं ओर ऐंची फिरै, फिरकी लौं दिन जाय ॥ बिहारी

नई नई लगन हैं पर साथ ही (कुलजन्य) संकोच है, दोनों तरफ की खींच में मुग्धा फिरकी सी घूम रही है। मन का सन्तत भ्रमण फिरकी में केन्द्रित हो गया है। लगन और संकोच की खींच में फिरकी बुरी तरह कसी जा रही है। भावसंघर्ष का सजीव चित्रण है।

दोनों अहमदाबाद के निवासी थे। इन्हों ने मिल कर 'अलंकार रत्नाकर' नाम का ग्रन्थ लिखा था। इनका काल १७३५ के लगभग बताया जाता है। इन्होंने अपना ग्रन्थ उदयपुर के

दलपतिराय १७३५
वंसीधर १७३५

राजा जगतसिंह को भेंट किया था। यह राजा जसवन्तसिंह के 'भापाभूपण' नामक ग्रन्थ पर एक प्रकार की टीका है।

सोमनाथ, १७२७

सोमनाथ जाति के ब्राह्मण थे, भरतपुर नरेश के पुत्रों में से एक की छत्रछाया में रहते थे। इनका 'पीयूप-निधि' नामक ग्रन्थ साहित्य में प्रमाण माना जाता है।

रसलीन, १७४०

इनका असली नाम सैयद गुलाम नबी था। इन्होंने अलंकार शास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे थे। इनका 'अंगदर्पण' नाम का ग्रन्थ नखशिख के विषय में प्रसिद्ध है। अंगदर्पण की उत्प्रेक्षा सुन्दर हैं।

तलुओं की कोमलता के विपय में आप लिखते हैं—

तुव पगतल मृदुला चितै, कवि बरनत सकुचाहिं।
मन में आवत जीभ लौं, मत छाले परि जांहि॥

तलुओं की कोमलता इतनी बढ़ गई है कि वे उपमा के लिये भी जबान पर नहीं लाये जा सकते। क्यों? इसलिये कि कहीं उनमें फफोले न पड़ जांय। नवीनयुग के सहृदयों की दृष्टि में यह भले ही बेतुकी अत्युक्ति हो परन्तु प्राचीन युग में ऐसी कविता पर सहृदय लट्टू हो जाते थे।

'नाजुकी कहती है सुर्मा भी कहीं बार न हो'। अकबर
यों नजाकत से गरां सुर्मा है चश्मे यार को।
जिस तरह हो रात भारी, मर्दुमे बीमार को॥नासिख
संभाले बारे जेवर क्या तेरा नाजुक बदन प्यारी।
कजी रफ्तार की कहती है, बारे हुस्न है भारी॥
बिहारी का अनुवाद 'देवीप्रसाद'

सब की नजाकत गुलाम नबी की नजाकत के सामने भारी मालूम पड़ने लगती है। वह तलुए किस नमकीन मक्खन के

बने हुए होंगे जो जीभ पर रखते ही घुलघुला जाते हैं? उन पर गहने तो क्या हुस्न का भार भी जियादती ठहरता होगा।

नबी की कटि में भी कमाल की सूक्ष्मता है। वह लिखता है–

सूछम कटि वा बाल की, कहौं कवन परकार।
नबी की कविता जाकै ओर चितौंत ही, परत दृगन में बार॥

यकी है दीदए बारीकबीं को।
करे ऐनक तलब यह नातवानी॥

आतिश

इन्तहाए लागरी से जब नजर आया न मैं।
हंसके वो कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिये॥

नासिख

उठे दस्ते दुआ क्या जोफ ने ऐसा घुलाया है।
जिसे हम हाथ समझे थे, वो खाली आस्तीं निकली॥

दाग

पहला दोहा गुलाम नबी का है, शेष अन्य कवियों के हैं। पिछले कवियों की आस्तीं, बिस्तरा तथा इन्तहाए लागरी से 'बाल की सूछम कटि' कहीं अधिक मनोरम है। 'जाके ओर चितौंत ही' से प्रकट है कि वह दीखती है, शेष कवियों की नातवानी की भांति अदृश्य नहीं है 'परत दृगन मैं बार' सूक्ष्म कटि पर दृगों के पड़ते ही क्या हो जाता है इस बात में नबी की आंखें ही सब से अधिक विश्वसनीय प्रमाण हैं।

आंखों के विषय में नबी लिखता है—

अमी हलाहल मदभरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जिहि चितवत इकबार॥

वर्णन स्वाभाविक होता हुआ भी जादू में साक्षात् कनखियों का अवतार है।

द्रोआववर्ती वनपुरा के निवासी थे और कालिदास त्रिवेदी के पुत्र थे। यह अमेठी के राजा के राज-

उदयनाथ त्रिवेदी १७४० कवि थे। इन्होंने अलंकार विषय में अच्छी कविता की थी। दूलहत्रिवेदी इनके पुत्र थे और चोखे कवि थे।

वैरीसाल, १७६८ अलंकार विषय पर आपकी रचना खरी है। इनका 'भाषाभरण' नामक ग्रन्थ इस विषय में प्रमाण समझा जाता है।

अलि ये उडुगन अगिनिकन, अंकधूम अवधारि।
मानहु आवत दहन ससि, लै निज संग दवारि॥

रात के (श्याम वातावरण) धूम्र में चन्द्रमा के अग्निपिण्ड से तारों की चिनगारियां झड़ रही हैं और उनमें विरहिजन झुलसे जा रहे हैं। वरिसाल का यह विरहाग्निवर्णन भारतीयसाहित्य में सूरज सा चमक रहा है। इसके सामने विहारी के ये दोहे--

हौं ही बौरी विरहवस, कै बौरो सब गाम।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाम॥
जिहि निदाघ दुपहर रहै, भई माह की राति।
तिहि उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति॥

फीके और वेतुके मालूम पड़ते हैं। वरिसाल की बाला के विरोध में अशेष प्रकृति संनद्ध खड़ी है। उसके सन्तप्त हृदय में धुआं भरा हुआ है। फलतः उसे चन्द्रमा की छाती में भी धूम्र मण्डल दीखता है। तारे भी शोले प्रतीत होते हैं और चन्द्रिका-रजत चन्द्रमा की प्रलयाग्नि में पिघल कर वहता हुआ दीख पड़ता है। प्रकृति के इस विश्वव्यापी अग्निकाण्ड में वाला का अस्फुट यौवन खौल रहा है, उसकी छविवल्लरी झुलसी जा रही है। क्या ही लोकोत्तर कल्पना है।

किशोर १७६८	ख्यातनामा कवि थे, इनकी कविताएं 'किशोरसंग्रह' में संगृहीत हैं।
दत्त अथवा देवदत्त १७७२ के लगभग	इनकी 'लालित्यलता' प्रसिद्ध है। इसमें और मतिरामरचित 'ललितललाम' में समानता है।
चन्दनराय, १७७२ के लगभग	आप गौर के राजा के दरबार में रहते थे। आपकी अलंकार विषयक कविता आदर की दृष्टि से देखी जाती है। आपके दस शिष्य थे जो सब सब आगे चल कर अच्छे कवि बने।
रतनकवि १७४१ में उत्पन्न	अलंकारों के अच्छे कवि थे, इनके रचे 'फतेहशाह प्रकाश' और 'फतेहभूषण' नाम के ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उदाहरणों में बुंदेला के फतेहशाह की स्तुति है।
मतिराम मिश्र १७७२ के लगभग	आपने अपनी 'छन्दछप्पनई' के ५६ पद्यों में अलंकारशास्त्र का सार निछोड़ दिया है। यह पद्य, सूक्ष्मता में संस्कृत-सूत्रों के समान हैं, और आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।
बोधा फीरोजाबादी १७७२-१८०३	बोधा का पन्ना के साथ सम्बन्ध था। इन्हों ने 'इश्कनामा' लिखा था और अनेक फुटकर कविताएं बनाई थीं। बोधा भावुक कवि था। उस की कविताओं का अधिक भाग सुभान वेश्या की ओर इशारा कर के लिखा गया है।
जन गोपाल १७७६ के लगभग	आपने 'समरसार' नामक ग्रन्थ रचा था। विषय नाम से प्रकट है।

देवकी नन्दन १७८४ आपने 'शृङ्गारचरित्र' नाम का ग्रन्थ लिखा था। इसमें नायक और नायिकाओं भेद का वर्णन है। इन्होंने और भी अनेक कविताएं रची थीं।

थानराम अथवा थान १७६१ थान जाति के भाट थे। इन्हों ने दलेल-प्रकाश नाम का ग्रन्थ अलंकार विषय पर लिखा था।

बेनी १७६२ बेनी ने अलंकार आदि विषयों पर कविता की थी। आप हास्यरस के आचार्य थे। मच्छरों से तंग आकर आप फरमाते हैं—

दोहर पिछौरी चपकन की चलावै कौन,
रोके ना रहत राति सौगुने बसन के।
चहूं ओर चाव भरे चिपके देवालन में,
चोंक चोंक चोंके परे दीरघदसन के।
जातक बिचारी लोग सातक न आवै जहां,
पातक प्रसिद्ध सुख घातक रसन के।
नीची में फरे हैं आसमान ते झरे हैं।
कीधौं खाते उघरे हैं ये अहाते में मसन के॥
चटक चलाये हाथ आपने लगत चोट,
दूनो दुख देत हैं बसन झकझोरे तैं।
मूंदे तन व्याकुल उघारे फारि फारि खात,
मूंदे ना उघारे नींद आवत निहोरे तैं॥

भौन १७६४ भौन जाति के भाट थे, कविता की सब कलाओं में निष्णात थे। अलंकार विषय पर आप का अधिकार था।

भिखारीदास १७३४ भिखारीदास जाति के कायस्थ थे। प्रतापगढ़ (बुंदेलखण्ड) के रहने वाले थे। यह दास के नाम से प्रसिद्ध हैं। राजा पृथिवीपति के भाई

हिन्दूपति इनके आश्रयदाता थे। इन्हों ने श्रीपति से बहुत कुछ लिया है। फिरभी इनकी गणना अच्छे कवियों में है। आलंकारिक कविता के अतिरिक्त इन्हों ने विष्णुपुराण का हिन्दीकविता में अनुवाद किया था।

आप अकबर अली खां के दरबार में रहते थे। इन्हों ने श्रीहर्ष के 'नैषध' का अनुवाद किया था और अलंकारों के विषय में भी अच्छी कविताएं रची थीं।

गुमान मिश्र १७४४

आप बनारस के रहने वाले थे। गोकुलनाथ के (जिसने महाभारत का हिन्दी में अनुवाद किया था) पिता थे।

रघुनाथ १७४५ — रघुनाथ आलंकारिक कवि थे, उनकी कविता को लोग आदर से सुनते थे। इन्हों ने बिहारी की सतसई पर टीका भी लिखी है।

कुमार मणिभट्ट १७४६ — कुमार अत्यन्त प्रवीण कवि थे, इन्हों ने अलंकारों पर 'रसिकरसाल' नामका विषद ग्रन्थ लिखा था।

शंभुनाथ मिश्र १७४६ — असोथर के राजा भगवन्तराय खीची के दरबार में रहते थे। इन्हों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इन के शिवअरसेला आदि अनेक शिष्य थे।

शिव अरसेला १७५० — छन्दःशास्त्र तथा अन्य विषयों पर आप की रचना प्रसिद्ध है।

जगत्सिंह १७७० — गोण्डा के राजा तथा भिङ्गा के साथ आप का सम्बन्ध था। यह शिवअरसेला के शिष्य थे। इन्होंने अलंकारों पर लिखा था। इनका सवैया छन्द सुन्दर है। इनकी

ठाकुर १७५० कविता शृङ्गार रस में सनी होती है । इन की 'ठाकुरशतक' प्रसिद्ध है । इन्हों ने विहारी की 'सतसई' पर टीका भी लिखी थी ।

हरिचरनदास १७७८ कृष्णगढ़ (मारवाड़) के ब्राह्मण थे । इन्हों ने केशव की 'कविप्रिया' तथा 'रसिक-प्रिया' पर टीकाएं लिखी थीं । विहारी की 'सतसई' पर भी इनकी एक टीका है । इन्हों ने फुटकर कविताएं भी लिखी थीं ।
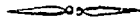
अध्याय १०

तुलसीदास तथा रामावत संप्रदाय।

(१५५०–१८००)

तुलसीदास—

भक्तिसोपानमार्गेण स्वर्गतं पुरुषोत्तमम्।
संगत्य तुलसी रामं स इवामरतां ययौ ॥

हिन्दीसाहित्य में सब से ऊंचा स्थान गोसांई तुलसीदास जी का है। इनकी रामायण भारत ही में नहीं प्रत्युत सारे संसार में आदर की दृष्टि से देखी जाती है। इनका प्रामाणिक जीवनचरित्र उपलब्ध नहीं है, इस लिये इनके विषय में अनेक किंवदन्तियां फैल रही हैं। कहा जाता है कि यह १५३२ के लगभग बांदा जिले के राजापुर गांव में एक गरीब ब्राह्मणवंश में उत्पन्न हुए थे। जन-श्रुति के अनुसार इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था। दीनबन्धु पाठक की लड़की रत्नावली से इनका विवाह हुआ था।

तुलसी का जीवन

तुलसीदास मूलनक्षत्र में पैदा हुए थे, इस लिये पैदा होते ही इन के माता पिता ने इन्हें त्याग दिया था। आप कवितावली में लिखते हैं—

मातु पिता जग जाइ तज्यो।
विधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई ॥

जान पड़ता है कि गुरुकुल ही में इनका लालन पालन हुआ। इस विषय में आप ने रामायण में लिखा है—

मैं पुनि निजगुरुसन सुनी, कथा सों सूकरखेत।
समुझि नहीं तसि बालपन, तब अति रहेउं अचेत ॥

अर्थात् रामायण की कथा को मैंने गुरुमुख से सूकरखेत में सुना था परन्तु तब मैं बच्चा था इस लियें वह मेरी समझ में नहीं आई।

रामायण की कथा के अतिरिक्त इन्हों ने गुरुमुख से वेद वेदान्तों का भी अध्ययन किया था। सूरदास की भांति ये भी गुरु के परम भक्त थे। बालकाण्ड के प्रारम्भ में गुरुवन्दना के लिये लिखे गये दोहों में आपकी अगाध गुरुभक्ति प्रतिफलित है।

तुलसी के जीवन की विशेष घटना

इन के जीवन को पलटा देने वाली घटना इन के प्रति इनकी स्त्री का उपालंभ है। अपनी रूपवती स्त्री में यह मस्त थे।

मन प्राणप्रिया पर वारि दये,
जस कौशिक मेनका देखि भये।
दिन राति सदा रंगराते रहें।
सुख पाते रहैं ललचाते रहैं॥
शरवर्ष परस्पर चाव गए।
पल ज्यों रस केलि में बीत गए॥
नाहिं जानिं दें आपु न जांय कहीं।
पल एक प्रिया बिन चैन नहीं॥
गुसांई चरित

एक दिन इनकी अनुपस्थिति में इनकी स्त्री अपने भाई के साथ नैहर को चली गई। तुलसीदास जी को जब यह ज्ञात हुआ तब वह भी नदी पार कर रात ही में सुसराल जा पहुंचे और वहां ससुर जी का दरवाजा जा खटखटाया। उस समय उनकी स्त्री खीझ कर बोली-

हाड़ मांस की देह मम, तापर जितनी प्रीति।
तिसु आधी जो राम प्रति, अवसि मिटहिं भवभीति॥

तीर्थराज प्रयाग में उन्हों ने गृहस्थाश्रम विसर्जन किया और

तुलसी का तीर्थाटन

विरक्तवेष में आप रघुबीरपुरी पहुँचे। वहां 'चौमासक सों वसिकै' जगन्नाथपुरी को प्रस्थित हुए। वहां कुछ दिन ठहरे और अपने हाथ से वाल्मीकि रामायण की प्रतिलिपि लिखी। वहां से तीर्थाटन को आगे बढ़े और लगभग १५ बरस में, रामेश्वर, द्वारावती, बदरिकाश्रम, मानसरोवर, रूपाचल, तथा नीलाचल आदि का परिचय प्राप्त कर भववन में चातुर्मास किया। वहां से आप चित्रकूट की ओर गये और वहां अनेक साधुसन्तों के दर्शन किये। बा० वेणीमाधवदास के अनुसार यह घटना संवत् १६०७ की है। तब आप संभवतः ५० वर्ष की आयु को पार कर चुके थे।

कहा जाता है जब तुलसीदास जी ६८ बरस के थे (१६१६ सं) तब सूरदास जी उनसे मिलने के लिये आये और उन्होंने इन्हें अपना 'सूरसागर' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ दिखाया। संवत् १६२८ के लगभग तुलसी ने 'रामगीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली' नाम के दो ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों में 'सूरसागर' का प्रभाव स्पष्ट है पुस्तकों की भाषा मधुर है। संभवतः अभी तक तुलसी का मन परि पक्व नहीं हुआ था, वे कृष्ण तथा राम दोनों में भक्ति रखते थे।

आपने १६३१ में अपना प्रसिद्ध 'रामचरितमानस' आरं किया और १६३३ में उसे समाप्त किया।

'दुइ वत्सर सात के मास परे। दिन छब्बिस मांझ सो पूरे करे
तैतींस को संवत् औ मगसर। सुभ द्यौस सुराम विवाहति पर
सुठि सप्त जहाज तयार भयो। भवसागर पार उतारन को'

वेणीमाधव के कथनानुसार उस समय आपकी अवस्था ७ वर्ष से ऊपर थी।

मृत्यु

संवत १६८० श्रावणमास के शुक्लपच्छ की सप्तमी को ब रस में गंगा के असीघाट पर तुलसी स्वर्गारोहण किया। यह बात निम्नलिखि

	६ सूरदास मिलन	१६१६	६२ ,,
२ साहित्यिक	७ रामगीतावली	१६२८	७४ ,,
	८ कृष्णगीतावली	,,	,, ,,
	९ रामचरित मानस (आरम्भ-समाप्ति)	१६३१ १६३३	७९ ,,
	१० वाल्मीकि रामायण की प्रतिलिपि	१६४१	८७ बरस
	११ सतसैया	१६४२	८८ ,,
	१२ रामललानहछू	१६४३	८९ ,,
	१३ जानकीमंगल	,,	,, ,,
	१४ पार्वतीमंगल	,,	,, ,,
	१५ हनुमान बाहुक	१६६९-१६७१	११५-११७ बरस
	१६ वैराग्य संदीपनी	१६७२	११८ बरस
	१७ रामाज्ञा	,,	,, ,,
	१८ बरवै रामायण १९ कवितावली २० विनयपत्रिका	मूलचरित्र में नहीं दिया	अज्ञात
३ व्यावहारिक-			
	२१ टोडरमलकी मृत्यु पर उसके पुत्रों में उसकी संपत्ति का विभाजन	१६६९	११५ बरस

वेणीमाधवरचित तुलसीजीवनी में क्या संभव है ?—

(अ) वेणीमाधव के कथनानुसार गोसाईं जी की अवस्था सवा सौ वर्ष के लगभग ठहरती है। यह असामान्य बात है और इसकी सत्यता के विषय में संदेह है।

(आ) जन्मते ही तुलसीदास ने रामनाम का उच्चारण किया और वह रोये नहीं। गर्भ में ही उनके दांत निकल आये थे। इस बात की सत्यता के विषय में संदेह है क्योंकि जो बालक जन्म ही के समय रामनाम उच्चारण कर सकता है, वह सत्संगति में रहता हुआ (जैसे कि तुलसीदास जी को बताया जाता है कि वे रहे थे) स्त्री के मोह में इतना नहीं फंस सकता जैसा कि तुलसीदास के विषय में कहा जाता है। जन्म के समय रामनाम उच्चारण करना और युवावस्था में स्त्रीरति में फंस जाना दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। तुलसी-परित्याग का कारण गर्भ में दांतों का निकलना नहीं, प्रत्युत कुछ और ही रहा होगा जिसका निर्धारण करना कठिन है।

(इ) बालक का इस प्रकार घर से निकाले जाने पर हरिपुर जाकर मुनिया दासी के यहां पलना संभव है, परन्तु वहां मुनिया की मृत्यु के उपरान्त उसे पार्वती के द्वारा भोजन पहुँचाना, और महादेव जी का नरहर्यानन्द को वहां भेजना काल्पनिक है।

(ई) तुलसी का नरहर्यानन्द के साथ काशी पहुँचना और शेषसनातन का स्वामी जी से तुलसी को मांग लेना संभव है।

(उ) तुलसी का (१५ वर्ष तक नहीं तो) बहुत दिनों तक शेष के साथ रहना संभव है और कुछ दिन पश्चात् राजापुर पहुँच अपने टूटे घर को सुधरवा वहां रहना और विवाह करना मान्य है। परन्तु तिथियों तथा काल के विषय में बाबा जी का कथन सन्देहास्पद है।

(ऊ) बचपन में रामनाम उच्चारण कराकर, और तब से लेकर ७९ वर्ष की अवस्था तक तुलसी को बराबर साधुसंतों की सेवा में रख कर भी बाबा जी ने उनसे कोई साहित्यिक काम नहीं कराया। फलतः उनकी कालगणना सन्देहास्पद है। ४० वर्ष की अवस्था तक हर मनुष्य अपने आपको छोटा बताने का प्रयत्न करता है परन्तु ४० के उपरान्त साधारण लोग अपनी अवस्था को

आगे बढ़ाना पसन्द करते हैं । संभव है बाबा जी ने यही प्रक्रिया तुलसीदास का महत्त्व सिद्ध करने के लिये उनके विषय में बरती हो।

(ए) ग्रन्थनिर्माणक्रम संभवतः आपका युक्त हो । परन्तु सामान्य दृष्टि से देखने पर यह सब ग्रन्थ रामायण से पहले बने हुए प्रतीत होते हैं । इनमें कविता का अंश न्यून है, और सूर, केशव, तथा रहीम की छाया स्पष्ट है । केवल भाषा के आधार पर इन्हें रामायण से पीछे रचे बताना अयुक्त है । यह तो तुलसी के प्रयत्न मात्र हैं, उसकी यथार्थ कविता रामायण में है ।

तुलसीदास का कवित्व—

'Poetry should be simple, sensuous and passionate.' Milton.

कविता का ध्येय

विश्वजनीन कविताएं सरल हैं क्योंकि जीवन के श्रेष्ठतत्त्व सरल हैं । वह ऐन्द्रिय हैं क्योंकि अपील करने का और उसे सुनने का साधन इन्द्रियां हैं । वह भावमयी हैं क्योंकि उनका यथार्थ विषय नैसर्गिक भावों की विवेचना और उनका वर्णन करना है । जीवन के दो पहलू हैं एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म । मनुष्य का शरीर स्थूल है, उसका आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है । दोनों के संयोग का नाम ही 'लौकिक' जीवन है । जीवन की यथार्थ समालोचना ही साहित्य का चरम ध्येय है ।

१ सरलता

विश्वजनीन कविता में उपर्युक्त तीनों बातें होनी चाहियें । यदि कविता सरल न हुई तो उसकी परिधि संकुचित हो जायगी और उसमें प्रतिफलित हुए जीवनतत्त्वमौक्तिक कुछ ही भाग्यशालियों के हाथ आयंगे । यदि कविता ऐन्द्रिय न हुई, अर्थात् यदि उसमें मनुष्य की वासनाओं का चित्रण न हुआ, यदि उसमें मनुष्य के हृदयमन्दिर में प्रतिष्ठित हुए सुरम्य भावों का रसपान न कराया

गया, तो उसका प्रभाव परिमित हो जायगा और वह समाज में सदा के लिये घर न कर सकेगी। इसी प्रकार यदि काव्य में भावों का, अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, राग, मद, मत्सर, आदि के स्वाभाविक संघर्ष का चित्र न खींचा गया तो वह फीका रह जायगा और संसार में चिरकाल तक न ठहर सकेगा। तुलसीदास की कविता को इन कसौटियों पर कसिये ज्ञात होगा कि उसमें सरलता विद्य-मान है। तुलसी जीवन के सरल तत्त्वों को सरल भाषा में कहता है और खूब कहता है। उसका राम सरलता का धाम है और शुचिता का आगार। उसका भरत सरलता का उच्छ्वास है और शील का निधान। उसका लक्ष्मण यौवन की स्फूर्ति है और जीवन की रक्तिमा। उसकी सीता प्रेम की कली है और आर्जव का पराग। उसके किरात प्रकृति के कर्दम हैं और सेवा के प्राण। ऐसे सरल और मनोज्ञ पात्रों में आर्जव का संचार स्वाभाविक है।

ग्राम वधूटियों का कुञ्चित आर्जव

रामचन्द्र लक्ष्मण और सीता वनवास के लिये जा रहे हैं। पश्चिम की अन्तिम किरणें अम्बर से विदा हो रही हैं। आगे राम हैं पीछे लक्ष्मण और बीच में सीता। गांव के किसान आते हैं और अपने नयनों तथा आत्माओं को तृप्त कर पछताते चले जाते हैं। पथिकों की ऐश्वर्ययात्रा का पोत आज ही टूटा है। वे प्रशान्त भाव से जीवनगगन के ध्रुव की ओर चले जा रहे हैं। ग्राम वधूटियां अवसर पा इन यात्रियों के पास पहुँचती हैं, और उन्हें विस्मृति के निरालेपन से उतार मर्त्य भूमि पर चलाती हैं। उनकी और सीता की पारस्परिक बातचीत का वर्णन इस प्रकार है—

सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूछत अति सनेह सकुचाहीं॥
राजकुमारि विनय हम करहीं। तियसुभाव कुछ पूछत डरहीं॥
'स्वामिनि अविनय छमवि हमारी। बिलगु न मानव जानि गंवारी॥
राजकुमर दोउ सहज सलोने। इनते लहिं दुति मरकत सोने॥

कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन मुँहु मुसकानी ॥
'सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लषन लघु देवर मोरे ॥
बहुरि वदन विधु आंचल ढांकी। पियतन चितई भौंह करि बांकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि, निजपति कहेउ तिन्हहिं सीय नैननि ॥

सुन्दर ध्वनि, सुषमित गन्ध, रुचिर सौन्दर्य, मधुमयी प्रसन्नता सब का एक साथ कैसा शतधार फुआरा छूट रहा है। लोकोत्तर सुधा-सार में सरलता, मंजुलता, लज्जा, विनय, आर्जव तथा दाक्षिण्य की वीचियां हिलोरें मार रही हैं। गगन के टिमटिमाते फूलों को पीस कर छान लिया जाय तो तुलसी के पात्रों की सरलता का आभास मिल सकता है। ग्रामवधूटियों के ऋजु परन्तु कटाक्ष पूर्ण प्रश्न के उत्तर में सीता, राम और लषन का किस प्रकार परिचय देती है इस बात को रसिक ही समझ सकते हैं।

'पियतन चितई भौंह करि बांकी' तथा 'खंजनमंजु तिरीछे नैननि' की ऐन्द्रिय सुन्दरता के सामने Dante Gabriel Rossetti की निम्नलिखित प्रशान्त सुन्दरता—

'Her eyes were deeper than the depth of
waters stilled at even'

भारी प्रतीत होने लगती है। तुलसी के प्रत्येक शब्द से रस उछला पड़ता है, सुषमा टपकी पड़ती है, और सौन्दर्य छना पड़ता है। उसने 'बांक तिरीछे' 'खंजन मंजु' आदि के द्वारा सीता के अस्फुट अधर और रक्तिम लज्जाभास के साथ लोकोत्तर आंख-मिचौनी खेली है।

आगे चल तुलसी वधूटियों के मुंह कहाते हैं—

धरि धीर कहै चलु देखिय जाइ जहां सजनी रजनी रहिहैं।
सुख पाइ हैं कान सुनै बतियां कल आपुस में कुछ कहिहैं ॥
कहिहै जग पोच, न सोच, कुछ फल लोचन आपन तो लहिहैं ॥

वर और वधू के एकान्त वार्तालाप को सुनने में उत्सुकता का होना स्वाभाविक है । संसार हमें पोच कहेगा, चिन्ता नहीं, संसार का सुरभित सौन्दर्य भी हमें ही देखने को मिलेगा ! परन्तु क्या रहस्य के वार्तालाप को सुनना और उत्सुक मोदमिलन का देखना वधूटियों के भाग्य में था ? नहीं ! कदापि नहीं !! संसार के यह दोनों यात्री जगत् की स्थूलसत्ता से कहीं आगे निकल चुके थे । पति और पत्नी का यह जोड़ा 'छित्त्वा पाशमपास्य वागुर-लताम्' वासनाओं के जाल से कभी का छूट चुका था । सीता और राम के रहस्यभाषण में जीवनसमुद्र के परले पार की प्रतिध्वनि आती है, उसमें अनन्त की सुषमा है, निशीथ और प्रभात के मंजुल मोदमिलन की आभा है । इस सुषमा में, इस पावन गीत में वासना का क्या काम ! व्योमगंगा के माङ्गलिक प्रवाह में कर्दम के लिये स्थान कहां है ? तुलसी के प्रेम में वासनाओं वहिष्कार है, स्थूलता का तिरोधान है, और ऐन्द्रियता का विलय है । वधूटियों की लालसा बुझ गई, तुलसी उन्हें आश्वासन देते हैं—

अज्ञातपथ के यात्री

सुनि सुचि सरल सनेह सुहावने ग्रामवधुन्ह के बैन ।
तुलसी प्रभु तरुवर विलंब, किये प्रेम किनौड़े कैन ॥

तीनों यात्री आगे ही आगे चले जा रहे हैं । जंगल, घाटी, नदी, नाले उन्हें रोक नहीं सकते । वे उन्हें लांघ रहे हैं, और किसी ऐसे स्थान की खोज में जा रहे हैं जहां प्रकृति की संध्या के साथ वे अपनी संध्या भी मना सकें । आज की संध्या नवीन थी, आज का अम्बर नवीन था । यात्रियों ने संसार के भीषण कंकाल को आज ही परखा था, आज ही उन्हों ने पार्थिव ऐश्वर्य के भार को अपनी पीठ से फेंका था । कैकेई के नारकीय अभिशापों की

यात्रा में श्रान्ति

महावात्या में यात्री स्थानभ्रष्ट नहीं हुए, प्रत्युत टिमटिमाते नक्षत्रों की भांति अपने ध्येय पर जमे रहे। अबला के अभिशापशोणित ने भास्कर को रंग दिया। संध्या आगई, आराम का समय आ लगा। लक्ष्मण पानी के लिये चल दिये। चारों ओर घोर निर्जनता! मानसरोवर का नीरव तट! दिगन्तवर्ती भैरव वन! गगनचुम्बी स्तब्धता! अशान्त सरसी का ईषत् कंपित नीर! यात्रियों के मन से नैराश्य का अञ्चल खिसक गया। राम और सीता परस्पर मिल गए, इस समय इनके श्वास एक थे, देह एक थे, आत्मा एक था। दोनों एकान्त के उत्तुंग शिखर पर झूलने लगे। इस झूल में दो आत्मा झूल रहे थे, दो तत्त्व मिल रहे थे, दो मन्दाकिनी मिल रहीं थीं, चन्द्रमा अपनी चांदनी से मिल रहा था। तुलसी के यह वचन—

जल को गए लक्खन हैं लरिका,
　　　परिखौ पिय! छांह घरीक ह्वै ठाड़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं,
　　　और पाय पखारिहुँ भूभुरि डाढ़े।
तुलसी रघुवीर प्रिया श्रम जानि कै,
　　　बैठि विलंब लौं कण्टक काढे।
जानकिनाह को नेह लख्यो,
　　　पुलको तनु बारि विलोचन बाढे॥

जब तक संसार रहेगा ऐसे ही बने रहेंगे। इनमें श्रान्त आत्मा का स्तिमित आलोक है, प्रेमार्त इन्द्रियों

श्रान्ति में सुषमा

का तरल कंपन है। एक एक शब्द में अमृत का सार है। एक एक पंक्ति में जीवन की कलियां हैं। वह छाया, वह पसीने का पूँछना, वह बयार करना, वह पैर पखारने, वह अपने हाथों प्रियतमा के पैरों से 'कांटे काढने' वह रोमांच, और वह अश्रुओं का अविरुद्ध प्रवाह अपने

जैसे आप थे। इनका 'पटतर' असंभव है। आंसुओं की उस धारा में स्थान और काल का परिधान बह गया, ऐश्वर्य का विवर्त धुल गया, वासनाओं के लताप्रतान बह गए। उस समय संध्या का निमीलन था, चेतना और अचेतना का संमिश्रण था, परमात्मा और प्रकृति का संकलन था। रजनीनाथ का अपनी प्रियतमा से मधुमय चुंबन था। दोनों यात्री व्यावहारिक जीवन से थक चुके थे, दोनों परस्पर एक हो गये और प्रदोप की तन्द्रामग्न लहरियों पर उतराने लगे।

इस शयन में आत्मा जागता है और इन्द्रियां सोती हैं।

कविता की ऐन्द्रियता

इन्द्रियों के विलय के साथ ही हम कविता के दूसरे लक्षण अर्थात् ऐन्द्रियता पर आते हैं। ऐन्द्रियता के बिना कविता स्थायी नहीं बनती और उसकी पुकार परिमित हो जाती है। सब जानते हैं कि आत्मा और शरीर अविभाज्य हैं, एक दूसरे की जान हैं। हमारा शरीर हमारे आत्मा का मन्दिर है। फलतः कविता में शारीरिक और आत्मिक दोनों प्रकार के प्रेम का वर्णन आवश्यक है। संसार आत्मा की पूजा करे अथवा न करे उसे धूलि के 'चेतन' कणों की आराधना अवश्य करनी है। शेक्सपियर के यह शब्द—

Shakespeare की ऐन्द्रियता

Take, O take thy lips away,
That so sweetly were forsworn,
And those eyes, the break of day,
Lights that do mislead the morn:
But my kisses bring again, bring again;
Seals of love, but sealed in vain, sealed in vain.

जब तक संसार रहेगा ऐसे ही बने रहेंगे। छोह और बिछोह कब, किस से, और किस के रुके हैं? छोह और बिछोह के इस

सुपमित तानेवाने ही में सृष्टि का रहस्य है। यदि पुरुष को देख प्रकृति की साम्यावस्था में भङ्ग न पड़ जाय तो संसार का यह पसारा कैसे तने ? कुछ भी हो, संसार इधर से उधर होजाय, 'प्रेम की यह पीर' ऐसी ही बनी रहेगी।

Thy soul I know not from thy body, nor
Thee from myself, neither! our love from
God. Rossetti.

शरीर, आत्मा और परमात्मा के ऐक्य ही में संसार की यातनाओं का अवसान है।

प्रेमचन्द्र के बिना संसार की यह निशा सुनसान है, निर्जीव है, और भयानक है। बादलों में बिजली न हो तो वर्षण रुक जाय और संसार तरसता रह जाय। इस बिजली के आधार पर ही प्रकाश का निर्माण हुआ है। प्रेम के क्षीरसागर में ही परमात्मा की सृष्टि का कमल खिला है।

Goethe ने सुन्दर गीत गाए, जीवन की कलियों को तरल मोतियों से सींच दिया, आत्मिक रुदन में Goethe ऐन्द्रियता संसार को सहमा दिया, अपनी वीणा के तारों पर स्पन्दन की तन्त्रियों को झणझणा दिया, पर यह सब किसके बल पर ? किसके आह्वान पर ? कौन जानता है कि Frederika और Charlotte Buff ने उसे क्या क्या नाच नचाए थे ? उसके जीवन में कब कब विद्युत्प्रवाह किया था ?

The heart that Goethe has loved cannot
belong to another. Frederika.

की गूंज ने Goethe के हृदय को बिलो दिया था और

'मथत मथत माखन रहे, दही मही बिलगाय'

के अनुसार उसके हृदय का मक्खन निकाल संसार के संमुख

रख दिया था। किसे ज्ञात है कि Goethe की जीवनलीला में Anno Elizabeth Schonemann तथा Christiane Vulpino का कितना हाथ है? यह संसार मर्त्य है, इसके छोह और बिछोह मर्त्य हैं। मर्त्य मनुष्य के मर्त्य संबन्धों में अमर्त्य प्रेम की धारा बहाना ही विश्वजनीन कवियों का काम है। Faust कहता है—

> The lips so red, the cheek's clear dawn,
> I'll not forget while the world rolls on.

अधर दूर हो जायंगे, कपोलपंकज सूख जायंगे, परन्तु उनके साथ इन शब्दों द्वारा उत्पन्न हुआ रागात्मक सम्बन्ध वैसा ही बना रहेगा। प्रेम की यह चांदनी, स्नेह का यह प्रदीप, राग की यह होली जब तक संसार है इसी प्रकार खेली जायगी।

Margaret चली गई, Faust कभी का कालकवलित हो चुका, वह दिन चले गये, वह बहार, वह अलि, और वह गुलाब सभी चले गये परन्तु प्रेम की इस पीर का 'रागात्मक संबन्ध' आज भी वैसा ही है जैसा विलपती हुई Margaret के मन में था—

> And Kiss his mouth,
> To heart's desire.
> And on his Kisses,
> At last expire.

वह वदनकमल, वह रसभरा हृदय, वह पीयूषवाही चुम्बन आज कहां हैं? वह सुखमयी मृत्यु भी आज किसे नसीब है? परन्तु रागात्मक सम्बन्ध को उत्पन्न करने वाले यह शब्द नक्षत्र आज भी साहित्यगगन में उसी प्रकार टिमटिमा रहे हैं जैसे Margaret के समय में। मर्त्यजगत् त्रिकाल में भी प्रेम को नहीं दुरा सकता। संसार की इस रजनी में प्रेमचन्द्र का राज्य है, प्रेमकी उषा का अरुण

हास्य है । प्रेम के बिना जीवन अधूरा है, नीरस है, वृथा है। ज्योति:पुञ्ज की इस मधुमय रश्मि से ही द्रुमदल पुलकित होते हैं, समीरण झूमता है, कलियां मुसकराती हैं, और सोते छलछलाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या तुलसी में भी यह प्रेम है ? है ! अवश्य है !! और अत्यन्त परिष्कृत रूप में है !!! रामायण की अन्तस्तली में प्रेम का स्रोत बह रहा है, श्रद्धा, भक्ति, प्रणय, आत्मोत्सर्ग और सौजन्य की मन्दाकिनी बह रही है । तुलसी के पात्र इस पीयूषवाहिनी के कमल हैं, उसकी मृदुल वीचियां हैं। तुलसी का प्रेम इन्द्रियों में बहता हुआ भी उनसे परे है, शरीर में रमता हुआ भी शरीर से परे है, वह आत्मिक है; सूक्ष्म है, तरल नहीं, प्रशान्त है, वात्या नहीं, मन्दाकिनी की वीचियों का सुरभित समीर है । वह हार्दिक होते हुए भी अन्त:करण के प्रान्त में विराजमान है।

तुलसी की ऐन्द्रियता

तुलसी का चातक—

एक भरोसो, एक बल, एक आस विस्वास ।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥

निष्काम प्रेमी है । अपना उद्देश्य वह आप ही है । उसकी प्यास, उसकी उत्कण्ठा, सदा बनी रहे इसी में उसकी मर्यादा है, इसी में उसका जीवन है ।

बरपि परुष पाहन पयद पंख करौ टूक टूक ।
तुलसी परी न चाहिये, चतुर चातकहिं चूक ॥
उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर ।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुं दूसरी ओर ॥

तुलसी का यह चातक सीता के अतिरिक्त और कौन है ? संसार के इन दो यात्रियों ने 'उस संध्या'

चातक अथवा सीता की ऐन्द्रियता

के सिवाय और कौन सा दिन आनन्द का देखा है ? उनका जीवन है दुःख, दुःख, दुःख ! पर ओलों की मूसलाधार वर्षा में, रागद्वेषों के तरल ज्वालानल में, बिछोह के स्तब्ध समुद्र में, सीता ने राम को क्षणभर के लिये भी नहीं भुलाया। सुख दुःख में, छोह बिछोह में वह अपने राम में रमी हुई है। सीता की यात्रा स्वर्ग की ओर नहीं थी, अभ्युदय अथवा निःश्रेयस की ओर भी नहीं थी। संयम की यह प्रतिमा गंभीरतया प्रेम के निगूढ रस को प्राप्त करने के लिये रामतत्त्व में लीन हो रही थी, वह फल की गंभीर मधुरिमा में परिणत होने के लिये, सौन्दर्य तथा मङ्गल के चरम ऐक्य में आत्ममग्न होने के लिये, अपने पार्थिव वर्णगन्ध को मिटा रही थी। वह समझती थी कि परिणय, वास्तव में जीवन का जीवन के साथ है, न कि शरीर का शरीर के साथ।

एक बार सीता राम से छूट गई, दूसरी बार स्वयं राम ने उसे छोड़ दिया। उफ ! यह अनभ्र वज्रपात ! उत्सुक चुम्बन पर यह जलता आलात ! विपत्तियों की यह दारुणता, नृशंसता की यह पराकाष्ठा ! किसके कारण ? केवल एक धोबी के कारण ! प्रेम की इस भयंकर परीक्षा में सीता किस प्रकार पार उतरी इसे कौन नहीं जानता ? समीर की कौन सी वीणा आत्मोत्सर्ग के इस गीत को नहीं गाती !

पिता (जनक) का उत्तान रुदन, राम का मर्मवेधी प्रेम-मंजुल 'नृशंस' व्यवहार, माताओं की स्मृति की तीव्र कसक, और जंगल की रोमांचकारी विपत्तियों में प्रसव की दारुण वेदना भी सीता के प्रेम को शिथिल न बना सकीं। चातक के प्रेम की यह अनन्यता तुलसी के सिवाय और कहां मिल सकती है ?

चरग चंगुगत चातकहिं नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परवस हाड़ पर परिहै पुहमी नीर॥
वध्यो बधिक, पर्‌यो पुन्य जल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेमपट मरतहुँ लगी न खोंच॥

सीता का प्रेम यही प्रेम था। सीता जीवन और मरण के बन्धनों से मुक्त थी! उसका प्रेम परिवर्तनों से पार था!

यह सत्य है कि तुलसी प्रेम के ऐन्द्रिय रूप की अपेक्षा उसके आत्मिक रूप का अधिक वर्णन करते हैं। सीता राम के वियोग में Margret के इस रोने को कभी नहीं रोती—

And on his kisses,
At last expire.

परन्तु वह भी श्याम के मंजुल शरीर की याद में तड़पती है—

कबहुं नयन मम सीतल ताता।
होइहहिं निरखि स्याम मृदुगाता॥
बचन न आव नयनभरि वारी।
अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥

वियोग की यह (ज्वाला) प्रखर होते होते प्रलयंकर विश्वदाव का रूप धारण कर लेती है। सीता कान्दिशीक हो चीख उठती है—

कह सीता विधि भा प्रतिकूला।
मिलिहिं न पावक मिटहिं न सूला॥
देखियत प्रगट गगन अगारा।
अवनि न आवत एकउ तारा॥
पावक मय ससि स्रवत न आगी।
मानहुं मोहि जान हतभागी॥
सुनहु बिनय मम बिटप असोका।
सत्य नाम करु हरु मम सोका॥

नूतन किसलय अनल समाना।
देहि अगिनि मम करहि निदाना ॥
सुन्दर काण्ड

विरह के क्वाथ में शरीर और आत्मा पिघल रहे हैं। सीता म्लान हो ज्वालाओं में अभिसार किया ही चाहती है कि रामकी मुद्रिका के दर्शन होते हैं और वह फिर से यात्रा के लिये कटिबद्ध हो जाती है। राम की दशा इस से भी कहीं अधिक शोचनीय थी। वह हनुमान के हाथ सीता के लिये यह संदेस भेजता है- -

वैराग्यमुद्रा

कहेउ राम वियोग तव सीता। मो कहं सकल भये विपरीता ॥
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम निसि ससि भानू॥
कुवलय विपिन कुन्तवन सरिसा। वारिद तपत तेल जनु बरिसा ॥
जेहि तरु रहे करत तेहि पीरा। उरग स्वास सम त्रिविध समीरा ॥
कहेहू ते कछु दुख घटि होई। काहि कहहुँ यह जान न कोई ॥
तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा ॥
सो मन सदा रहत तोहि पांहीं। जानु प्रीति रस एतनहिं माहीं ॥

'प्रेम की दारुण पीर' से संसार में कौन बचा है? मुहब्बत के मर्ज में कौन मुब्तला नहीं हुआ? चरित्र में राम संसार का आदर्श है। वह मर्त्य जगत् की लोकोत्तर प्रतिमा है। परन्तु 'प्रेम की पीर' से वह भी बरी नहीं। वह उन्माद, वह आनन्द-भरी वेदना, चैतन्याचैतन्य की वह वारुणी उसे भी मतवाला बना देती है। राम सीता के वियोग में मारे मारे फिरते हैं।

'धूल के कण' की चिरसंचित छवि लुट गई। अम्बर की सुषमा को प्रदोपयक्षी निगल गई। जीवन के दो सुकुमार यात्रियों का साथ छूट गया, कहां? निशीथ के आलोडित गगन में! गिरिराज एवरेस्ट पर। समुद्र के अनन्त मध्य में! कृतघ्न समाज की आवा-

सदरी इस संसार में ! हाथ मारे हाथ नहीं सूझता । आंख बेकार हैं, जीवन नीरस है । शक्ति क्षीण हो रही है, कैकेई की विषाक्त आंखें तन्द्रामग्न चेष्टाओं के घनान्धकार को फाड़ हजारों कोस से यात्रियों पर पड़ रही हैं । परन्तु यह सब कुछ होने पर भी प्रेम की लतिका पहले से दूनी हरी हो गई है । मांगे मौत तक नहीं मिलती—

समुद्र में हाथ पैर मारता हुआ पथिक जो भी लहर सामने दीखती है उसी के परदे में प्रियतमा को प्रेम का स्निग्ध अन्धकार छिपा हुआ समझता है, परन्तु ढूँढने पर जब वह उसे वहां नहीं पाता तब क्रोध में उबल पड़ता है और चारों ओर हर्ष से नाचने वाली उत्तुंग तरंगों को जली कटी सुनाने लगता है । राम आपे से बाहर हो अचेतन पदार्थों से सीता की पूछताछ करते हैं—

लक्ष्मण समझाये बहु भांती । पूछत चले लता तरु पाती ॥
हे खगमृग हे मधुकर स्रेनी । तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं । नेकु न संक सकुचि मन मांहीं ॥
सुनि जानकी तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥

कैसा करुण विलाप है ? मनुष्य की अकिंचनता का कैसा खरा निरूपण है ? प्रकृति पर कैसा कठोर आक्षेप है ? प्रेम के उन्माद से संसार का यह प्रबुद्ध पथिक भी अछूता न बचा । आज उसका स्वप्ननीड टूट गया है । उसकी शशिबाला को राहु ने ग्रस लिया है । वह रोता है, दीवाना बन अचेतन जगत् को कोसता है, उसकी नीरवता से प्रतिहिंसा लेना चाहता है । उसका यह ध्येय—

सगुन छीर अवगुण जल ताता ।
मिलइ रचइ परपंच बिधाता ॥

क्षण भर के लिये धूल में मिल जाता है । कल्याणमार्ग के इस पथिक ने सांसारिक ऐश्वर्य को हंसते हंसते ठुकरा दिया था, रिश्ते-नातों को 'गजनिमीलितेन' अवधीरित कर दिया था, मान, मद,

मत्सर आदि शत्रुओं पर पूर्णाधिपत्य प्राप्त कर लिया था, परन्तु दांपत्यप्रेम के मोहिनीमंत्र से यह भी मुक्ति न पा सका। वह रोता है—

विरही इव प्रभु करत विपादा। कहत कथा अनेक संवादा॥
लछमन देखु विपिन कई सोभा। देखत केहि कर मन नहिं छोभा॥
नारि सहित सब खगमृग बृन्दा। मानहुँ मोरि करत हहि निन्दा॥
हमहिं देखि मृग निकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहं भय नाही॥
तुम्ह आनन्द करहु मृगजाये। कंचनमृग खोजन ए आए॥
संग लाइ करिनी करि लेहीं। मानहु मोहि सिखावन देहीं॥
मधुकर मुखर भेरि सहनाई। त्रिविध बयारि वसीठी आई॥
चतुरङ्गिनी सेन सङ्ग लीन्हें। विचरत सबहिं चुनौती दीन्हे॥
लछमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह के जग लीका।
एहिके एक परमबल नारी। तेहिं ते उबर सुभट सोइ भारी॥

तरल हृदय के कैसे विनीत उद्‌गार हैं? राम का ज्ञान वासना की वारुणी में छिप गया। कटे कलेजे के टांके टूट रहे हैं। राम ने अपने जीवन में पहली बार अग्नि का यह संगीत गाया है। महापुरुषों का दैन्य भी महान होता है। आज ज्वाला ने सोते समीरण को ठुकराया है। ज्योति के स्तब्ध पुञ्ज पर बिजली गिरी है। आज राम की प्रतिहिंसा का दिन है। उसके गन्धकित नेत्रों की तरल कोर संसार के उपेक्षाभाव को ध्वस्त कर देगी।

राम धैर्य का सागर है। वह क्षमा का उदयाचल है। उसका संयोग और वियोगात्मक शृङ्गार भी 'लोकालोक इवाचलः' की भांति अनोखा है। वह शारीरिक होते हुए भी दैविक है, वह ऐन्द्रिय होते हुए भी इन्द्रियों से परे है। वह है सुवर्ण की सुरभित छवि! वह है आद्य जीवन का प्रेमार्त कंपन! उसमें लोकात्मा अपना शृङ्गार सज रहा है। पुरुष प्रकृति को मनाये बिना म्लान हो जाता है, राम सीता को देखे बिना कल नहीं पाते। दोनों की ऐन्द्रियता

में विशालता है। दोनों के स्वार्थ में विशालता है। दोनों के स्वार्थ में परार्थ की आभा है।

Her voice was like the voice the stars
Had when they sang together.

में Rossetti प्रणयिनी के शरीर में रमता हुआ भी तारों के मूक गीत में वह रहा है। यही दशा तुलसी राम की लोकोत्तर मुद्रा की है। वह अन्तरंग तथा बहिरंग का तादात्म्य कर विश्व की व्याख्या करता है। वह भेद और अभेद का संश्लेषण कर जीवन की समष्टि को स्थापित करता है। उसकी दृष्टि में काम और विरति दोनों सप्रयोजन हैं। कदम्ब फूल रहे हैं, जम्बुकुंज भर रहे हैं, वकपंक्तियां उड़ रही हैं, यौवनस्खलित सरिता का जल छलछलाता हुआ वेतों को चूस रहा है, आषाढ़ के आकाश में रति अभिसार कर रही है, पुष्पधन्वा राम पर रमणियों की कुञ्चित चितवन के तीर चलाता है, परन्तु राम की विश्वजनीन मुद्रा में स्थायीभंग नहीं होता। विरही राम स्मृति के अज्ञात तट पर खड़ा हुआ, जल स्थल तथा आकाश में, शरत वसन्त तथा वर्षा में, धर्म कर्म और इतिहास में अपरूप चिह्नों को खोद कर सत्य तथा प्रेम की मूर्ति सीता को स्थापित कर रहा है।

भेदों का तादात्म्य

फलतः तुलसी काम को 'आदित्यवर्ण परमात्मा' की रश्मियों में से एक रश्मि समझ अपनाता है और उसके द्वारा वियोगात्मक शृङ्गार का सच्चा अभिनय करता है। वह जानता है कि जहां प्रकृति में मूकता है, पुष्पों का नीरव स्मित है, तारों की छिटक है, वहां उसमें विद्युत् का निर्घोष भी है, समुद्र की उद्दामता भी है, और अंधड़ के झोंके भी हैं। प्रकृति की उक्त सर्वाङ्गीण आयोजना में रति और विरति दोनों को स्थान है। दोनों अपनी अपनी जगह भले

लगते हैं। संसार में जो सुन्दर है वह विराट् है, जो विराट् है वह शिव है, जो शिव है वह सत्य है, और जो सत्य है वह आदर्श श्रेय है। फलतः तुलसी राम में प्रतीपलिङ्गों का अभेद मानते हुए भी उन्हें इन्द्रियविलास से वञ्चित नहीं करते।

समालोचकों का आक्षेप है कि तुलसी के पात्र ऐन्द्रियता से तुलसी की ऐन्द्रियता पर ऊपर हैं, उनमें ऐन्द्रियोन्माद है ही नहीं,

आक्षेप

और यदि है भी तो अप्रकाशित रूप से, आध्यात्मिकता के अवगुण्ठन में है। तुलसी सीता के प्रति राम के मुंह यह कभी नहीं कहाते—

And now sweet-heart,
You seem too tired to get to bed.

Rossetti.

वह तो स्वप्नवेला में भी आध्यात्मिकता में रम रहे हैं। उनके हृदय में स्नेह की मञ्जुल वीचियां उठती ही नहीं, और यदि उठती भी हैं तो 'बालवैधव्यदग्धानां कामिनीनां कुचा इव' की भाँति वहाँ की वहीं दवा दी जाती हैं। राम ने सीता के प्रति यह शब्द कभी नहीं कहे—

....Sit up.
I've filled our glasses, let us sup.
And do not let me think of you.
Lest shame of yours suffice for two.

Rossetti.

परन्तु क्या प्रेम की इस मंजुल केलि को छिपाने से यह सिद्ध होता है कि रामने अपने जीवन में सीता के प्रति यह बातें कभी कही ही नहीं। नहीं! कदापि नहीं। इन बातों का होना प्रत्येक गृहस्थ-जीवन में स्वाभाविक है; परन्तु तुलसी तो राम को परमात्मा के, और सीता को उनकी माया के रूप में वर्णन करने बैठे हैं। उनका

उद्देश्य है राम को आदर्श रूप में दिखाना और हिन्दूजनता को अपनी ओर आकृष्ट करना। फलतः तुलसी के वर्णन में कविता के ऐन्द्रियांश की न्यूनता होने के कारण उन्हें संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों में नहीं गिना जा सकता।

उपर्युक्त मत से सर्वांशेन सहमत होने पर भी हम अनिष्ट परिणाम पर नहीं पहुँच सकते। ऐन्द्रियता का अर्थ शारीरिकता है न कि शारीरिक मलिनता। sensuous और sensual में जो भेद है वही शारीरिकता तथा शारीरिकमलिनता में है। शारीरिकता का वर्णन तुलसी का अपूर्व है, अनूठा है, दिग्वधुओं को प्रेम, तथा श्रद्धाकी डालियां देने वाला है। इस विषय में उसके यह वाक्य—

आक्षेप निराधार है

सुन्दरता कहं सुन्दर करहीं।
गिरा अनयन नयन बिनु वाणी। इत्यादि

स्मरणीय हैं। यदि शरीर और आत्मा परस्पर अविभाज्य हैं तो उनका पुनीत सम्बन्ध भी सततं अभीष्ट है। शरीर हर प्रकार से आत्मा का चेरा है, चेरे को स्वामी की छत्रच्छाया में रखना ही श्रेयस्कर है। फलतः तुलसी Keats के इस अनिष्टकारी प्रेमवर्णन से कोसों दूर भागते हैं—

Lift the latch! Oh gently! ah tenderly
sweet.
We are dead if that latchet gives one
little clink!
Well done—now those lips, and a flowery
seat—
The old man may sleep, and the planets
may wink:

The shut rose shall dream of our loves,
and awake.
Full blown, and such warmth for the
mornings take;
The stock dove shall hatch her soft brace
and shall coo,
While I kiss to the melody, aching all
through.

प्रेम के इस वर्णन में इन्द्रियों का प्रसाद नहीं, प्रत्युत उनका धूम्र है। इस प्रेम में कदर्यता का चक्रवात वह रहा है। इसमें विषयवासना की चिनगारियां झड़ रही हैं। तुलसी का राम इस दृश्य को कल्पना में भी नहीं ला सकता था।

श्रृङ्गार का नग्ननृत्य भयावह है

श्रृङ्गार का नग्न नृत्य मधुमय होने पर भी परिणाम में भयावह है। केलिक्रीडा अत्यन्त पवित्र वस्तु है। उसका इस प्रकार खुल्लमखुल्ला वर्णन करना उसे नग्न नृत्य कराना नहीं तो और क्या है? इसीलिये तुलसी रामसीता की केलिक्रीडा को छिपाए रहते हैं, और इस प्रकार उसकी पवित्रता को बनाए रखते हैं। इस विषय में उनका वह प्रकरण ध्यान देने योग्य है जहाँ रामचन्द्र सीता को ब्याह कर लाए हैं। यह संक्षेप में इस प्रकार है—

भूप वचन सुनि सहज सुहाये। जटित कनक मनि पलंग डसाये॥
सुभग सुरभिमय फेनु समाना। कोमल कलित सुपेती नाना॥
उपवरहन वर वरनि न जाई। स्रग सुगन्ध मनि मन्दिर माहीं॥
रतनदीप सुठि चारु चंदोवा। कहत न वनइ जान जेइ जोवा॥
सेज रुचिर रचि राम उठाए। प्रेम समेत पलंग पौढ़ाए॥
अग्या पुनि पुनि भाइन्ह दीन्ही। निज निज सेज सयन तिन्ह कीन्ही॥

विवाह के उपरान्त ऐसे सुन्दर स्थान में, ऐसे सुन्दर उपकरणों को एकत्र कर तुलसीदास आगे विचित्र कथा चलाते हैं—

मारग जात भयावन भारी । केहि विधि तात ताडिका मारी ॥

ऐसे अभिराम अवसर पर राम के प्रति माता का यह प्रश्न बहुतों को अखरेगा, परन्तु जो लोग भारतीयों को प्राचीन दिन-चर्या से परिचित हैं, वे तुलसीदास के इस कौशल की बार बार प्रशंसा किये बिना न रहेंगे ।

जीवन और साहित्य का अटूट संबन्ध

जीवन प्रकृति का सिरमौर है, उसमें उद्योग का पर्यवसान है। जीवन के नवनीत का नाम ही आत्मा तथा परमात्मा है । संसार का प्रत्येक परमाणु इस तत्त्व में परिवर्तित होने के लिये लालायित है । वह अपनी चरमसत्ता के लिये अविरल प्रयत्न कर रहा है । विश्व की इस आयोजना में वस्तुजात का एक मात्र लक्ष्य 'जीवन' है । साहित्य भी इस नियम से बाहर नहीं । जीवन को आत्मसत्ता की ओर लेजाने वाले साहित्य ही संसार में स्थिर रहेंगे । जीवन की स्थूल बातों पर बहस करनेवाले साहित्य स्थूलता के तिरोधानके साथ स्वयं भी तिरोहित होजायंगे। वासनाएं जीवन का स्थूल पहलू हैं । केलि क्रीडा अत्यन्त पवित्र, और इसीलिये गोप्य होने पर भी जीवन को चरम सत्ता की ओर ले जाने में उतनी सहायक नहीं, जितना कि मन तथा इन्द्रियों का निग्रह । इस विषय में Matthew Arnold के यह वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

'याद रक्खो जीवन के चरम व्याख्यान का नाम ही यथार्थ कविता है । कवि का महत्त्व तथ्य विचारों को सुन्दरता तथा प्रभाव-शालिता के साथ 'जीवन' में, 'किस प्रकार जिऊं' इस प्रश्न में समन्वित करने में है । बहुधा आचार पर संकुचित तथा विसं-वादी दृष्टि से विचार किया जाता है; उसे ऐसे मन्तव्यों और विश्वास

सूत्रों के साथ टांक दिया गया है, जिनके दिन वीत चुके हैं। आज आचार डींग मारने वाले धर्मध्वजियों के हाथ में पड़ गया है। वह हममें से वहुतों को खलने लगा है। हम कभी कभी ऐसी कविता की ओर भी खिंच जाते हैं जो आचार का विरोध करती है, जिसका आदर्श उमर खय्याम के इन शब्दों में है कि 'आओ! जो समय मसजिद में गंवाया है उसकी कमी शराबखाने में पूरी करलें'। कभी कभी हमें ऐसी कविता सुहाने लगती है जो आचार की उपेक्षा करती हो, कविता जिसमें सार हो या न हो, परन्तु जिसकी भाषा सुन्दर हो और अलंकार खरे हों। दोनों दशाओं में हम अपने आप को भ्रान्ति में डालते है। भ्रमोच्छेद का सर्व-श्रेष्ठ उपाय यह है कि हम 'जीवन' के विशाल तथा अविनाशी शब्द पर अपने मन को एकाग्र करें। वह कविता जो आचार का विरोध करती है एक प्रकार से 'जीवन' का प्रत्याख्यान करती है, और वह कविता जो आचार को उपेक्षादृष्टि से देखती है स्वयं 'जीवन' की उपेक्षा करती है।'

साहित्य का जीवन के साथ अटूट सम्बन्ध है, और जीवन का सदाचार के साथ अनिवार्य संबन्ध है। फलतः सदाचार-विरोधी साहित्य यदि एकान्ततः हेय नहीं तो परिणाम में कल्याण-कारी भी नहीं है।

(इ) इसके साथ ही हम कविता के तीसरे लक्षण पर आते हैं। कविता का भावमय होना आवश्यक है। आत्मा की अन्तस्तली में उठने वाले परस्पर विरोधी भावों का पूर्णरूपेण चित्र खींचना विश्वजनीन कवियों का प्रधान लक्षण है। इस क्षेत्र में Shakespeare का स्थान सर्वोच्च माना जाता है। जर्मनी के प्रसिद्ध कवि Goethe ने भी जीवन की व्याख्या के लिये स्तुत्य यत्न किया है। पापवासनाओं के पंजे में पड़ जीव किस प्रकार

कविता की भावमयता

यातनाएं सहता है, पारितोपिक की आकांक्षा उसे न चाहने पर भी कहां कहां फिराती है, संयम और नियम के अभाव में उसका जीवनपोत अनन्त समुद्र में किस प्रकार मारा मारा फिरता है, इन सब बातों का चित्रण Faust में पढ़ते ही बनता है। आत्मिक गान, श्रद्धा, सन्देह, जादूगरी, व्यंग, ताने, सभी को उसमें खासा स्थान मिला है। हृदय के भावों की प्रत्येक तंत्री पर Goethe की अंगुली पड़ती है और खूब पड़ती है।

Milton ने अपने Paradise Lost में संसार के पथिक की अलौकिक यात्रा का मार्मिक चित्र खींचा है। Victor Hugo ने अपने Les Miserables में भावों की प्रतिस्पर्धिता का अनूठा उद्बोधन किया है।

अब प्रश्न यह है कि क्या तुलसी की रामायण में भी भावों का यह संघर्ष मिलता है। हां मिलता है, और Macbeth तथा Faust जैसा मिलता है। आमूलचूड सारी रामायण भावसंघर्ष की विद्युत्तरंगों में डगमगा रही है, अभ्रचुम्बी ऐश्वर्य चारों ओर फूट फूट कर धूलिसात् होरहा है।

तुलसी की भावमयता

रामायण के भैरवी युद्ध में संसार के मंजे योद्धा भाग्य के साथ जूझ रहे हैं। कर्मफलों के पांशुरक्त झंझानिल में गिरिकन्दरायें गूञ्ज रही हैं, और समुन्नत शाल टूट रहे हैं। अदृष्ट के महा समुद्र में 'ट्य टानिक' भटक रहे हैं और भूत प्रेतों की भांति अचानक सिर उठानेवाले घटनाजाल के हिमपर्वतों से टकरा कर चूर चूर हो रहे हैं। रामायण में नियति नाच रही है, विश्वमंडल डोल रहा है, उसकी संधियां टूट रही हैं, गगनतल से उल्का बरस रहे हैं। सारा ब्रह्माण्ड ज्वालामुखी पर्वत बन गया है। मानवीयता के इस स्वप्ननिशीथ में कैकेई के अभिशाप शोणित से रंगे हुए राम, सीता और भरत ये तीन पथिक पुण्यों की पोटली लिये निर्वाण की ओर

जारहे हैं। मार्ग में राक्षस उठते हैं, दैत्य दानव आते हैं, भूतप्रेत, डाकिनी शाकिनी आती हैं पर ये अपने सुकृत के बल सबको जीतते चले जाते हैं।

राम के साथ दशरथ का अनन्य प्रेम है। वह विश्वामित्र से कहता है—

चौथेपन पाएउं सुत चारी। विप्र वचन नहिं कहेउं विचारी॥
मांगहु भूमि धेनु धनु कोसा। सरवस देउं आजु सह रोपा॥
देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउं निमिष एक माहीं॥
सब सुत प्रिय प्रान की नाईं। राम देत नहिं बनई गोसाईं॥

दशरथ, कैकेई, और राम पर विपत्ति चक्रवात

विश्वामित्र कुछ दिन के लिये राम को मांग रहे थे। उस पर दशरथ का यह विलाप था। मोह के इस अवतार को क्या पता था कि जिस रमणी की स्वप्नमुद्रा को पूर्ण करने के लिये वह इन शब्दों में--

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा। केहि दुइ सिर, केहि जम चह लीन्हा॥
कहु कहि रंकहिं करहुँ नरेसू। कहु केहि नृपहिं निकासउं देसू।
जानसि मोर सुभाउ वरोरू। मन तव आनन्द चन्द चकोरू॥
प्रिया! प्रान सुत सरवस मोरे। परिजन प्रजा सकल वस तोरे॥

--संसार को उलट सकता था, वह उस वृद्ध 'पत्नीव्रत' से किसी का गला न कटायगी, किसी रंक को राजा न बनवायगी, किसी राजा को देश निकाला भी न दिलवायगी, प्रत्युत त्रिलोकी को कंपानेवाली अपनी भृकुटी को फटकार कर उससे—

सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का। देहु एक वर भरतहिं टीका॥
तापस वेप विशेषि उदासी। चौदह वरिस राम बनवासी॥

—राम के वनवास का वर मांग बैठेगी, और स्त्रैण राजा के बार बार हाथ जोड़ने पर भी कि—

मोर भरत राम दुइ आंखी। सत्य कहउं करि संकर साखी॥

रिसि परिहरु अब मंगलसाजू । कुछ दिन गये भरत जुवराजू ॥
एकहि बात मोहे दुख लागा । वर दूसर असमञ्जस मांगा ॥

—वह अपने हठ पर अड़ी रहेगी और वृद्ध राजा के इस रोने विलपने पर—

कहउ सुभाव न छल मन माहीं । जीवन मोर राम बिनु नाहीं ॥
समुझि देखु प्रिय प्रिया प्रवीना । जीवन राम दरस आधीना ॥

—जिसमें करुण सत्य है, लोकोत्तर वेदना है, और असीम रुदन है, निरन्तर उसके विदीर्ण हृदय में शंकु चलाती जायगी ! यह है अनभ्र वज्रपात ! इसे कहते हैं नियतिचण्डी का अकाण्ड ताण्डव !

अबला का अभिशाप और सम्राट् की महायात्रा

प्रेम और प्रतिज्ञा के हृदयङ्कष संग्राम में दशरथ ने जीवन की आहुति दे दी । Othello ने जब अपनी Desdemona पर कुठारपात किया था तब उसे उसके पतन का पूर्ण निश्चय हो चुका था परन्तु तुलसी का दशरथ जानता है कि राम निष्पाप है, वह यौवराज्य का अधिकारी है, इतने पर भी वह—

अउर करइ अपराध कोउ, अउर पाव फल भोग ।
अति विचित्र भगवान गति, को जग जानइ जोगु ॥

कह कर उसे जङ्गल में पठा देता है और एक साथ अपने, भरत के, राम के, और प्रजावर्ग सभी के ऊपर बिजली गिराता है ।

कैकेई के इन दारुण शंकुओं ने—

जौ अन्तहुँ अस करतब रहेउ । मांगु मांगु तुम केहि बल कहेउ ॥
दुइ कि होय इक समय भुआला । हसब उठाइ फुलाउब गाला ॥

—दशरथ के श्रान्त हृदय को किस प्रकार चलनी बना दिया होगा इसका अनुमान भी मनुष्य की शक्ति से बाहर है । अभिशापग्रस्त सम्राट् अबला की अग्नि में शलभ बन गया ! मरते समय उसने यह गीत गाया था—

अजस होउ जग सुजस नसाऊ। नरक परउं वरु सुरपुर जाऊं॥
सब दुख दुसह सहावहु मोही। लोचन ओट राम जनि होई॥

सन्ताप की धूम्रावृत दवाग्नि में शलभ पर कैसी बीती होगी? कटे पर नमक छिड़कने की सीमा है! यहां वह असीम है! प्रियतमा के हाथों होने के कारण लोकोत्तर है!

कैकेई ने मन्थरा के इस उपदेश पर--

रामहिं तिलक काल जो भयऊ। तुम कहं बिपति बीज बिधि बयऊ॥
रेख खंचाई कहउं बल भाखी। भामिनि भइहु दूध कहि माखी॥
जो सुत सहित करहुँ सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥

--कि राम के तिलक होजाने पर उसे दूध में से मक्खी की भांति निकाल कर फेंक दिया जायगा, भरत का अभिषेक और राम का वनवास मांगा था। भरत आते हैं और अपनी माता के मुँह सम्राट् का स्वर्गारोहण सुन पछाड़ खाकर गिर पड़ते हैं। मूर्छा में उनका पहला शब्द था--

माता की मूढता और पुत्र का संहार.

चलत न देखन पायउ तोही। तात न रामहिं सौंपेहुँ मोही॥

कैकेई ने निःशङ्क हो भरत के यौवराज्य और राम के वनवास का समाचार सुना दिया। भरत के पके घाव पर अंगारा गिर गया। वह बोला--

जो पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारेसि मोही॥
पेड़ि काट तें पालउ सींचा। मीन जियन हित वारि उलीचा॥
केकइ कत जनमी जग मांझा। जौं जनमि त भइ काहें न बांझा॥

भरत के प्राण राम में थे, दशरथ में थे। पिता उसकी अनुपस्थिति में स्वर्ग सिधार गये, और राम युगों के लिये वन को चले गये। दशरथ की वेदना का मृत्यु ने उपचार कर दिया। राम के साथ लक्ष्मण थे और सीता थी। विपत्ति के निशीथ में भरत अकेला था। वह १४ वर्ष तक सन्ताप और वियोग की एकान्त अग्नि में

घुलता रहा। उसकी माता केकई ने अपने हाथों अपने पति का संहार कर दिया, पुत्र को अनाथ बना सन्ताप की भट्टी में फेंक दिया, और अपने आपको विधवा बना लिया। यह है दारुण अदृष्ट! इसे कहते हैं भावों का रोमांचकारी संघर्षण!

तपस्वी कुमार का लोकोत्तर दाक्षिण्य

तारकोल में लगी भीषण अग्नि में घुटते हुए दशरथ और भरत को जीवन का पथिक देख रहा था। उसने बरसों तक जीवन की मरुमरीचि से श्रान्त हो एक को पिता और दूसरे को 'भयउ न भुवन भरत सम भाई' कहकर पुकारा था। आज पिता और भाई को माता अपने पीयूष भरे हाथों जलते तैल-कुण्ड में सरका रही थी। संसार की भीषणता के इस नग्न नृत्य ने उसकी आंखें खोल दीं। वह माता से कहता है—*

---

* 'भये बहुत दिन अति अवसेरी' आदि प्रकरण में तुलसी राम के राहुग्रस्त भ्रातृप्रेम का आभास दिखाते हैं। जो भरत संसार में राम को प्राणों से अधिक प्यारा था उसी भरत की माता राम को वनवास देती है। राम ने माता के इस आदेश को ठीक उसी भावना के साथ स्वीकार किया जिस भावना से कि उन्हों ने राज्याभिषेक को स्वीकार किया था। तुलसी के इस लोकोत्तर प्रकरण की भासरचित प्रतिमानाटक के इस वर्णन के साथ तुलना करो—

काञ्चुकीयः—परित्रायतां परित्रायतां कुमार ।

रामः—आर्य कः परित्रातव्यः ?

काञ्चु.—महाराजः ।

रामः—महाराज इति ! अथ कुत उत्पन्नोऽयं दोषः ।

काञ्चु.—स्वजनात् ।

रामः—स्वजनादिति । हन्त नास्ति प्रतीकारः ।

काञ्चु.—तत्र भवत्याः कैकेय्याः ।

सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी । जो पितु मातु वचन अनुरागी ॥
तनय मातु पितु तोषनि हारा । दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥
भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू । विधि सब विधि मोहिं संमुख आजू ॥
जो न जाऊं वन ऐसेहु काजा । प्रथम गनिय मोहिं मूढ समाजा ॥
सेवहिं अरण्ड कल्पतरु त्यागी । परिहरि अमृत लेहिं विष मांगी ॥

दाक्षिण्य की इस लोकोत्तर सुषमा ने भी कैकेई के नेत्र न खोले! जान्हवी की पीयूषधारा भी समुद्र के हृदय को मीठा न बना सकी! इसे कहते हैं औदार्य तथा कदर्यता का प्रातीप्य! कैकेई नारकीय ज्वालाओं में झुलस रही है और राम उदयाचल पर खड़ा उसके दुर्भाग्य पर आँसू बहा रहा है!

अनन्त के यात्री पर निशीथ

जंगलों में राम मारा मारा फिरता है। उसकी प्रियतमा पर कष्ट आते हैं। रावण अपना काम करता है। लक्ष्मण के शक्ति लगती है। संसार सुनसान है। पिता मर गये, सीता चुराई

रामः—किमम्बायाः । तेन हि उदर्केण गुणेनात्र भवितव्यम् ।

कान्चु.—कथमिव ।

रामः—श्रूयताम् । यस्याः शक्रसमो भर्ता, मया पुत्रवती च या ।
फले कस्मिन् स्पृहा, तस्या, येनाकार्यं करिष्यति ॥

कान्चु.—कुमार ! अलमुपहतासु स्त्रीबुद्धिषु स्वमार्जवमुपनिक्षेप्तुम् । तस्या एव वचनाद् भवदभिषेको निवृत्तः ।

रामः—आर्य ! गुणाः खल्वत्र ।

कान्चु.—कथमिव ।

रामः—श्रूयताम् । वनगमननिवृत्तिः पार्थिवस्यैव तावत् ।
मम पितृपरवत्ता बालभावः स एव ॥
नवनृपतिविमर्शे नास्ति शङ्का प्रजानाम् ।
अथ च न परिभोगैर्वञ्चिता भ्रातरो मे ॥

प्रतिमानाटक प्रथम अङ्क

गई, लक्ष्मण मरणासन्न है, नगर में जाने और संबन्धियों से मिलने को प्रतिज्ञा रोकती है। हा ! आज भूकम्प, वन्हि, बाढ, उल्का, वज्र, और प्रलय के समवाय का धूलि के इस चेतन कण के साथ अन्तिम संग्राम है। अदृष्ट के क्रूर ताण्डव में प्रकृति हंस रही है, चन्द्रमा हंस रहा है, तारे हंस रहे हैं। राम के मुंह से चीख निकल पड़ती है—

जो जनतेउं बन बंधु बिछोहू। पिता वचन मनतेउं नहिं ओहू ॥
सुत वित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता ॥

इस चीख में मनुष्य नहीं, प्रत्युत विश्वात्मा रो रहा है। प्रलयकालीन प्रकृति अन्तिम श्वास ले रही है। उफ ! आज चेतना जड़ से हार गई। वह विरोधी भावों के अन्धड़ की तूलिका बन गई। मोहन ! मरीज को दवा दो। अहसान होगा ! समुद्र-मथन को रोक दो ! यात्री पार लग जायगा !

रावण मारा गया। सीता मिल गई। रामराज की स्थापना हो गई। चारों ओर आनन्द मंगल छा गए।

प्राजातन्त्र्य — 'जनानने कः करमर्पयिष्यति' धोबी सीता के चरित्र पर शंका करता है। राम रोते हैं। समाज और व्यक्ति का प्रश्न है। सीता में राम के प्राण हैं, परन्तु राम में प्रजा के प्राण हैं। मतप्रकाशन का अधिकार सब को है। धोबी राजा के आचार विचार की समालोचना कर सकता है। राम ने अपनी छाती पर शिला रख ली। मोदमिलन के कौतुक को सन्ताप की भट्टी में झोंक दिया। राम निर्जीव हो गया। शाप, आह, जलन और टीस ने उसके मर्मों को बींध दिया। जीवन की रेखाओं को समय ने कुचल दिया। छलछलाते आंसुओं में अंबर ने सन्ध्या को विदा दी। निर्जीव राम ने सीता को 'शून्य' में फेंक दिया। इस बिछोह में शून्य, शून्य को विदा कर रहा था ! माया माया को विदा कर रही थी ! भाग्य भाग्य को सरका रहा था !

राम प्रजा को नहीं कोसता, धोबी को फांसी नहीं चढ़ाता, प्रजा की आज्ञा बिना राजकाज नहीं छोड़ता, शून्यदृष्टि राम राजगद्दी और सीतावियोग की दो फांसियों पर एक साथ चढ़ जाता है।

पिता और पुत्र का प्रातीप्य

दशरथ केकैई के इशारे से रंक को राजा और राजा को रंक बना सकते थे, राम रंक के इशारे से अपने को और अपनी प्राणप्रिया को फांसी पर चढ़ाते हैं। चरित्र का यह प्रातीप्य, पूर्णता की यह पराकाष्ठा संसार में अपने जैसी आप है। यह है 'न भूतो न भविष्यति'।

सीता के चले जाने पर राम ने सब काम किये, शूद्र तपस्वी को मारा, लवण राक्षस को मरवाया, अश्वमेध यज्ञ किया, और प्रजा को दानादि द्वारा संतुष्ट किया। सब अनुष्ठानों के अन्तस्तल में आत्मोत्सर्ग की पुनीत धारा थी, परतर लोक से इशारा करने वाली जानकी थी, सत्ता का चरम निष्कर्ष, अर्थात् चैतन्य और अचैतन्य का तादात्म्य था। वियोगी राम सुखदुःख से ऊपर था, रागद्वेष से परे था, कर्तव्याकर्तव्य से मुक्त था। वह अब समष्टितत्त्व के ऐक्य की सरिता में बहता था।

जीवन्मुक्त राम का शूद्र तपस्वी को मारना

राम के शूद्र तपस्वी को मारने पर आक्षेप किया जाता है। परन्तु अरुणवर्णा उषादेवी अकारण ही निशीथ को चीर देती है। दुर्दैव दशरथ को अकारण मारता है। स्वप्ननीड में सोती हुई साम्यावस्था को सृष्टिप्रवाह की प्रथम रश्मि अकारण ठेस पहुँचाती है। प्रखर भास्कर अंबर को निष्प्रयोजन रौंदता है। प्रकृति की इन घटनाओं में कोई कारण नहीं। फिर राम के तपस्वीसंहार में कारण पूछने का दुराग्रह क्यों! प्रकृति का प्रत्येक तत्त्व अपने व्यक्तित्व में परिष्कार करता हुआ साम्यावस्था तक पहुँचना चाहता है। व्यक्तित्व तथा साम्या-

वस्था की दृष्टि से कोई जाति, कोई अनुष्ठान, और कोई भी परिस्थिति घृणास्पद नहीं है। यदि भाव परिपूत हों तो शूद्र अथवा ब्राह्मण की उपाधि थोथी है, दोनों परिस्थितियों में रहता हुआ आत्मा समान उन्नति कर सकता है। मनुष्य ने समाज की रक्षा के लिये ऐकान्तिक धर्मों के साथ परिच्छिन्न धर्मों का भी आयोजन किया है। परिच्छिन्न धर्म त्रिकालाबाध्य नहीं होते, इनमें देशकालानुसार परिवर्तन होते रहते हैं। फलतः भारत की प्राचीन वर्णव्यवस्था को आधुनिक युग के लिये अनावश्यक मान लेने पर भी उसे तात्कालिक समाज के लिये अनुपयुक्त मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता। वर्णव्यवस्था को तात्कालिक समाजरक्षा के लिये इष्टसाधक स्वीकारने पर किसी भी व्यक्ति को अपनी मौलिक योग्यता का परिचय विशेष दिये बिना अनुष्ठान द्वारा वर्णव्यत्यय करने की आवश्यकता या अधिकार नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में निरीह और निष्काम राम ने दैवप्रवृत्या, यदि सेवा जैसे लोकरक्षक अनुष्ठान को छोड़ केवल आत्मा का कल्याण करने वाली तपस्या को अपनाने वाले शूद्र तपस्वी को आत्मसात् कर दिया तो क्या पाप हो गया?

पथिक की अदम्य आशावादिता

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक रामायण का पाठ हो गया। विश्वपथ के यात्री की कथा हो चुकी। वृन्तच्युता जानकी की अतृप्त तृष्णा और खण्डित स्वप्न के फोटो उतर चुके। अबला को अभिशापाग्नि में दशरथ की शलभता को सब ने देख लिया। संसार की अवदात भावनाओं को स्तब्ध करने वाले कैकेई के वेदनाधूसरित हास्य को सब ने सुन लिया। परन्तु क्या निराशामय उलझन की, माया के जाल की, प्रातीप्य के संग्राम की इस रोमांचकारी कथा में कहीं भी किसी पात्र के मुंह आपने यह शब्द सुने कि—

......................Out out brief candle;
Life's but a walking shadow, a poor
player.
That strets and frets his hour upon a
stage.
And then is heard no more. It is a tale
Told by an idiot, full of sound and fury
Signifying nothing.

Macbeth.

तुलसी के पात्र क्षणिक जीवन की पराजय से नहीं अकुलाते। इहलोक के स्वप्न की सब कलियों के बिखर जाने पर भी सीता परलोक का हार गूंथ रही है। गर्भालसा जानकी को क्रव्यादों में फेंक कर भी पूतात्मा राम उसकी प्रतिकृति बना यज्ञ की दीक्षा लेता है।

तुलसी और Shakspeare के दृष्टिकोण में भेद है

सब अनुष्ठानों के अन्तस्तल में सत्ता की एकता काम कर रही है। सब घटनाओं में, सब परिस्थितियों में, अनन्त की सुषमा भासमान हो रही है। ज्योति के उस पुञ्ज पर, आशाओं के उस स्रोत पर, जीवन के उस सार पर टकटकी लगाए, तुलसी के यात्री प्रकृति के काल्पनिक भार को ढो रहे हैं। प्रकृति के उस साम्य में, विवर्त के इस भार को वहन करने में उन्हें कोई श्रान्ति नहीं, और फेंकने में आनन्द नहीं।

परिणाम

It is on the quality of the matter it informs or controles, its compass, its variety, its alliance to great ends or the depth of the note of revolt, or the largenesso of hope in it that

the greatness of literary art depends, as the Divine Comedy, Paradise Lost, Les Miserables, the English Bible are great art.

Walter Pater.

जीवन की रागात्मक आलोचना जैसी रामायण में है वैसी संभवतः किसी साहित्य में मिले। सुकुमार वात्सल्य से लेकर दारुण संताप तक के सारे के सारे भावों का चित्रण रामायण में मिलता है। 'वात्सल्य भाव का अनुभव कर पाठक तुरंत बालक राम और लक्ष्मण के प्रवास का उत्साह पूर्ण जीवन देखते हैं जिस के भीतर आत्मावलंबन का विकाश होता है। फिर आचार्यविषयक रति का स्वरूप देखते हुए वे जनकपुर में जाकर सीताराम के परम पवित्र दाँपत्य-भाव के दर्शन करते हैं। इस के उपरान्त अयोध्यात्याग के करुण दृश्य के भीतर भाग्य की अस्थिरता का कटुस्वरूप सामने आता है। तदनन्तर पथिकवेषधारी राम और जानकी के साथ चलकर पाठक ग्रामीण स्त्री पुरुषों के उस विशुद्ध सात्विक प्रेम का अनुभव करते हैं जिसे हम दांपत्य वात्सल्य आदि कोई विशेषण नहीं दे सकते पर जो मनुष्यमात्र में स्वाभाविक है।

तुलसी की रागात्मक आलोचना लोकोत्तर है

रमणीय वन पर्वत के बीच एक सुकुमारी राजवधू को साथ लिये दो वीर आत्मावलंबी राजकुमारों के विपत्ति दिनों को सुख के दिनों में परिवर्तन करते पाकर वे वीरभोग्या वसुन्धरा की सत्यता हृदयंगम करते हैं। सीताहरण पर विप्रलंभश्रृङ्गार का माधुर्य देखकर पाठक फिर लंकादहन के अद्भुत, भयानक और वीभत्स-दृश्यका निरीक्षण करते हुए रामरावण युद्ध के रौद्ररस तक पहुँचते हैं। शान्तरस का पुट तो बराबर बीच में मिलता ही आया है। हास्य रस का पूर्ण समावेश रामचरितमानस के भीतर न करके

नारद मोह के प्रसंग में उन्होंने किया है। इस प्रकार काव्य के गूढ और उच्च उद्देश्य को समझने वाले पाठक मानवजीवन के सुख और दुख दोनों पक्षों के नानारूपों के मर्मस्पर्शी चित्रण को देखकर गोस्वामी जी के महत्व पर मुग्ध होते हैं, और स्थूल बहिरंगदृष्टि रखने वाले भी लक्षण ग्रन्थों में गिनाये हुए नवरसों और अलंकारों पर आल्हाद प्रकट करते हैं।*

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक रामायण की कथा के अन्तस्तल में भावना की पवित्र सरिता बह रही है, या यों कहिये कि भावना के समुद्र पर तुलसी ने रामचरित के छोटे छोटे टापू तैयार कर दिये हैं, जिन पर पहुँच जीवपथिक हंसे या रोये विना नहीं रह सकता। इस रुदन में जीवन का प्रत्येक तत्त्व वृहद्दर्शकयन्त्र द्वारा विशालकाय बन उसके संमुख उपस्थित होता है और उसे अनन्तता का आभास दिखाता है। दशरथ विलाप, रामवनवास और सीता-परित्याग की घटनाएं आग को रुला सकती हैं और पानी को जला सकती हैं। जीवन की इस रसायन में सब रसों का पंचीकरण है, सब भावों का संमिश्रण है, और सब तानों का विलय है। तुलसी ने इन तीनों घटनाओं का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। सीता और राम के पुनीत चरित्र की सर्चलाइट से संसार का यह घोर निशीथ आज भी कान्दिशीक बन रहा है। इस दिव्य सर्चलाइट को भविष्य के समुद्र की छाती पर फेंकना और उस समुद्र के प्रत्येक स्पन्दन को जीवपथिक के समक्ष रख देना ही तुलसी के जीवन का प्रधान ध्येय था। इस ध्येय की पूर्ति में वह कहां तक सफल हुआ है इस बात का निम्नलिखित शब्दों से आभास हो सकता है—

We judge of a prophet by his fruits, and I give much less than usual estimate when

* १ तुलसी ग्रन्थावली भाग ३ पृष्ठ १९३

I say that fully ninety millions of people have heard their theories of morel and religious conduct upon his writings. If we take the influence exercised by him at present time as our test, he is one of the three or four great writers of Asia. *

हिन्दी साहित्य के इतिहास पर सरसरी दृष्टि डालते हुए हम कह सकते हैं कि कबीर ने समय की आवश्यकताओं को देखते हुए मानवजीवन की धार्मिक भावयोग के रूप में व्याख्या की और हिन्दू तथा मुसलमानों के आटोपी प्रकार वाद का खण्डन करके एक विश्वजनीन धर्म की स्थापना की।

साहित्यिक इतिहास पर सरसरी दृष्टि

जायसी ने जीवन के धार्मिक और ऐन्द्रिय दोनों पहलुओं की व्याख्या कर कबीर के 'नीरस' उपदेशों से उत्पन्न हुई शुष्कता को दबाया। परन्तु इस के व्याख्यान में सरलता तथा भावसंघर्ष का अभाव है। विहारी ऐन्द्रिय है, उस के प्रेम में धार्मिकता तथा उत्पतन और पतन के आभास का अभाव हैं। उसे इन्द्रिय-मलिनतावादी (Sensualist) कहना अनुचित न होगा। देव की ऐन्द्रियता में धर्म की आभा है, वह इस बात को समझता है कि सौन्दर्य तथा सत्य दो वस्तु नहीं प्रत्युत एक ही वस्तु के दो रूप हैं। परन्तु उस में भी भावसंकलन का अभाव है। केशवदास विहारी की श्रेणी में है। उस में यथार्थ कविता की न्यूनता है। भूषण में रौद्ररस की पराकाष्ठा है। उस में प्रकृति की गंभीर और घोर गर्जना है। उसके वातावरण में सुकुमारता को स्थान नहीं है। उसकी कविता में प्रेम का विकास नहीं है।

तुलसीदास सरलता, भावमयता और ऐन्द्रियता के सर्वोत्कृष्ट

* J. R. A. S. July 1930 P. 455.

कबीर के दैविक प्रयत्न

उदाहरण हैं। कबीर के विश्वजनीन धर्म को जनता नहीं समझ सकी थी। संसार के बंधनों का परित्याग मनुष्य के लिये असंभव था। हां कबीर के अक्षरों पर चल समाज की मूढ श्रेणी ने धर्म की ध्वजा उठा ली थी। समाज में शैथिल्य आ गया था और हिन्दू धर्म की आधारशिला 'वर्णव्यवस्था' डोलने लगी थी। इस में कबीर का अपराध नहीं। हिन्दू और मुसलमानों के प्रकारवाद-जन्य भेदों के कारण भारत खून में रंगा हुआ था। कबीर ने प्रकार-वाद का खण्डन कर हिन्दू और मुसलमान दोनों को धर्म के अन्तस्तल का आभास दिया। इस में कबीर को लेनिन * (Lenin) कह कर फटकारना अन्याय्य है। याद रहे यदि संसार सैंकड़ों 'झार' (Czar) पैदा करता है तो वह एक लेनिन को भी अवश्यमेव जन्म देगा।

जारशाही और लेनिनशाही का समन्वय

यदि संसार में झारशाही न हुई होती तो लेनिनशाही का भी जन्म न हुआ होता। यदि भारत "पद्युवायं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्" जैसे विकट और निराधार वाक्यों की घोषणा करने वाले आचार्यों को जन्म दे सकता है तो उसके लिये कबीर और नानक जैसे सुधारकों का उत्पन्न करना भी नितान्त आवश्यक है। संसार की इस स्वाभाविक उथलपुथल में न लेनिन को दोष देना चाहिये और न कबीर को। यह दोनों संसार की सार्वजनिक भ्रात्रीयता के लिये दिव्य सम्पत्ति छोड़ गए। क्रान्ति के यह पुच्छल तारे कभी उदय होते हैं। क्रान्तिचण्डी के

---

* ऊंची श्रेणियों के कर्तव्य की पुष्ट व्यवस्था न होने से ही यूरोप की नीची श्रेणियों में ईर्ष्या द्वेष, और अहंकार का प्राबल्य हुआ, जिससे लाभ उठाकर लेनिन इस 'समय महात्मा बना हुआ है'। तुलसी ग्रंथावली भाग ३ पृष्ठ १२३.

यह अवतार सदा नहीं होते, इनका उद्देश्य होता है क्रूरों का दमन और पतितों का उद्धार। इनके जीवन का मंत्र होता है 'वसुधैव कुटुम्बकम्'।

कबीर के ध्येय को तुलसी ने पूर्ण किया

परन्तु सुधारकों के पुनीत आदर्शों को किस देश के समाज ने सदा याद रक्खा है? हिंसा का प्रत्युत्तर अहिंसा में किस जाति या देश ने दिया है? ऐश्वर्य के कनक में संसार बौरा ही जाता है। निदान, कबीरप्रवर्तित क्रान्ति का प्रमुख उद्देश्य भुला दिया गया और उसके अक्षरों का पालन होने लगा। उसके विधेयात्मक कार्यक्रम को छोड़ निषेधात्मक कार्यक्रम का पालन किया जाने लगा। लोकसंग्रह के स्थान में लोकविग्रह का भय हो गया। कबीर के प्रयत्नों से हिन्दू और मुसलमानों के भेद नष्ट हो उनमें ऐक्य का उद्भास तो हुआ परन्तु विशीर्ण हुए भारतीय समाज को उससे सामाजिक व्यवस्था के नियमों की शिक्षा न प्राप्त हो सकी। भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से चली आने वाली, संकोचात्मक और विकासात्मक दोनों शक्तियों में से (जिनका समय समय पर ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के पारम्परिक संघर्ष द्वारा प्रकाशन होता आया है) पिछली शक्ति कबीर में पूर्णरूप से थी, परन्तु पहली का उसमें नितान्त अभाव था। तुलसी ने इस अभाव को पूरा किया और हिन्दू तथा मुसलमानों के संमिश्रण से उत्पन्न हुए विमनस्क जनसमाज को फिर से वर्णाश्रमधर्म की दीक्षा देते हुए उसे ऐक्य के उस आदर्श की ओर चलाया जिसकी प्राप्ति के लिये संकोचात्मक तथा विकासात्मक दोनों शक्तियों की समानरूपेण आवश्यकता है। दोनों शक्तियों के इस अद्वितीय संकलन में ही तुलसी की अनुपम विशेषता है और यही कारण है कि उसकी रामायण ब्राह्मण और क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी की दृष्टि में समानरूप से पूजनीय है।

राम में संकोचात्मक* और विकासात्मक दोनों शक्तियों का अभिराम संकलन था। इन दोनों शक्तियों का तुलसी में पेशल समन्वय था। रामायण में दोनों शक्तियों का अनुपम व्याख्यान है। फलतः तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और संसार के गिने चुने दो चार कवियों में उनका स्थान ऊंचा है।

राम और तुलसी की लोकोत्तरता

तुलसीदास के वर्णन में नाटकीय छटा--

तुलसीदास कथा को खूबी के साथ निबाहते हैं। 'नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते' मल्लिनाथ की यह कहावत रामायण के विषय में अक्षरशःसत्य है। रामायण ऐतिहासिक काव्य है। आधुनिक तत्त्वानुसन्धायकों की दृष्टि में भले ही रामायण कपोलकल्पना हो, किन्तु प्राचीन भारत के लिये यही जातीय इतिहास था और यही जातीय कविता थी। ऐतिहासिक काव्य में कवि का प्रमुख ध्येय ऐतिहासिक नायक की कथा का वर्णन करना होता है। वह काव्य की शोभा बढ़ाने के लिये और जीवन के प्राकृतिक तथा आचार सम्बन्धी व्याख्यान के लिये नायक की सम्पत्ति और विपत्ति को सुषमित करने वाले प्राकृतिक दृश्यों का अपनी रचना में वर्णन करता है। इस प्रकार के वर्णनों से नायक के अस्थायी और स्थायी भावों की पुष्टि होती है और काव्य के रस का समुचित परिपाक हो जाता है।

रामायण ऐतिहासिक काव्य है

तुलसी का प्रत्येक वर्णन नपातुला है, प्रासङ्गिक है, और कथा में विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न करने वाला है। भावपरिवर्तन के साथ तुलसी की भाषा बदल जाती है और उसकी शैली तथा पदविन्यास में परिवर्तन हो

तुलसी में भाव और भाषा का आनुरूप्य है

---

* इस विषय में Deussen के लेख ध्यान देने योग्य हैं।

जाता है । प्रेम, विरति तथा भक्ति आदि के प्रकरणों में तुलसी लेखनी को छोड़ देता है और वह शान्त भावों के सुरभित समीर में झूमने लगती है । इसके विपरीत ईर्ष्या, द्वेश, क्रोध तथा कठोरता आदि के वर्णन में वह भाषा, भाव और शैली की घड़ी को इतना कस कर ऐंठ देता है कि प्रस्तुत कथा नियमित रूप से चलने लगती है और उसमें एक शब्द की भी न्यूनाधिकता नहीं हो सकती।

काव्य के इस पिछले रूप को ही नाटक के नाम से पुकारा जाता है । यहां कवि कर्म और भाव दोनों

रामायण में नाटकीय छटा को उनके ऐकान्तिक रूप में प्रस्तुत करता है और अपनी तल्लीनता के कारण जनता को भावों के शून्य में चित्रखचित सा कर देता है । तुलसीदास काव्य की इस कला में अत्यन्त प्रवीण हैं ।

आइये, देखें तुलसी किस प्रकार अपनी कविता को नाटकीय छटा से चमत्कृत करते हैं । रामायण के कई सम्वादों में से, जो सब के सब अभिनय की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं, हम यहां एक या दो संवादों का दिग्दर्शन करायंगे ।

सब से पहले परशुराम लक्ष्मण संवाद को लीजिये । नाटक के सूक्ष्म अभिनय की दृष्टि से रामायण का यह प्रकरण अनुपम है। इसमें तुलसीदास परशुराम के प्रति लक्ष्मण के प्रौढ मजाक को पूर्णता पर पहुँचाते हैं और अन्त में राम के गभीर वचनों द्वारा शान्तरस में उसका परिपाक कर देते हैं। यह संवाद इस प्रकार आरंभ होता है—

(स्थान जनक पुरी)

(परशुराम शिवधनुप के भंग को सुन गेरुए वस्त्र पहने, कमर पर तूणीर बांधे और कन्धे पर धनुष और कुठार रक्खे हुए विवाह मण्डप में प्रवेश करते हैं)*

---

* परशुराम का यह विचित्र वेप ही अन्त में उनके पराभव का

परशुराम—

............कहु जड जनक धनुष केहि तोरा ।
बेगि देखाउ मूढ नत आजू । उलटउं महि जहं लग तव राजू ॥

राम—(विनीत होकर)

नाथ संभु धनु भंजनि हारा । होइहि कोउ एक दास तुम्हारा ॥
आयसु काह कहि हि किन मोही ।..............................

परशुराम—

सेवक सो जो करइ सेवकाई । अरि करनी करि करिय लराई ॥
सुनहु राम जेहि सिवधनु तोरा । सहसबाहु सम सो रिपु मोरा ॥
सो बिलगाउ बिहाइ समाजा । न त मारे जइहैं सब राजा ॥

(मुनि के वचनों को सुन सभा ठिठक गई)

लक्ष्मण-(मुसकरा कर)

बहु धनुहीं तोरी लरिकाई । कबहुं न असि रिस कीन्ह गुसांई ॥
एहि धनु पर ममता केहि हेतु ।..............................

परशुराम-(खिज कर)

रे नृप बालक काल बस, बोलत तोहि न संभार ।
धनुहीं सम त्रिपुरारि धनु, बिदित सकल संसार ॥

लक्ष्मण-(हंस कर)

..............................सुनहु देव सब धनुष समाना ॥
का छति लाभु जीन धनु तोरे । देखा राम नये के भोरे ॥
छुवत टूट रघुपतिहि न दोषू । मुनि बिनु काज करिय कत रोषू ॥

परशुराम-(परशु की ओर देखकर)

कारण होता है—

वेष बिलोकि कहेसु कछु बालकहीं नहिं दोषू ।

देखि कुठारबान धनु धारी, भई लरिकहि रिस बीरु विचारी ॥

परशुराम की मजाक और लक्ष्मण की प्रशंसा के लिये राम को इन से अच्छे और कौन से शब्द मिल सकते थे ?

बालक बोलि बधऊं नहिं तोही । केवल मुनि जड जानहि मोही ॥
बाल ब्रह्मचारी अति कोही । विश्वविदित क्षत्रिय कुलद्रोही ॥
सहसबाहु भुज छेदनिहारा । परशु विलोकु महीप कुमारा ॥
मात पितहि जनि सोच बस । करसि महीप किसोर ।
गरभन के अरभक दलन । परसु मोर अति घोर ॥

लक्ष्मण-(हंस कर)

.....................अहो मुनीस महा भटमानी ।
पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू । चहत उड़ावन फूंकि पहारू ॥
† इहां कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं । जो तरजनी देखि मरि जाहीं ॥

देखि कुठार सरासन बाना । मैं कछु कहेउं सहित अभिमाना ॥
भृगुकुल समुझि जनेउ बिलोकी । जो कछु कहेहु सहेउं रिस रोकी ॥

सुर महिसुर हरिजन अरु गाई । हमरे कुल इन पर न सुराई ॥
बधे पाप अपकीरति हारे । मारतहू पा परिय तुम्हारे ॥
कोटि कुलिस सम बचन तुम्हारा । व्यर्थ धरहु धनुबान कुठारा ॥

परशुराम-(रोष में आकर)

कौशिक सुनहु मन्द यह बालक । कुटिल कालवस निजकुल घालक॥
भानुवंश राकेस कलंकू । निपट निरंकुश अबुध अशंकू ॥
काल कवलु होइहि छन माहीं । कहउं पुकारि खोरि मोहिं नाहीं ॥

लक्ष्मण-(मुसकराकर)

'हे ऋषि ! सुनि सुजस तुम्हारा' । तुम्हहिं अछत को बरनइ पारा ॥
अपने मुँह तुम आपनि करनी । बार अनेक भांति बहु बरनी ॥
नहिं संतोष तो पुनि कछु कहहू । जनि रिस रोक दुसह दुख सहहु ॥
वीरवृत्ति तुम धीर अछोभा । गारी देत न पावहु सोभा ॥

परशुराम-हे लक्ष्मण ।

तुम्ह तो कालि हांकि जनु लावा । बार बार मोहिं लागि बोलावा ॥

---

† प्रकृति पर्यवेक्षण में तुलसी की आंख कितनी तीव्र है ? तुलना करो Tennyson के प्रकृति वर्णन के साथ ।

(परशु को संभालकर)

अब जनि देइ दोष मोहिं दोपू। कटुवादी बालक वध जोगू॥
कर कुठारु मैं अकरुन कोही। आगे अपराधी गुरुद्रोही॥
उतर देत छांडउ बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे॥
न तु एहि काटि कुठार कठोरे। गुरुहि उऋन होतेउं स्रम थोरे॥

लक्ष्मण-(हंसकर)

'सुनहु महामुनि' सील तुम्हारा। को नहिं जान विदित संसारा॥
मात पितहिं उऋण भये नीके। गुरु ऋण रहा सोच बड़ जीके॥
सो जनु हमरेहि माथे काढा। दिन चलि गयेउ व्याज वड़ बाढ़ा॥
अब आनिय व्यवहरिया बोली। तुरत देउं मैं थैली खोली॥

(लक्ष्मण के वचनों को सुन सभा में हाहाकार मच गया)

राम—

नाथ! करहु बालक पर छोहू। सूध दुधमुख करिय न कोहू।
जो लरिका कछु अचगरि करहीं। गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं॥

(राम के वचनों को सुन मुनि सीरे पड़ गये)

लक्ष्मण-(हंस कर)

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया। परिहरि कोप करिय अब दाया॥
टूट चाप नहिं जुरहि रिसाने। बैठिय होइहहिं पाय पिराने॥
जो अतिप्रिय तो करिय उपाई। जोरिय कोउ बड़गुनी बोलाई॥

(लक्ष्मण के तानों को सुन जनक तथा अन्य नरनारी कांपते हैं, परशुराम कुठार ले कर झपटते हैं)

राम—

सुनहु नाथ! तुम सहज सुजाना। बालक वचन करिय नहिं काना॥
बररै बालक एकु सुभाऊ। इन्हहिं न सन्त विदूषहिं काहू॥
तेहि नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा॥
कहिय वेगि जेहि विधि रिस जाई। मुनि नायक सो करउं उपाई॥

परशुराम-(क्रुद्ध होकर)

'प्रियवर' राम जाय रिस कैसे । अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे ॥
एहि के कण्ठ कुठार न दीन्हा । तो मैं काह कोप करि कीन्हा ॥
गर्भ स्रवहिं अवनि परवनिं, सुनि कुठारगति घोर ।
परसु अछत देखेउं जियत, बैरी भूप किसोर ॥
बहइ न हाथ दहइ रिस छाती । भा कुठार कुण्ठित नृपघाती ॥
भयउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ । मोरे हृदय किरपा कसि काऊ ॥

लक्ष्मण-(सिर झुका कर)

बाउ कृपा मूरति अनुकूला । बोलत बचन झरत जनु फूला ॥
जो पै कृपा जरहिं मुनि गाता । क्रोध भये तन राखु बिधाता ॥

परशुराम-(क्रुद्ध होकर)

देखु जनक हठि बालक एहू । कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू ॥
बेगि करहु किन आंखिन ओटा । देखत छोट खोट नृप ढोटा ॥

लक्ष्मण-(हंस कर)

'सुनहु महामुनि बिनती एही । मूंदे आंख कतहुं कोउ नाहीं ॥

(परशुराम लक्ष्मण पर पार न बसता देख राम को आड़े हाथों लेना चाहते हैं)

परशुराम—

बंधु कहइ कटु संमत तोरे । तू छल विनय करसि कर जोरे ॥
करु परितोष मोर संग्रामा । नाहिं त छांड़ु कहाउब रामा ॥
छल तजि करहि समर सिवद्रोही । बंधुसहित न त मारहुँ तोही ॥

राम-(मुसकराकर)

गुनहु लषन कर हम पर रोषू । कतहुँ सुधाइहुँ ते बड़ दोषू ॥
टेढ़ जान बन्दइ सब काहू । बक्र चन्द्रमहि ग्रसहि न राहू ॥
जेहि रिस जाय करिय सोइ स्वामी । मोहि जानिय आपन अनुगामी ॥
प्रभु सेवकहि समर कस, तजहु बिप्रबर रोसु ।
बेषि बिलोकि कहेसि कछु, बालकहीं नहिं दोसू ॥

हमहिं तुम्हहिं सरबर कस नाथा। कहहु न कहां चरन कह माथा ॥
राममात्र लघु नाम हमारा। परसुहित बड़ नाम तुम्हारा ॥
देव एकगुन धनुप हमारे। नवगुन परम पुनीत तुम्हारे ॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहुँ विप्र अपराध हमारे ॥

(बार बार 'राम' सम्बोधन को सुन परशुराम क्रोध में ताम्र हो जाते हैं)

परशुराम-·························तहूं बन्धुसम वाम।
निपटहि द्विज करि जानहि मोही। मैं जस विप्र सुनावहुँ तोही ॥
चाप स्रुवा सर आहुति जानू। कोप मोर अति घोर कृसानू ॥
समिध सेन चतुरंग सुहाई। महा महीप भये पसु आई ॥
मैं यहि परसु काटि वलि दीन्हे। समर जग्य जग कोटिक कीन्हे ॥
मोर प्रभाव विदित नहिं तोरे। बोलसि निदरि विप्र के भोरे ॥
भंजेउ चाप दाप बड़ बाढा। अहमिति जानहुँ जीति जग ठाडा ॥

राम-ऋषि वर ! ·········रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी।
छुवतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करहुँ अभिमाना ॥

जौ हम निदरहिं विप्र बदि, सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभट जेहि, भयवस नावहिं माथ ॥

देव दनुज भूपति भट नाना। समवल होइ अधिक बलवाना ॥
जौं रन हमहिं प्रचारइ कोउ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ ॥
छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुलकलंक तेहि पामर जाना ॥
कहहुँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुवंसी ॥
विप्रवंस के अस प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहिं डराई।

रामचन्द्र के गूढ तथा गंभीर वचनों को सुन परशुराम झुक जाते हैं और यह अनुपम संवाद समाप्त होता है। कोमल परन्तु तीक्ष्ण, सभ्य परन्तु कटुकाथ, बालक के मुंह निकलने पर भी धीरोदात्त, विनीत परन्तु उद्धत परि-

तुलसी की लोकोत्तर व्यापकता

हास इस की जोड़ी का किसी भी साहित्य में मिलेगा इस बात में सन्देह है। यहाँ तुलसी ने नाटकीय कला को पूर्णता पर पहुँचा दिया है। उद्धत क्रोध और गुदगुदे परन्तु चुभते हास्य को तीव्र करते करते उस ने आवेश को उस लोकोत्तर उत्तुङ्गता पर पहुँचा दिया है, जहां पहुँच आवेग या तो सहस्रधा फूट आविष्टप्राणी की इतिश्री कर देता है अथवा आगे बढ़ने का अवकाश न पा अपने आप सीरा पड़ जाता है। परशुराम के 'चाप स्रुवा सर आहुति जानू' इत्यादि वाक्य प्रचण्डावेश की ज्वालाओं में झुलस रहे हैं। कवि ने क्रोध की लोकोत्तरता को सिद्ध करने के लिये विश्व की प्रकाण्डता को अकिञ्चन बना दिया है, और सौकुमार्य तथा चण्डत्व, लज्जा तथा धृष्टता, संयम तथा उच्छृङ्खलता, शील तथा दर्प, सब को गौण बना कर स्थायी तत्त्व की लोकोत्तर गरिमा प्रदर्शित कर दी है।

तुलसी के धीरोदात्त परिहास के संमुख Falstaff का बेमतलब मजाक और उसकी प्रत्युत्पन्न मति फीकी पड़ जाती है। भावों के विकास, शब्दों की उठ बैठ, और स्थायी भाव के लोकोत्तर परिपाक में तुलसी ने अच्छे से अच्छे नाटककारों को नीचा दिखा दिया है। भक्त प्रवर तुलसीदास, जिनकी नस नस में, रोम रोम में भक्ति की सुषमा चमत्कृत हो रही है परिहास के प्रदर्शन में भी इतने पहुँचे हुए निकलेंगे ऐसी किसे आशा थी।

तुलसी ने चन्द्रमा की कालिमा पर कुछ सूक्तियां कही हैं। श्रीराम जी के यह पूछने पर कि चन्द्रमा में कलङ्क किस वस्तु का है सुग्रीव आदि मन्त्री उत्तर देते हैं—

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महं प्रगट भूमि की छांई।
मारेहु राहु ससि हि कह कोई। उर मंह परी स्यामता सोई।
कोउ कह जब विधि रतिमुख कीन्हा। सारभाग ससिकर हर लीन्हा।
छिद्र सो प्रगट इन्द्र उर मांही। तेहि मग देखिय नभ परछाहीं।

मन्त्रियों से यथेष्ट उत्तर न पा प्रभु स्वयं बोले--

कह प्रभु गरल बंधु ससि केरा। अति प्रियतम उर दीन्ह बसेरा।

इसे सुन हनुमान् जी ने हाथ जोड़ कर कहा--

कह हनुमन्त सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रियदास।
तव रति तेहि उर बसत, सोई स्यामता भास॥

इस प्रकार प्रत्येक बात में, जीवन के प्रत्येक श्वास तथा स्पन्दन में भक्ति के माहात्म्य का वर्णन करने वाले तुलसी से इस प्रकार के पेशल परिहास की आशा करना वृथा होता यदि वह उच्च कोटि के कवि तथा अभिनेता न रहे होते। कविता की दृष्टि से रामायण अपूर्व है, अभिनय की दृष्टि से उसका लक्ष्मण परशुरामसंवाद (परिहास में), केकईमन्थरासंवाद (ईर्ष्योद्बोधन में), केकईदशरथसंवाद सारल्य तथा क्रोध और शोक के परिपाक में), और अङ्गदरावणसंवाद (परिहास तथा कोप के प्रचण्ड नर्तन में) अपूर्व हैं। तुलसीदास की इस लोकोत्तर व्यापकता को देखते हुए क्या हमें यह कहने का अधिकार नहीं रह जाता—

'Grasp of human nature the most profound, the most subtle; responsiveness to emotion throughout its whole scale from *tragic pathos to rollicking jollity*, with a middle range, over which plays a humour like the innurmerable twinklings of a laughing ocean ; powers of imagination so instinctive that to perceive and create seem the same mental act ; a sense of symmatry and proportion that will make everything it touches into art; mastery of language that

is the servant of thought and language that is the beauty in itself ; all these seperate elements of poetic force, any one of which in conspicuous degree might make a poet, are in 'Tulasidasa' found in complete combination.' *

राम के उदधिगांभीर्य तथा नैतिक परिपाक को दिखाने के लिये तुलसीदास ने लक्ष्मण की चित्तवृत्ति में उत्तेजनीयता का उद्भावन किया है। राम के आरंभिक जीवन में तीन घटनाएं मार्मिक हैं। तीनों अवसरों पर तुलसी ने घटना की मर्मस्पर्शिता तथा राम और लक्ष्मण के स्वभावप्रातीप्य को चित्रित करके राम के अपार गांभीर्य और उनकी नैतिक पराकाष्ठा का निरूपण किया है। पहला अवसर विवाह मण्डप में राम का परशुराम के साथ संवाद है, जिसमें ऋषि आपे से बाहर हो नवोढा जानकी तथा समस्त सभ्य-वर्ग के मध्य राम और लक्ष्मण को जली कटी सुनाते हैं। ऋषि के कोप का लक्ष्मण परिहास में उत्तर देते हैं और राम अपनी स्वाभाविक सौम्यता तथा विनय में। वे मानापमान का विचार न कर जानकी की उपस्थिति में भी ऋषि से दबते हैं और प्रणिपात के द्वारा महात्मा के संरम्भ को शान्त करने की चेष्टा करते हैं। परन्तु समुद्र में भी ज्वार आ ही जाता है। क्षमता की पराकाष्ठा होती है। परशुराम की गंभीर ललकार को सुन अन्त में राम भी क्षात्रधर्म के पालन में संनद्ध हो जाते हैं और प्रस्तुत संवाद समाप्त हो जाता है।

दूसरा अवसर राम का वनवास है। माता और पिता के उस

*World Litetature पृष्ठ १६६ पर प्रो. Moulton ने यह शब्द Shakespeare की व्यापकता के विषय में लिखे हैं।

दारुण संग्राम, अथवा नियतिचण्डी के उस अकाण्ड ताण्डव ने जिसमें कैकई और दशरथ भाग्य के हाथ की कठपुतली बन एक दूसरे का; राम लक्ष्मण सीता का, और सब से अधिक भरत का बलिदान कर रहे थे, लक्ष्मण के तरल हृदय को स्तब्ध कर दिया। नाटक की दारुणता ने उसे किंकर्तव्यविमूढ बना दिया और वह स्तब्धमुद्रा से भाग्य के निर्णय को स्वीकार कर राम के पीछे हो लिया। दूसरी ओर राम सत्ता के चरम आदर्श को ध्यान में रख माता पिता के लोमहर्षण नाटक में पूरा पूरा भाग लेता है और निष्काम भाव से, दशरथ के सहस्रधा निवारण करने पर भी कुल-क्रमागत सत्यसन्धता को पार लगाता है।

उपर्युक्त घटना की रोमांचकारिता के उद्बोधन में तुलसीदास नाट्यसम्राट् भास कवि को कोसों पीछे छोड़ जाते हैं। महाकवि भास घटना की दारुणता को सिद्ध करने के लिये लक्ष्मण के हाथ में धनुष बाण पकड़ा उससे यह घोषणा कराते हैं—

* यदि न सहसे राज्ञो मोहं धनुः स्पृश मा दया
स्वजननिभृतः सर्वोऽप्येवं परिभूयते।
अथ न रुचितं मुञ्च त्वं मामहं कृतनिश्चयो
युवतिरहितं लोकं कर्तुं यतश्छलिता वयम्॥
क्रमप्राप्ते हृते राज्ये भुवि शोच्यासने नृपे।
इदानीमपि सन्देहः किं क्षमा निर्मनस्विता।

इत्यादि।

परन्तु लक्ष्मण जैसा तरलहृदय वीर, जो तनिक सी बात पर अकड़ बैठता है, माता और पिता के उस भैरव युद्ध को देख धनुषबाण संभालने के योग्य रहा होगा इसमें अभिनेताओं को सन्देह है। वह तुलसी, जो विवाह मण्डपमें जनक के क्षत्रियन्यकार

---

* प्रतिमा नाटक अङ्क १

पर बिना बुलाये ही लक्ष्मण से ब्रह्माण्ड को उठवा देता और उसे कांचे घट की नांई फुड़वा डालता है, केकईदशरथ युद्ध के अवसर पर लक्ष्मण को निष्क्रिय कदापि न रहने देता यदि उस समय लक्ष्मण में शौर्य प्रकट करने की लेश मात्र भी क्षमता रही होती।

राम लक्ष्मण के स्वभावप्रातीप्य को प्रदर्शित करने का तीसरा अवसर भरतरामसंमिलन है। पुर के नरनारियों समेत भरत जंगल में राम के दर्शन को जा रहे हैं। लक्ष्मण ने दूर से देखा और मन में समझा कि भरत राम को वन में भी चैन नहीं लेने देना चाहते और इसलिये उनके संहार को दलबल सहित आ रहे हैं। वह कहता है—

विषयी जीव पाइ प्रभुताई। मूढ मोहबस होहिं जनाई॥
कुटिल कुबन्धु कुअवसर ताकी। जानि राम बनबास एकाकी॥
करि कुमन्त्र मन साजि समाजू। आए करइ अकण्टक राजू॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आए दल बटोरि दोउ भाई॥

इतना कह लक्ष्मण जटा संभाल धनुष बाण ले आगे दौड़ा ही चाहता है कि राम उसे रोक लेते हैं और—

तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई। गगन मगन मकु मेघहि मिलई॥
गोपद जल बूड़हि घटजोनी। सहज छमा बरु छांड़ई छोनी॥
मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमद भरतहिं भाई॥
भरतहंस रविबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुनदोष विभागा॥

कह कर अपनी अक्षोभ्यता तथा अटूट भ्रातृप्रेम का परिचय देते हैं।

रामके यह वचन उस भरतके लिये हैं जिसके निमित्त उन्हें १४ वर्ष का वनवास भोगना पड़रहा है। यह दैविक भ्रातृप्रेम, यह अलौकिक दाक्षिण्य, यह लोकोत्तर आदर्शवाद राम के अतिरिक्त और कहां मिल सकता है?

इस प्रकार तीनों अवसरों पर तुलसी ने घटनाओं की मर्म-

स्पर्शिता तथा राम और लक्ष्मण के मनःप्रातीप्य को दिखा राम के अगाध गाम्भीर्य तथा उसकी लोकोत्तर सुजनता का अनोखा अभिनय किया है।

दूसरा प्रसिद्ध संवाद मन्थरा और केकई का है। राम को राजतिलक होता *देख मन्थरा चेरी की छाती का सांप जाग उठता है और वह अनमनी हो केकैई की बगल में खड़ी हो जाती है। उसकी विमनस्क मुद्रा को देख केकई शङ्कित हो हंसी में पूछती है—

मन्थरा केकई संवाद

कैकेई—

(हंसि कह रानि) गाल बड़ तोरे। दीन्ह लषन सिख अस मन मोरे॥

(मन्थरा नागिन की भाँति लम्बे साँस छोड़ती है)

मन्थरा—

कत सिख देइ हमहिं कोउ माई। गाल करब केहि कर वल पाई॥
रामहिं छाड़ि कुसल केहि आजू। जिन्हहिं जनेस देइ जुवराजू॥
भयउ कौसिलहि विधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उन नाहिन॥
देखहु कस न जाइ सब सोभा। जो अलोकि मोर मन छोभा॥
पूतु बिदेस न सोचु तुम्हारे। जानतिहहु वस नाहु हमारे॥
नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप कपट चतुराई॥

कैकेई—(अलग होकर)

पुनि अस कबहुँ कहसि घर फोरी। तब धरि जीभ कढावहुँ तोरी॥

सुदिन सुमङ्गल दायकु सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥
†रामतिलक जौं सांचेउ काली। देउं मांगु मन भावत आली॥

---

* चेरीद्वारा ईर्ष्योद्बोधन की इस चातुरी का Othello के तृतीय अङ्क में आने वाले Iago के कपट चातुर्य के साथ सांमुख्य करो।

† कैकेई की पुनीतता पर ध्यान दीजिये। राम के तिलक की बात सत्य निकलने पर वह मन्थरा को मुंह मांगा पारितोषिक देने की प्रतिज्ञा

कौसल्यासम सब महतारी । रामहिं सहज सुभाय पियारी ॥
मो पर करहिं सनेहु बिसेखी । मैं करि प्रीति परीछा देखी ॥
जा बिधि जनमु देइ करि छोहू । होहिं रामसिय पूत पतोहू ॥
प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरे । तिन्ह के तिलक छोभ कस तोरे ॥

मन्थरा—

एकहिं बार आस सब पूजी । अब कछु कहब जीभ कर दूजी ॥
* फोरइ जोग कपारु अभागा । भलेउ कहत दुख रउरेहिं लागा ॥
कहहिं झूठि फुरि बात बनाई । ते पिय तुम्हहिं करुइ मैं माई ॥
हमहुँ कहब अब ठकुर सोहाती । नाहिं त मौन रहब दिनराती ॥
करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा । बवा सो लूनिय लहिय जो दीन्हा ॥
कोउ नृप होय हमहुँ का हानी । चेरि छांड अब होब कि रानी ॥
जारइ जोगु सुभाउ हमारा । अनभल देखि न जाय तुम्हारा ॥
तो तें कछुक बात अनुसारी । छमिय देबि बड़ चूक हमारी ॥

(कैकेई के मन में शंका होगई).

कैकेई—

मन्थरा ! दुखी मत हो । तेरे दुर्भाग्य में मेरी सहानुभूति है ।

करती है । कोशल्या के साथ भी उसका अगाध प्रेम है । परन्तु क्षण भर में यह सब बदल जाता है और कैकेई राम को वनवास देने पर उतारू हो जाती है । वह मन्थरा से कहती है—

जौं विधि पुरब मनोरथ काली । करउं तोहि चषपूतरि आली ।
जस कौसिला मोर भल ताका । तस फल उन्हहिं देउं करि साका ॥

स्त्री के चरित्र की चंचलता का कैसा अपूर्व दृश्य है ?

* तुलना करो Iago के इस प्रगल्भ वचन के साथ—

I confess it is my nature's plague
To spy into abuses, and oft my jealousy
Shapes faults that are not.............

अपने मन की बात प्रगट कह ।

मन्थरा—

तुम्ह पूछहुँ मैं कहत डराऊं । धरेउ मोर घरफोरी नाऊं ॥

कैकेई-(अ.प ही आप)

काने खोरे कूबरे प्रायः कुटिल और कुचाली होते हैं । फिर यह तो स्त्री है । इसकी बातों पर कान दूं या न दूं ।

मन्थरा—

रहा प्रथम अब ते दिन बीते । समउ फिरे रिपु होहिं पिरीते ।
जर तुम्हारि चह सवति उखारी । रूंधहु करि उपाय बरवारी ॥
तुम्हहु न सोचु सोहाग बल, निज बस जानहु राउ ।
मन मलीन मुहुँ मीठु नृपु, राउर सरल सुभाउ ॥
चतुर गंभीर राम महतारी । बीचु पाइ निज बाति संवारी ॥
* पठये भरतु भूप ननिअउरे । राम मातुमत जानब रउरे ॥
राजहिं तुम्ह पर प्रेम बिसेखी । सवति सुभाउ सकइ नहीं देखी ।
रचि प्रपञ्चु भूपहि अपनाई । राम तिलक हित लगन धराई ।
यह कुल उचित राम कहुँ टीका । सबहि सुहाइ मोहि सुठ नीका ।
†आगिल बात समुझि डर मोही । देउ दैव फिरि सो फल होई ।

(केकई का सन्देह दृढ हो गया । उसकी छाती में सापत्न्य का धुआँ ऐंठने लगा।)

---

* सापत्न्य के दाह को उद्दीप्त करके मन्थरा भरत के ननिहाल जाने की बात को किस प्रकार तूल दे रही है । Desdemona के खोये रूमाल का Iago ने कैसा प्राणान्तकारी उपयोग किया था ? Othello अङ्क ४ ।

† स्त्रियों की विसंवादी चित्तवृत्ति का कैसा सुन्दर निरूपण है ? आगे की बात का नाम न ले मन्थरा केकई के हृदय को संदेह और उत्सुकता के तुङ्ग पर नचाना चाहती है ।

केकई—

(मन्थरा को शपथ खिलाकर) मन्थरा सच कह ! क्या यह सब बातें ऐसी ही हैं ? क्या सचमुच कौशल्या मुझ से जल कर यह प्रपञ्च रच रही है । अरी कौशल्या ! तू अपने किये का फल भोगेगी ? तुझे सापत्न्य का दारुण प्याला पीना पड़ेगा !

मन्थरा—

का पूछहु तुम्ह अबहु न जाना । निजहित अनहित पसु पहचाना ।
जौं असत्य कछु कहव बनाई । तौ बिधि देइहि हमहिं सजाई ।

रामहिं तिलक कालि जौं भयऊ । तुम्ह कहुँ बिपति बीजु बिधि बयऊ ।
† रेख खंचाइ कहउं बलभाखी । भामिनि भइहु दूध कइ माखी ।

जौं सुत सहित करहुँ सेवकाई । तौ घर रहहु न आन उपाई ।
कद्रू बिनतहि दीन्ह दुःख, तुम्हहिं कौसिला देव ।
भरत बन्दिगृह सेइहहिं, लषनु राम के नेव ।

मन्थरा की बात को सुन केकई सहम गई, वह पसीने में तर हो गई और कोप में कदलीदल की नाँई काँपने लगी)

केकई—

*सुनु मन्थरा बात फुरि तोरी । दहिनी आँख नित फरकति मोरी ।
दिन दिन देखहुँ राति कुसपने । कहहुँ न तोहि मोहवस अपने ।

---

† स्त्री की दृष्टि में रेख खींच कर बात कहने में कितना बल है ?

* दाहिनी आंख फड़कने और कुसपने देखने की बात ने अभिनय में जान डाल दी है और अबलाओं के संशयोन्मुख निर्बल हृदय का अनोखा चित्र खींच दिया है । अपशकुन और कुसपने वास्तव में केकई के संतप्त मस्तक के वाष्पमात्र हैं । इनके यथार्थ होने पर भी केकई इन्हें मन्थरा की नारकीय मन्त्रणा से बचने के लिये दैविक संकेत समझ सकती थी, परन्तु अभिशापापहत अबला ने इस समय इनका विपरीत आशय निकाला ।

काह करउ सखि सूध सुभाऊ। दाहिन वाम न जानउं काऊ।
नैहर जनम भरवु वरु जाई। जियत न करव सवति सेवकाई।
अरिवस दैव जियावत जाही। मरनु नीक तेहि जीवन चाही।

(केकई के वचन सुन कुबरी ने स्त्रियों की माया का जाल बिछाना आरम्भ कर दिया)

मन्थरा—

अस कस कहउ मानि मन ऊना। सुख सोभाग तुम कहं दिन दूना।
जेइ राउल अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यह फलु परिपाका।
जब तें कुमत सुना मैं स्वामिनि। भूख न वासर नींद न जामिन।
†पूछेहुँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खांची। भरत भुआल होइ यह सांची।

राज्याभिषेक से पूर्व राम और सीता के अङ्ग फड़कते हैं। राम के अनुसार ये भरतागमन के सूचक हैं—

भये वहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी।
भरत सरिप प्रिय को जग मांही। इहहिं सगुन फल दूसर नांही।

तुलसी ने जान बूझकर यह सगुन दिखाए और उन्हें भरत के आगमन का सूचक बताया, क्योंकि आगे चल कर उन्हें भरत ही की माता के मुंह 'दहिनि आंख नित फरकति मेरी' इत्यादि कहलाना, और भरत के ननिहाल गमन में राम की कदर्य प्रवृत्ति उद्भावित कर भरत को गद्दी पर बिठाना और राम को जंगल में पठाना था। इस सूक्ष्म मनोविज्ञान को चतुर अभिनेता ही समझ सकते हैं।

† सगुन को सगुन द्वारा दृढ करने में और भवितव्यता के द्वारा भरत के यौवराज्य का प्रस्ताव कराने में तुलसी ने कमाल कर दिया है। अंधविश्वास के उस युग में, विशेषतः स्त्रियों की दृष्टि में सगुन से बड़ा और कोई प्रमाण नहीं माना जाता था। Shakespeare भी मानव जगत् के उत्थान और पतन में भाग्य अथवा Destiny का प्रमुख हाथ देखता है। Iliad के Trojan युद्ध में Zeus ही सब कुछ कराता है। प्राचीनकालीन धर्म तथा साहित्य का चरम परिपाक 'दैव' में था।

भामिनि करहु त कहहुँ उपाऊ । हैं तुम्हरी सेवावस राऊ ।

(केकई मन्थरा को अपना सच्चा मित्र समझ उस पर सर्वस्व न्यौछावर करने को उद्यत होजाती है)

केकई—

परउं कूप तव बचन पर, सकउं पूतपति त्यागि ।

कहसि मोर दुख देखि बड़, कस न करब हित लागि ॥

(मन्थरा घास चरते हुए बलिपशु के समान मृत्यु के मुख में जाती हुई केकई को सान्त्वना देती है)

मन्थरा—

दुइ बरदान भूप सन थाती । मांगहुँ आज जुड़ावहु छाती ।
सुतहिं राज रामहिं बनबासू । देहु लेहु सब सवति हुलासू ।
भूपति राम सपथ जब करई । तब मांगहु जेहि बचन न टरई ।

केकई—

(मन्थरा को धन्यवाद देती हुई)

तोहि सम हितु न मोर संसारा । बहे जातकर भइसि अधारा ।
जौं विधि पुरब मनोरथ काली । करहुँ तोहि चषपूतरि आली ।

इत्यादि शब्दों में मन्थरा को छाती से लगाती हुई कोपभवन में चली जाती है और वहां सौत से बदला लेने, दशरथ को मारने, और राम को वन में पठाने के लिये नृशंसता की भैरव शक्तियों से (Lady Macbeth के शब्दों में) इस प्रकार सहायता मांगती है—

*The raven himself is hoarse
That croaks the fatal entrance of 'Dasharatha'
Under my battlements. Come, you spirits

* Macbeth प्रथम अङ्क दृश्य ५.

That tend on mortal thoughts, unsex me
here.
And fill me from the crown to the toe
topfull.
Of direst cruelty. Make thick my blood;
Stop up the excess and passage to remorse,
That no compunctious visitings of nature
Shake my fell purpose, nor keep peace
between
The effect and it! Come to my woman's
breasts,
And take my milk for gall, you murdering
ministers,
Wherever in your sightless substances
You wait on nature's mischief! इत्यादि.

और यहां मन्थरा कैकेई संवाद समाप्त होजाता है।

कैकेई कोप भवन में चली गई। 'वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी' दशरथ से उसकी निढाल दशा न देखी गई। उसने कैकेई को उठा छाती लगा लिया। रेशम के इस तकिये में व्याल था, गरल की शीशी थी। दशरथ प्रेमावेश में आ कैकेई की चाटुकारिता में प्रवृत्त हो गया।

कैकेई दशरथ संवाद

दशरथ—

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा
कहु केहि रंकहिं करउं नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासउं देसू।
सकउं तोर अरि अमरउं मारी। काह कीट बपुरे नरनारी।
जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मन तव आनन्द चन्द चकोरू।

विहंसि मागु मनभावति बाता। भूषन सजहि मनोहर गाता।

(मतिमन्द केकई हंस कर उठी और भूषणों को संभालती हुई राजा को कटाक्षों से देखने लगी)

दशरथ—

भामिनि भयउ तोर मन भावा। घर घर नगर अनन्द बधावा।
रामहिं देउं कालि जुवराजू। सजहि सुलोचनि मङ्गल साजू।

(केकई का कठोर हृदय दलक उठा। उस ने विषाद और व्यंग का हास्य किया)

केकई—(हंस कर)

मांगु मांगु पै कहहु पिय, कबहुँ न देहु न लेहु।
देन कहेहु वरदान दुई, तेउ पावत संदेहू॥

दशरथ—(केकई को मनाता हुआ)

थाती राखि न मांगेहु काऊ। बिसरि गयउ मोंहि भोर सुभाऊ।
झूठेहु हमहिं दोष जनि देहू। दुइ कै चारि मांगि किन लेहू।
रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु पर वचन न जाई।
तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई।

केकई (हंस कर)

सुनहुँ प्रानप्रिय भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका।
मांगहु दूसर वर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी।
तापस बेषि विसेषि उदासी। चौदह बरिस राम बनबासी।

(दशरथ पर बिजली गिर गई, वह सहम गया, उसने हाथों से आंखें मूंद लीं।)

केकई—(रिस कर)

देन कहेउ अब जनि वर देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू।
सत्य सराहि कहेहु वरु देना। जानहु लेइहि मांगि चबेना।

(दशरथ के घाव पर लौन पड़ गया)

दशरथ—(छाती को थाम विनय के साथ)

मोरे भरत राम दुइ आंखी । सत्य कहहुँ करि संकर साखी ।
अवसि दूत मैं पठवहुँ प्राता । ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता ।
सुदिन सोधि सब साजू सजाई । देउं भरत कहं राजु बजाई ।
एकहि बात मोंहि दुख लागा । बर दूसर असमंजस मांगा ।
अजहूँ हृदय जरत तेहि आंचा । रिस परिहास कि सांचेहु सांचा ।
समुझि देखु जिय प्रिया प्रवीना । जीवन रामदरस आधीना ।

(केकई के क्रोध की ज्वाला तमक उठी)

केकई—(जलती हुई)

कहहि करहु किन कोटि उपाया । इहां न लागिहि राउरि माया ।
देहु कि लेहु अजस करि नाहीं । मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं ।
जसि कौसिला मोर भल ताका । तस फल उन्हहिं देउं करि साका ।

(दशरथ के सिर पर मृत्यु नाच गई, वह गन्धकित दवाग्नि की ज्वालाओं में घिर गया)

दशरथ—(केकई के पांव पकड़ कर)

*मांगु माथ अबहीं देउ तोही । राम विरह जनि मारसि मोही ।
राखु राम कहं जेहि तेहि भांती । नाहिं त जरिहि जनम भरि छाती ।

(दशरथ का कण्ठ सूख गया, उसकी छाती धुएं से अंट गई)

---

* प्रतिज्ञाभङ्गभय का कैसा रुचिर उदाहरण है ? दशरथ भी King Lear की नांई केकई को कोस सकता था—

Hear, nature, hear; dear Goddess hear!
Into her womb convey sterility!
Dry up in her the organs of increase;
.....................if she must teem,
Create her child of spleen!
All the stored vengeance of heaven fall
On her ingratefull top!

परन्तु नहीं । वह मृत्यु का सामना करता है और प्रतिज्ञा को पालता

केकई—

जौं अन्तहं अस करतब रहेऊ। मांगु मांगु तुम केहि वल कहेऊ।
दुइ कि होइ इक समय भुआला। हसब उठाइ फुलाउब गाला।
दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइ कि षेम कुसल रउराई।
छाड़हु वचन कि धीरज धरहू। जनि अवला जिमि करुना करहू।
तनु तिय धाम धनु अरु धरनी। सत्यसन्ध कहं तृनसम वरनी।

(तीक्ष्ण तानों पर सत्यसन्धता के उपदेश ने दशरथ को गन्धकित अग्नि में भून दिया, उसे नरक की तरल अग्नि में फेंक दिया)

दशरथ—(निराश होकर)

सो सब मोर पाप परिनामू। भयहु कुठाहर जेहि बिधि वामू।

है। वह कैकेई को भला बुरा नहीं कहता, वह उसे वर देने पर पछताता भी नहीं, वह राजनैतिक परिस्थिति के बिगड़ने अथवा सुधरने का बहाना भी नहीं करता। वह तो शान्ति के साथ प्रतिज्ञा को पालता है और सापत्न्य की बलिवेदी पर अपना बलिदान दे देता है। इस उदात्त आदर्श के संमुख King Lear के मुंह से निकलने वाली गालियां कदर्य प्रतीत होती हैं, क्योंकि उनका एक मात्र कारण था—

It is not in thee
To grudge my pleasures, to cut off my
train.
To bandy hasty words, to scant my sizes
And in conclusion to oppose the bolt
Against my coming in.

ऐसे दृश्य तो कलियुगी गृहस्थ में प्रतिदिन होते रहते हैं। इन पार्थिव ऋद्धियों की हानि में इतना क्षुब्ध हो उठना Shakespeare जैसे आशावादी को शोभा नहीं देता। अणुमात्र भौतिक हानि लाभों पर जीवन के विषय में यह कह बैठना—

A tale told by an idiot, full of sound and

तोर कलङ्क मोर पछिताऊ। मुयहु न मिटिहि न जाइहि काऊ।
जब लगि जियउं कहउं कर जोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी
फिर पछितैहसि अन्त अभागी। मारसि गाइ नहारुहि लागि।

इतना कह दशरथ मूर्छित हो जाता है और प्रेम तथा सत्य-सन्धता के हृदयङ्कप संग्राम में घुलने लगता है। इसके पश्चात् रामचन्द्र जी आते हैं और 'श्रान्त चेष्टाओं' की यह दारुण कथा क्रोध, तथा शोक, शील तथा विनय, भक्ति तथा दाक्षिण्य आदि सभी प्रकार के भावों का एक गहन समवाय बन जाती है। भावों के इस सङ्घर्ष में दशरथ, भरत, राम, सीता, लक्ष्मण कौसल्या आदि पर क्या बीती इसे पाठक रामायण में पढ सकते हैं। क्रोध तथा सन्ताप की इन तरल ज्वालाओं में राम, भरत और सीता प्रशामक का काम करते हैं, और निष्पाप जीवों को अनिवार्यरूपेण होने वाली नारकीय यन्त्रणाओं से उत्पन्न हुई जीवों की कान्दिशीकता और धार्मिक अनास्था को दूर करते हैं।

उपर्युक्त संवादों से तुलसी की प्रगल्भ अभिनयशक्ति, उनकी विलक्षण नाट्यकला, उनकी प्रत्युत्पन्न मति और उनका सूक्ष्म मनोविज्ञान स्पष्ट हो जाता है। तुलसी की रामायण संक्षेप में कवित्व से कमनीय, मौलिकता से उज्ज्वल, विशुद्ध रुचिपरायणता से मनोज्ञ, और सद्भावों से परिपूर्ण है। तुलसी एक साथ आदर्श कवि, उत्कृष्ट परिहासरसिक, उद्भट दार्शनिक, खरे समालोचक, और अप्रतिम अभिनेता थे।

---

fury signifying nothing.

कहां की दूरदर्शिता है? इन्हीं बातों को देख ऋषि Tolstoy शेक्सपियर के ऊपर 'Emptiness of his philosophy, तथा "Ready made morality" का आक्षेप करते हैं जो वास्तव में किसी सीमा तक सत्य है।

तुलसी का भाग्यवाद—

प्राचीन सभ्यता तथा धर्म में भाग्य का हाथ है

सब देशों की प्राचीन सभ्यता, धर्म तथा साहित्य में भाग्य का बहुत बड़ा हाथ है। प्राचीन काल के मनुष्य, भली हों या बुरी, सब प्रकारकी घटनाओं को भाग्य के सिर मंढ देते थे। आने वाली संपत्ति या विपत्ति के मौलिक कारण पर ध्यान न दे यह लोग एक ऐसी शक्ति की कल्पना करते थे जो अदृश्य है और जो मनुष्य को उसकी इच्छा के न होने पर भी इष्ट और अनिष्ट में प्रवृत्त करती रहती है। होमर के पात्र इस भाग्य के हाथ की कठपुतली हैं। वह देवताओं के समान शक्तिशाली होते हुए भी जीवन की स्थूल बातों में अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं और समझते हैं कि यह सब काम भाग्य अथवा Zeus उनसे करा रहा है। Hamlet अपने जीवन में होने वाले भावसंघर्ष का यह परिणाम निकाल कर—

> There's a divinity that shapes our ends,
> Rough-hew them how we will—

तुलसी भाग्य में भरोसा रखता है

—किंकर्तव्यविमूढ बन जाता है और मन ही मन घुलता रहता है। Shakespeare के पात्र भी भाग्य के हाथ की कठपुतली थे।

तुलसीदास भाग्यवाद में विश्वास करता है। परशुराम लक्ष्मण पर पार न बसाता देख भाग्य को कोसता है—

> बहइ न हाथ दहई रिस छाती, भा कुठार कुण्ठित नृपघाती।
> भयउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ, मोर हृदय किरपा कसि काऊ।

केकई दशरथ से राम के वनवास और भरत के यौवराज्य का वर माँगती है। दशरथ रोता है और भाग्य को कोसता है—

> सो सब मोर पाप परिनामू। भयउ कुठाहर जेहि बिधि बामू।

दशरथ की मृत्यु हो जाती है, राम वन को चले जाते हैं।

भरत रोता है और भाग्य को कोसता है—

मोर अभाग मात कुटिलाई। बिधिगति विषम काल कठिनाई।
सपनेहु दोष कलेस न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू।
बिनु समुझे निज अघ परिपाकू। जारिउं जाय जननि कहि काहू।

आपत्ति पड़ने पर विश्वामित्र, दशरथ, भरत तथा माताएं भाग्य को रोती हैं। ये सब भाग्य को अनिवार्य समझते हैं और श्रान्त हो उसके संमुख अपना मस्तक झुका देते हैं। परन्तु आगे चल कर तुलसीदास जी कहते हैं—

जद्यपि सम नहिं राम न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू।
करम प्रधान विश्व कर राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा।
कोसल्या कह दोस न काहू। करम बिवस दुख सुख छति लाहू।
कठिन करम गति जान विधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता।

अर्थात् सब प्रकार के फलों का देने वाला विधाता शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार मनुष्य को फल देता है। दो तीन दोहे छोड़ आगे तुलसी कहते हैं—

जासु ज्ञान रवि भवनिसि नासा। बचन किरन मुनि कमल विकासा।
तेहि कि मोह ममता नियराई। यह सियराम सनेह बड़ाई।

अर्थात् फल देने वाले विधाता के यथार्थ ज्ञान से भवबन्धन टूट जाते हैं और—

'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

के अनुसार भव अथवा शारीरिक सत्ता को प्रवाहित करने वाले कर्मस्रोत सूख जाते हैं। फलतः तुलसीदास

अनुकम्पा अथवा Divine Grace

भाग्य अथवा प्राक्तन कर्मों को अमिट तथा कठिन मानता हुआ भी फल और फल के भोक्ता मनुष्यों की नियन्त्रणा करने

वाले विधाता की अनुकम्पा द्वारा कर्मों का नाश मान भाग्य तथा जीवन्मुक्ति का सामंजस्य प्रदर्शित करता है ।

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'

के अनुसार प्रारब्ध कर्म नष्ट न भी हों तो भी कुछ आपत्ति नहीं, क्योंकि जीवन्मुक्ति के पश्चात् इन कर्मों का एक मात्र ध्येय मनुष्य शरीर को बनाए रखना होता है। जिस प्रकार बिना किसी उद्देश्य-विशेष के समीर चलता है, सरिता छलछलाती है, और प्रसून हंसते हैं उसी प्रकार जीवन्मुक्त योगी भी निष्काम हो स्वभावसिद्ध कर्मों को करता है और उनके फलों में नहीं फंसता ।

ब्रह्मण्याध्याय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ गीता

दशरथ और राम का प्रातीप्य

परन्तु इस दशा की प्राप्ति के लिये एकान्त परमात्मनिष्ठा और तज्जन्य अनुकम्पा अथवा (Divine Grace) की आवश्यकता है। वह दशरथ आदि मोहग्रस्त जीवों में इतनी नहीं थी जितनी कि जीवन्मुक्त में होनी चाहिये । फलतः जहाँ राम दारुण विपत्तियों में भी फूल के समान खिले रहते हैं, नियतिनिशा के ध्वान्त में भी क्षपाकर की भांति हंसते रहते हैं वहां दशरथ आदि मोहीजीव नियति की सामान्य कुञ्चितों से हताश हो कर्तव्याकर्तव्य को भूल जाते हैं ।

रामायण में भाग्य तथा कर्मयोग की दो धाराएं साथ साथ बहती हैं

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामायण के अन्तस्तल में भाग्य तथा निष्काम कर्म की दो प्रतीप धाराएं साथ साथ बह रही हैं। दशरथ तथा कैकेई आदि पात्र भाग्य की संकुचित धारा में बहते हैं और राम तथा सीता निष्काम कर्म

की लोकोत्तर धारा में बहते हैं। भाग्य साकाँक्ष तथा निष्काम कर्म के, परिमित तथा अपरिमित सत्ता के, प्रातीप्य तथा विवर्तो का संप्रदर्शन कर दिखा दोनों का रामरूप चरमसत्ता में, समन्वय करना ही रामायण का अन्तिम ध्येय है।

रामायणान्तर्गत भाग्य की धारा में क्षोभविक्षोभ होते हैं, उस पर बहने वाले जीवकाष्ठ परस्पर मिलते हैं, बिछुड़ जाते हैं, उनमें धारा का सांमुख्य करने की, प्राक्तन कर्मों का विरोध करने की शक्ति नहीं। वे असहाय वन घनान्धकार की उत्तान तरंगों को, तरलदावा की प्रोद्वर्तित ज्वालाओं को सहते रहते हैं, और उनमें शलभ की भांति आत्मसात् हो जाते हैं। दूसरी ओर निष्काम कर्म योगी ज्ञान का बन्द लगा कर्म की तटिनी को रोक देते हैं, और उससे स्वाभाविक ध्येयों की सिद्धि कराते हुए शनैः शनैः प्रसन्नता के साथ अनन्त में रम जाते हैं। परिमितता तथा अपरिमितता के इस प्रातीप्य का रामायण में लोकोत्तर निदर्शन है।

दूसरी ओर Iliad तथा Hamlet आदि में सत्ता का केवल परिमित पहलू दिखाया गया है। उनमें एक मात्र भाग्य की धारा का, साकांक्ष कर्म का, अथवा परिमित सत्ता का संप्रदर्शन कराया गया है। इन काव्यों में भाग्य के साथ युद्ध करके शीर्ण हुए नायकों के संमुख निष्कामकर्म का अथवा जीवन्मुक्ति का सान्त्वनाप्रद दृश्य नहीं रक्खा गया। फलतः जीवन के एक मात्र श्रान्त पहलू की व्याख्या करनेके कारण उपर्युक्त काव्य अपूर्ण तथा एकदेशीय हैं।

रामायण तथा Iliad के भाग्यवाद में भेद है

उपर्युक्त परिणाम Iliad के मौलिक आधार की विवेचना से स्पष्ट हो जाता है। Iliad की कथा का मौलिक आधार उसमें आने वाले नायकों का पारस्परिक युद्ध है। Iliad के मौलिक आधार को प्रोफेसर Moulton इस प्रकार दिखाता है—

MOTIVE STRUCTURE OF ILIAD*
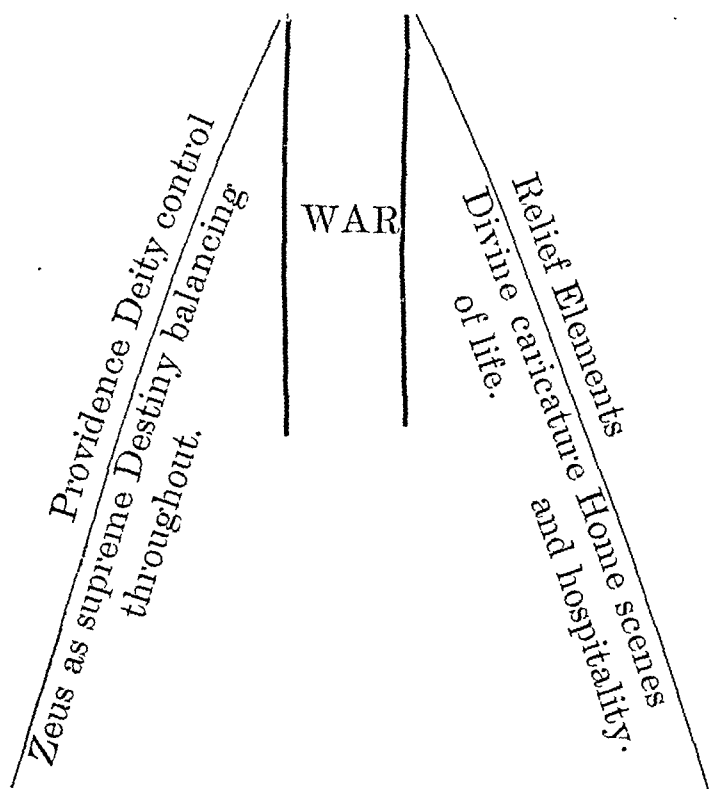
Underlying interests of Epic Civilisation and External Nature.

Iliad आदि का जीवन व्याख्यान ऐकदेशीय है

सत्ता के चरम आदर्श को न समझ पाश्चात्य कविता जीवन की 'भ्रान्ति' अथवा युद्ध को ही अपना ध्येय मानती रही है। उसने उपनिषद् के 'सत्यं शान्तंशिवंसुन्दरम्' सन्त्र को नहीं पढ़ा। पार्थिव चेष्टाओं में रत रहने के कारण उसे 'ममात्र

---

* प्रोफेसर Moulton रचित World Literature पृष्ठ ११६।

भावैकरसं मनः स्थितम्' (कुमार सम्भव) सोचने या कहने का अवकाश ही नहीं मिलता। वह भाग्य की अनियमितरूपेण नाचने वाली ज्वालाओं को देख कान्दिशीक बन गई है। ज्ञानजन्य आनन्द की सुरभित वृष्टि से इन ज्वालाओं को शान्त करना उसने नहीं सीखा। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य कविता अभी जीवन के समन्वयात्मक दर्शन तक नहीं पहुँची है।

तुलसी का मौलिक आधार शान्ति है

इसके विपरीत तुलसी की कथा का मौलिक आधार विरति, शान्ति तथा निर्वाण है। यही सत्य है और यही अमृत है। इसी को व्यक्त करना साहित्य तथा कलाओं का प्रमुख लक्ष्य है। रुद्ररूप पार्थिव जीवन को सत्य के रूप में, और उसके द्वारा अमृत रूप में परिणत कर देना ही चैतन्य का चरम ध्येय है। इस ध्येय की प्राप्ति के रागात्मक उपायों को जनता के संमुख रखना ही साहित्य है। यही संगीत है और इसे ही चित्रकला कहते हैं।

तुलसी की लोकोत्तर कविता

तुलसी ने सत्ता के गभीर समुद्र में खड़े हो कर आचार की नैत्यिकता को रामायण के रूप में खचित कर दिया है। उसने भाग्य की ज्वलन्त मरुस्थली में खड़े हो वहां के शस्यावृत चिन्हों को निष्काम कर्म योग के अमृत से सींच दिया है। मिश्र की नीरव मरुस्थलियों में खड़े पीरामिड वहां की गभीर निर्जनता में समवेदना का संचार कर वहां के प्राणियों को सान्त्वना देते हैं। इसी प्रकार तुलसी का राम और उसकी सीता दुर्विलसित दैवसमुद्र की छाती पर निष्काम कर्म योग की सर्चलाइट फेंक उसे सुषमित बना रहे हैं, सुन्दर बना रहे हैं और अमरत्व में परिणत कर रहे हैं। सत्ता के इन रहस्यों का जैसा व्याख्यान तुलसी ने किया है वैसा संसार में आज तक किसी कवि ने नहीं किया।

इस प्रकार संक्षेप में हम ने देख लिया कि जीवन के अनन्त

पथ पर लगे हुए अगणित कोसों में से जिस कोस पर पाश्चात्य कविता की यात्रा समाप्त होती है वहां से तुलसीरचित रामायण की यात्रा प्रारंभ होती है।

तुलसी का प्राकृतिक वर्णन यथार्थ है—

रामायण में प्रतिभा और तथ्य का तादात्म्य है

रामायण का प्राकृतिक वर्णन मनोरम होते हुए भी यथार्थ है। उसमें चित्रकारिता, कविता तथा प्रकृति-विज्ञान का लोकोत्तर चमत्कार है। वह स्वाभाविक है, और प्रसाद तथा माधुर्य गुण से ओतप्रोत है। उस में प्रतिभा तथा तथ्य का अभूतपूर्व तादात्म्य है। उदाहरण के लिये—

(क) इहां कुम्हड़बतिया कोउ नाहीं। जो तरजनी देखि डरि जाहीं।

बालकाण्ड

बररै बालक एकु सुभाऊ। इन्हहिं न सन्त विदूषहिं काहू।
देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गंव तकहिं लेहु केहि भांति।
लखइ न रानि निकट दुख कैसे। चरइ हरिततृन बलि पसु जैसे।
चलइ जोंक जिमि बक्रगति। जद्यपि सलिल समान।
अस मन गुनइ राउ नहीं बोला। पीपरपात सरिस मन डोला।
धरम सनेह उभयमति घेरी। भइ गति सांप छछुन्दर केरी।
तलफत विषय मोह मन माथा। मांजा मनहु मीन कहं व्यापा।
देव पितर सब तुम्हहिं गोसांई। राखहु नयन पलक की नांई।

अयोध्याकाण्ड

उपर्युक्त वर्णन में कविता और तथ्य का एक साथ निदर्शन है। इस प्रकार के उदाहरणों से रामायण भरी पड़ी है। रामायण पढते समय प्रकृतिवर्णन को पुस्तक के हाशिये पर नोट करते जाइये, समाप्ति पर आप को प्रकृति के सूक्ष्म स्पन्दनों की विलक्षण सूची मिल जायगी। प्रकृति वर्णन की यथार्थता के लिये महाकवि Tennyson की यह कविता प्रसिद्ध है—

*The working bee in blossom dust
Blenched with his mill.

यह पद्य कवि की प्रतिभा तथा सूक्ष्म दृष्टि का उत्कृष्ट उदाहरण है। परन्तु तुलसी की पहली (क) चौपाई इस विषय में Tennyson को कोसों पीछे छोड़ देती है।

भारतीय कवियों के प्राकृतिक वर्णन में कथांश लुप्त हो जाता है

पौरस्त्य तथा पाश्चात्य सभी कवियों के लिये प्रकृति का वर्णन करना आवश्यक है। भारतीय काव्य के तो एक प्रकार से प्राण ही प्रकृतिवर्णन में हैं। पर्वत, नदी, चन्द्र, तथा ऋतु आदि के विस्तृत वर्णन के बिना उसे शान्ति नहीं मिलती। कभी कभी तो वह प्रकृति की ऐन्द्रियता के निरूपण में मस्त हो अपनी कथा तक को भूल जाता है।

कालिदास के पश्चात् मौलिकता का तिरोभाव

कालिदास के साथ भारत की मौलिकता कूच कर गई थी। श्रीहर्ष के साथ भारत की धार्मिक तथा राजनैतिक एकता का लोप हो गया था। कालिदास तथा हर्ष के पश्चात् कई सदियों तक भारत का साहित्यगगन चन्द्रविहीन रहा। यों तो इसमें अब भी अगणित तारे टिमटिमाते रहे, परन्तु उनसे विभावरी का मुख उज्ज्वल न हो सका। इनके प्रस्फुरण में 'अनन्त' का आलोक न था, आत्मा की सुषमा न थी, चेष्टा का श्रान्त स्मित न था।

---

*'Everywhere indeed the observation of the scientist is glorified by the sensibility of the artist, the stark fact is clad in lovely imagery. He exhibits the exactitude of the botanist as well as the vision of the poet.' History of English Literature by Compton Rickett पृष्ठ ४३१.

साहित्यगगन में तुलसी ने चन्द्रमा का काम किया। तान्त्रिकता आदि से उत्पन्न हुई आचाररिक्तता को पूरा करते हुए उसने जीवन को फिर से पूर्ण बनाया और अपनी लोकोत्तर प्रतिभा तथा कविता के द्वारा उसे संसार के संमुख रक्खा।

तुलसी के साथ मौलिकता का पुनर्जन्म

कथांश को भुला प्रकृति वर्णन में ही काव्य का परिपाक कर देना एक प्रकार का दोष है। यह दोष थोड़ा बहुत सभी भाषाओं के वर्णनात्मक काव्यों में पाया जाता है। परन्तु तुलसी की रामायण इस दोष से सुतरां स्वतन्त्र है। प्रकृतिचित्रण के प्रकरणों की रामायण में न्यूनता नहीं है। परन्तु इन प्रकरणों में कवि का ध्येय यातो प्रकृति के नीरव स्पन्दन को मनुष्य के संमुख रखना है अथवा प्रकृति के प्रगाढ वैराग्य की मनुष्य की लालसा और ललक के साथ तुलना करना है। प्राकृतिक उत्सव के वर्णन में कवि पहले आदर्श को ध्यान में रखता है और संतापचित्रण के समय दूसरे को।

तुलसीके प्राकृतिक वर्णन की दो धाराएं।

वर्षा विगत शरद ऋतु आई, सुधि न तात सीता की पाई।

इत्यादि प्रकरण में वर्षा के रुचिर हास्य का राम के मिषित मनो विषादके साथ प्रातीप्य खींचा गया है। उक्त वर्णन का प्रत्येक शब्द सांकेतिक है, और धूलि के चेतन कण को उस की अकिंचनता दिखाने के लिये शून्य किरण (X ray) है। रामचन्द्र की असहाय अवस्था को पढ हमें रुस्तम की अकिंचनता याद आ जाती है—

And Rustam and his son were left alone
But the majestic river flowed on,

---

† नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः।   इत्यादि.
काव्यादर्श

Out of the mist and hum of that lowland,
Into the frosty starlight, and there moved,
Rejoicing, through the hushed Chorasmean
waste,
Under the solitary moon............ इत्यादि।

खोरास्मियन मरुभूमि के मेचकित प्रदोप में रुस्तम अपने हाथों मारे अपने प्रियपुत्र सोहराव पर आंसू बहा रहा है, और मोदमिलनोत्सुक नदी उसके अकाण्ड स्वप्नोच्छेद पर कटाक्ष करती हुई पतिदेव के अभिसार को जा रही है। रुस्तम के शोक और नदी के स्नेहोन्माद पर चन्द्रमा हंस रहा है, तारे हंस रहे हैं, विभावरी अपने अगणित नेत्रों को खोल सकाम चेष्टा को असारता पर ताने मार रही है। ठीक इसी प्रकार का प्रकृतिनिदर्शन राम और सीता के विलाप में बार बार आता है।

लछमन समझाए बहु भांती, पूछत चले लता तरु पाती।

इत्यादि में कवि राम को प्रेमोन्माद में कान्दिशीक बना इधर उधर भटकाता है, और उस के विलापों की कसक का लता और पत्तों के प्रमोदनृत्य से प्रातीप्य दिखाता है।

दूसरी ओर रामायण में ऐसे भी अनेक प्रकरण हैं जहां प्रकृति मनुष्य के हर्ष में हर्ष मनाती और उसके उत्सवों में सोलह शृङ्गार सजती है। रामसीतापरिणय आदि प्रकरणों में ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहाँ मनुष्य और प्रकृति के आत्मा एक हो विश्व के अनन्त नाटक में समुचित भाग लेते हैं।

प्रकृति वर्णन के यह प्रकरण काव्य के प्राण हैं। इन में जीवन की रुचिर आभा छिटकी हुई है, इन के बिना काव्य बिन मोतियों का हार है। काव्य की सत्ता के लिये इनका होना आवश्यक है

वास्तव में दोष प्रकृति के उस वर्णन को कहा जाता है जो कविता के यथार्थ ध्येय को दबा काव्य पर अपना अधिकार जमा

ले, जैसा कि माघ आदि कवियों के काव्यों में पाया जाता है। रामायण इस दोष से सुतरां स्वतन्त्र है।

मौरिस तथा तुलसी के प्रकृतिवर्णन समान हैं

रामायण के प्रकृति वर्णन की किसी अंश में विलियम मौरिस के प्रकृति वर्णन के साथ तुलना की जा सकती है। इनकी शैली निराली है और आधुनिक युग के कवियों को अपने पीछे चला रही है। इस में प्रकृति को घटनाओं का आधार (back ground) मानकर उस पर विभिन्न घटनाओं का चित्रण किया जाता है। मानव जगत् के प्रत्येक स्पन्दन के साथ प्रकृति में परिवर्तन होता है, अथवा यों कहिये कि मूक जगत वाङ्मय जगत के प्रत्येक शब्द में स्पन्दन द्वारा अपनी हां मिलाता है। प्रकृति के इस पर्यवेक्षण में विलियम मौरिस ने कमाल हासिल किया है। एक प्रकार से उन्होंने 'Ruskin की Pathetic fallacy' को कार्मुकता का रूप दे दिया है। ऐतिहासिक ऐक्य की दृष्टि से यही शैली रुचिर है और इसी का दिनों दिन अभिनय भी हो रहा है।

रामायण के समुद्रबंधन आदि प्रकरणों में इसी बात की ओर संकेत किया गया है। वह सब प्रकरण जहां कि रामायण के पात्रों का प्राकृतिक शक्तियों के साथ प्रातीप्य दिखाया गया है इसी बात की ओर संकेत करते हैं। परन्तु ऐसे प्रकरण कम हैं, और जितने हैं भी उन में भी इस बात की ओर संकेतमात्र है, अभिव्यञ्जना नहीं। तुलसी साधारणतया उदाहरण और उपमाओं के द्वारा प्रकृति के हृदय को टटोलता है। ऋतुवर्णन आदि के विषय में दी गई उपमाएं कल्पनाशक्ति के पुनीत उद्गार हैं और सत्य की विनीत वीचियां। तुलसी की उपमाओं का स्रोत प्रकृति है। वह प्रकृति के मौन में सत्य के अविरल नाद को सुनता है और उसी में से अपनी सारंगी के लिये कुछ टेक पकड़ लेता है।

इस विषय में उसका Iliad के साथ ऐक्य है। दोनों के उदाहरण तथा उपमाएं प्रकृति से लिये गए हैं और कस कर ठीक ठौर पर बैठाए गए हैं। दोनों की उपमाओं में प्रकृति की विशद आभा है, और उसकी मूक शक्तियों का साक्षात्कार है। दोनों काव्य विरोधी भावों के प्रातीप्य को दिखाने में सिद्धहस्त हैं, और दोनों ही प्रतीयमान भेद में अभेद का आभास उद्भावित कर देते हैं। लक्ष्मण का इन्द्रजित् के साथ तुमुल संग्राम हो रहा है। आकाश का हृदय फट गया, उसमें से शोणित के अगणित फौआरे बरस रहे हैं।

प्रकृति से उपमा छांट उनके द्वारा जीवन का व्याख्यान करने में Iliad तथा रामायण समान हैं

शनैः शनैः क्षिति और अम्बर का विवेक मिट गया। तुलसीदास आते हैं और—

सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारइ भुवन चारि दस आसू।
सक संग्राम जीति को ताहीं। सेवहिं सुरनर अग जग जाहीं।

कहकर ब्रह्मांण्ड को प्रसन्न तथा रुचिर बना देते हैं। यह मन्त्र, यह जादूगरी, प्रतिभा की यह आश्चर्यकारी व्यापकता रामायण में अश्रुतपूर्व है। सीता स्वयंवर के समय एकत्र हुए सहस्रों नरेशों में से किसी से भी शिवधनुप को उठता न देख जनक ने—

तुलसी की व्यापकता अश्रुतपूर्व है

अब जनि कोउ भाखइ भटमानी। बीर विहीन मही मैं जानी।
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न विधि वैदेहि विवाहू।

कहकर मही को क्षत्रशून्य बना रघुकुल का तिरस्कार कर दिया लक्ष्मण के रदपट फड़क गये। बादल में चपला कुदक गई। लक्ष्मण बोले—

सुनहु भानु कुल पङ्कज भानू। कहउं सुभाव न कछु अभिमानू।
जो तुम्हार अनुसासन पावउं। कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊं।

कांचे घट जिमि डारउं फोरी। सकुउं मेरु मूलक इव तोरी।
कमल नाल जिमि चाप चढावउं। जोजन सत प्रमान ले धावउं।

कन्दुक की भांति ब्रह्माण्ड के महद्दण्ड को उठाकर लक्ष्मण को सन्तोष न हुआ, क्योंकि विशाल कन्दुक के फेंकने में बल के लेश की आवश्यकता पड़ती है। वह आवेश में तमक कर आगे बढता है और कांचे घट की भांति ब्रह्माण्ड को ठोकर से फोड़ता है और मूली की भांति सुमेरु को हाथ से उखाड़ता है। तुलसी आवेश में उतावला हो एक के पश्चात् दूसरी उपमा प्रस्तुत करता है और जब तक 'अनन्त' के अपार अण्ड को कांचा घड़ा, सुमेरु को मूली, और उनके द्वारा शिव-धनु को कमलनाल नहीं सिद्ध कर लेता तब तक शान्त नहीं होता। विश्वकवि आवेश के व्यापक विस्तार में बाह्य जगत् को करतला-मलक बना नायक की अदम्य लोकोत्तरता को सिद्ध किया करते हैं।

विश्व कवि आवेश के व्यापक प्रसार में बाह्य जगत् को करतलामलक बना नायक की अदम्य लोकोत्तरता को सिद्ध करते हैं

राम सीता और लक्ष्मण वन में कुटी के आङ्गन में बैठे कथा कर रहे हैं। दूर से शब्द सुनाई दिया। सन्ध्या के सुनहले आंचल को धूल ने भर दिया। शनैः शनैः मनुष्यों की अस्फुट आकृतियां दीखने लगीं। होते होते भरत की पहचान हो गई। लक्ष्मण के मन में शङ्का हो गई। उसने समझा भरत राम को जङ्गल में भी जीते नहीं देखना चाहता। वह कहता है—

विषयी जीव पाइ प्रभुताई। मूढ मोह बस होहिं जनाई।
कुटिल कुबन्धु कुअवसर ताकी। जानि राम बनबास एकाकी।
करि कुमन्त्र मन साजि समाजू। आये करइ अकण्टक राजू।
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आये दल बटोरि दोउ भाई।

इतना कह जटा झाड़, हाथ में धनुप बाण संभाल लक्ष्मण आगे बढा ही चाहता था कि राम ने उसे रोका और कहा—

तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई। गगन मगन मकु मेघहि मिलई।

गोपद जल बूड़हि घट जोनी। सहज छमा वरु छाँड़इ छोनी।
मसक फूंक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमद भरतहिं भाई।

अर्थात् भरत का भ्रातृप्रेम अस्खलित है। उसमें परिवर्तन असंभव है। यहां भी तुलसी भरत के भ्रातृप्रेम की मन्द्रता तथा शाश्वतता को गहन तथा अविचल बनाने के लिये भास्कर से तिमिर उगलवाते हैं, गोपदजल में घटयोनि को डुवाते हैं, मही की क्षमता को क्षीण करते हैं, और अन्तमें अभीष्ट की लोकोत्तरता को समुद्भावित करने के लिये मच्छर की फूंक से मेरु को उड़वाते हैं। कवित्व की इन कलाओं से रामायण भरी पड़ी है।

ओफीलिया की मृत्यु पर समुज्जृम्भित हुए Hamlet के शोकावेग की उत्तुङ्ग तीव्रता को दिखाने के लिये Shakespeare विश्व के असंभव जात को संभावना का आभास दे उसकी व्यापक तीव्रता को सकुंचित करते हैं। यह वर्णन इस प्रकार है—

Hamlet.

I loved Ophelia : Forty thousand brothers
Could not, with all their quantity of love,
Make up my sum . What wilt thou do
for her ?
'Swounds, show me what
thou'lt do:
Woo't weep ? Woo't fight ? Woo't fast ?
Woo't tear thyself ?
Woo't drink up eisel ? eat a crocodile?
I'll do it. Dost thou come here to whine ?
To outface me with leaping in her grave ?
Be buried quick with her, and so will I :
And if thou prate of mountains, let them
throw

Millions of acres on us, till our ground,
Singeing his pate against the burning
zone,
Make Ossa like a wart! Nay an thou'lt
mouth,
I'll rant as well as thou.

इस विषय में तुलसी और shakespeare समान हैं

हैमलेट प्रेमावेश में आओफोलिया के लिये रोकर,लड़कर, और अनशन करके ही सन्तुष्ट नहीं होता, वह शीघ्रता के साथ प्रेमसाधना के नवीन उपाय सोचता है और उतावला बन गरल पीता है, घड़ियाल को हड़पता है, और पर्वतों की कौम्भकर्णिक शिलाओं के नीचे दबने के लिये प्रस्तुत हो जाता है। यहां कविसम्राट् ने प्रस्तुत भाव की लोकोत्तर तीव्रता को सिद्ध करने के लिये असंभव वस्तुओं की भैरवता को सकुंचित कर दिया है और उसके द्वारा स्थायी भाव को शतगुण करके हैमलेट की प्रचण्ड अग्नि में Laertes को शलभ बना दिया है। रसों का लोकोत्तर परिपाक करने में तुलसी और शेक्सपियर संसार में अपने जैसे आप हैं।

Homer के विरुद्ध तुलसी में ऐसा एक भी प्रकरण नहीं जिसमें उपमाओं का भावयोग सूचक उपयोग न हो

हां ! ऊपर रामायण की Iliad के साथ तुलना चल रही थी। तुलसी और Homer दोनों ही मनुष्य की शक्ति का विश्वशक्ति के साथ सांमुख्य करके उसके आकार प्रकार को शतगुण कर देते हैं। परन्तु Iliad में आप को ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जहां दूर तक उपमा का नाम नहीं और कवि शीघ्रता के साथ अपनी कथा को आगे बढाता जा रहा है। दूसरी ओर रामायण में ऐसा एक भी प्रकरण नहीं अथवा ऐसी कोई भी बीस

पंक्तियां नहीं जिनमें एक न एक उपमा न आई हो।

'घन घमण्ड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन मन डरपत मोरा ॥
दामिनि दमकि रही घन मांही। खल की प्रीति यथा थिर नांही ॥
बरसहिं जलद भूमि नियराए। जथा नवहिं बुध विद्या पाए ॥
बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन सन्त सहं जैसे ॥
छुद्र नदी भरि चलि उतराई। जस थोरेहु धन खल बौराई ॥
भूमि परत भा डाबर पानी। जनु जीवहिं माया लपटानी ॥
सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सद्गुण सज्जन पहं आवा ॥
सरिता जल जलनिधि महु जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई ॥
दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई। वेद पढ़हिं जनु वटु समुदाई ॥
नव पल्लव भये विटप अनेका। साधक मन जस मिले विवेका ॥
अर्क जवास पात विनु भयऊ। जस सुराज खल उद्यम गयऊ ॥

किष्किन्धाकाण्ड

आदि प्रकरणों में तो तुलसी ने भावयोगपूर्ण उपमाओं के प्रसन्न हार ही गूंथ दिये हैं। इन उपमाओं में एक भी उपमा अभिव्यञ्जना से शून्य नहीं है। प्रत्येक में भावयोग की आभा है, मोदामोद का समन्वय है, जीवन के चरम आदर्श की सुषमा है। प्रत्येक उपमा कथा को आगे वढ़ा रही है, रामचरित के मानसरोवर में वीचि का काम कर रही है।

तुलसी की प्रत्येक उपमा अभिव्यञ्जनाओं से परिपूर्ण है।

तुलसी की उपमाएं अभिव्यञ्जक हैं

नीचे लिखी चौपाइयां रामायण में से अकस्मात् ले ली गई हैं। इन में से प्रत्येक की सूक्ष्म सांकेतकता तथा भावयोग पर ध्यान दीजिये—

नींदहु वदन सोह सुठि लोना। मनहु सांझ सरसीरुह सोना ॥

वालकाण्ड

शयनोन्मुख राम का मुखमण्डल मुख नहीं, मानों सन्ध्या समय का लाल कमल है, अर्थात् सांझ होने से कमल संपुटित हो गया है । तुलसी ने कितने थोड़े शब्दों में सौन्दर्य की लोकोत्तर सुषमा को चीत लिया है । सीजर मरा पड़ा है । राजविद्रोही Antony को घेरे खड़े हैं । सीजर के विषय में दो शब्द कहने से पहले Antony सीजर के प्रेत से कहता है—

इस विषय में तुलसी और shakespeare समान हैं

O, parden me, *thou bleeding*
Piece of earth.
That I am meek and gentle with these
butchers!
Thou art the ruins of the noblest man
That ever lived in the *tide of times.*

समय के मिटते पदचिन्हों पर पड़े चेतन शोणित कर्दम की क्षणिक सुषमा का इतने थोड़े शब्दों में ऐसा सुन्दर वर्णन शेक्सपियर के अतिरिक्त और कहां मिल सकता है ?

भरत राम के संमुख अपने लोकोत्तर दाक्षिण्य का परिचय देते हैं । राम '*भैयउ न भुवन भरत सम भाई*' कह कर चुप हैं । परन्तु वसिष्ठ मुनि भरत की ईश्वरीय गरिमा को देख स्तब्ध होगए हैं—

भरत महामहिमा जलरासी । मुनि मति ठाडि तीर अबला सी ।
अउर करहि को भरत बडाई । सर सीपी की सिन्धु समाई ।

अरण्यकाण्ड

भरत के लोकोत्तर 'अनुभाव' का इस से गंभीर और क्या वर्णन हो सकता है ? रामचन्द्र शिवधनुष को तोड़ने जा रहे हैं । सीता का मन शंकित है—

प्रभुहि चितइ पुनि चितइ मही । राजत लोचन लोल ।
खेलत मनसिज मीन जुग । जनु विधुमण्डल डोल ॥

रसन=जिसमें रस अर्थात् कुछ नहीं, शून्य=०
रस=६
दसन गौरीनंद=गणेशजी का दांत एक है=१

संवत् निकालने की रीति से ७०६१ को पलट देने से संवत १६०७ विक्रमी आता है। संवत् १६०७ में से ६७ वर्ष निकाल देने पर इनका जन्मकाल संवत् १५४० सिद्ध होता है।

वंश परिचय

महात्मा सूरदास रचित दृष्टिकूटक (Emblematic Verses) पदों पर टीका लिखने वाले सरदार कवि ने छन्द न० ११० में कविवंश का वर्णन करते हुए सूरदास को जगत्वंशी बताया है। महाकवि चन्दवरदाई इसी वंश में हुए थे। चन्दवरदाई जाति के भाट थे। इसी वंश में हरिचन्द नाम का ख्यातनामा कवि हुआ था। इसके ७ पुत्र थे। कनिष्ट पुत्रका नाम सूरजचन्द था। यही सूरजचंद सूरदास के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके ६ बड़े भाई आगरे में वादशाह से युद्ध कर स्वर्गवासी हो गए और यह अन्धा होने के कारण एक कुए में गिर गया, जहां से ७ वें दिन स्वयं भगवान् ने इसका उद्धार किया। श्री वियोगी हरि जी ने छन्द में आने वाले 'प्रबलदच्छिन विप्रकुल' पदसे मरहठों का आशय निकाल और उस समय मरहठों का होना असंभव समझ सरदार कवि की सब वातों को मिथ्या प्रमाणित करने का साहस किया है। किन्तु सरदार कवि के विरोध में किसी प्रबल प्रमाण के मिले बिना उसके वर्णन को निराधार बता अस्वीकार कर देना अदूरदर्शिता है।

पूज्यपाद वियोगी हरि जी अपने कथन की पुष्टि में कवि मियांसिंह रचित 'भक्त विनोद' के निम्नलिखित उद्धरण को प्रस्तुत करते हैं—

'श्रीकृष्ण भगवान् के वरदान के अनुसार एक ब्रजकेलि दर्शनोन्मत्त यादव ने मथुरा प्रान्त में एक दरिद्र ब्राह्मणकुल में

अवतार लिया । यह जन्मान्ध था ।'

उक्त उद्धरण के प्रारंभिक शब्द ही इसकी कपोलकल्पितता को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं । 'श्रीकृष्ण भगवान् के वरदान के अनुसार एक यादव ने अवतार लिया ।' हां ! लिया होगा मियांसिंह की कविता में, और उसके मस्तिष्क में ! स्वयं श्रीकृष्ण के अवतार के बाद और किसी अवतार की व्रज को तो आवश्यकता थी नहीं !

गुसाईं गोकुलनाथ रचित सूर की जीवनी

श्री गुसाईं विलट्ठनाथ जी के पुत्र गुसाईं गोकुलनाथ जी सूरदास के समकालीन बताए जाते हैं । उनकी रची 'चौरासी वार्ता-नामक पुस्तक में सूरदास के जीवन पर भग्न प्रकाश डाला गया है । आप लिखते हैं—

सूरदासजी गऊघाट पर, जो मथुरा और आगरा के बीच में है, रहते थे । एक समय श्री आचार्य महाप्रभु अडैल से जाते हुए गऊघाट पर उतरे । सूरदासजी के किसी सेवक ने इनको महाप्रभु जी के आगमन की सूचना दी । सूरदास श्री आचार्य के दर्शनार्थ वहां गए । इनको देख आचार्य जी परम प्रसन्न हुए और कुछ भगवत्कीर्तन करने को कहा । इस पर सूरदास जी ने यह पद गाया—

हौं हरि, सब पतितन को नायक ।
को करि सकै बराबरि मेरी, इते मान को लायक ॥
जो तुम अजामेल सों कीनी, सो पाती लिख पाऊं ।
होय विस्वास भयो जिय अपने, औरहुं पतित बुलाऊं ॥

इत्यादि.

दीनतासिक्त पदों को सुन श्रीमहाप्रभुजी को दया आ गई और कृपा कर उन्होंने सूरदास जी को भगवान् की अशेष लीला का भेद बता दिया । श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध की 'सुबोधिनी' नामक टीका के मङ्गलाचरण का यह श्लोक, श्री आचार्य ने सूर-

दास को सुनाया--

नमामि हृदये शेषं, लीलाक्षीराब्धिशायिनम् ।
लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम् ॥

यह श्लोक सुन सूरदास जी को परमानन्द प्राप्त हुआ और उन्होंने उसी समय श्री महाप्रभु जी के आगे यह अमर पद गाया—

चकई री, चलि चरन सरोवर, जहां न प्रेम वियोग ।
जहं भ्रमनिसा होत नहिं कबहूं, वह सागर सुख जोग ॥
जहां सनक से मीन हंस सिव, मुनिजन नखरवि प्रभा प्रकास ।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि डर, गुञ्जत निगम सुवास ॥
जिहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल, सुकृत अमृत रस पीजै ।
सो सर छांडि कुबुद्धि विहङ्गम, इहां कहा रहि कीजै ॥
लछमी सहित होत नित क्रीडा, सोभित सूरजदास ।
अब न सुहात विषयरस छीलर, वा समुद्र की आस ॥

इस पद से कैसा उत्कृष्ट भक्तिभाव तथा प्रणयोत्कण्ठा प्रकट होती है। सूरदास जी का मानसहंस उस दिव्य सरोवर को उड़ा ही चाहता है, जहां पहुँच किसी वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा नहीं रहती, जहां पहुँच कर भवबन्धन का भय नहीं रह जाता।

सूरदास जी को वल्लभाचार्यरचित सुबोधिनी का पूरा बोध हो गया और वह वात्सल्यरस में निमग्न हो गए । महाप्रभु जी सूरदास को अपने साथ गऊघाट से गोकुल को ले गए। गोकुल में भगवान् की बाललीला पर सूरदास ने सहस्रों पद गाये । व्रज-वासियों के अहोभाग्य पर भी आपने श्री महाप्रभु जी के संमुख यह पद गाया—

कौन सुकृत इन व्रजवासिन को ।

इस पद में सूरदास ने वल्लभकुल के भगवदीयमार्ग की पराकाष्ठा का बड़ा ही उत्तम वर्णन किया था जिस पर प्रसन्न हो महा-

प्रभु ने इन्हें अपना शिष्य बना लिया । सूरदास जी एक स्थान पर लिखते हैं--

श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो ।

एक बार दिल्लीश्वर अकबर ने इन्हें अपने दरबार में आमन्त्रित कर इनसे अपना यश गाने के लिये कहा । इस पर सूरदास ने उपेक्षा भाव से यह पद गाया—

मना रे, तू करि माधव सों प्रीति ।
काम क्रोध मद लोभ मोह तू, छांडि सबै विपरीति ॥

इत्यादि

इस पद में वैराग्य, सन्त महिमा, भागवतधर्म तथा धनाधिकारियों के प्रति उपेक्षा का उत्कृष्ट चित्र खींचा गया है । अकबर के दुबारा प्रार्थना करने पर आपने यह पद गाया--

नाहिं न रह्यौ मन में ठौर ।
नन्दनन्दन अछत उर में, आनिये कस और ॥
चलत चितवत दिवस जागत, सुपन सोवत राति ॥
हृदय तें वह मदन मूरति, छिनु न इत उत जाति ॥
कहत कथा अनेक ऊधो, लोभ दिखाय दिखाय ।
कहा करौं चित प्रेमपूरन-घट न बिन्दु समाय ॥

इत्यादि

इस पद को सुन सम्राट् अकबर को सन्तों के महत्त्व का अवबोध हो गया, और वे सूरदास के प्रेमी बन गए ।

चौरासी वार्ता में लिखा है कि अन्त समय सूरदास जी 'पारासौली' नामक ग्राम में रहने लगे थे । इस समाचार को सुन विट्ठलनाथ जी शिष्यमण्डलसमेत वहां पहुँचे । इन्हीं दिनों गुसाईं जी भी घूमते घूमते उधर आ निकले । दोनों भक्तों के मिलने पर क्या दृश्य हुआ होगा ? सूर के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह रही थी । गुसांई जी के दर्शन पा आपने यह पद गाया-

बलि बहि बलि हो कुंवरि राधिका नन्द सुवन जासों रति मानी।
वै अति चतुर तुम चतुर सिरोमनि, प्रीति करी किमि होत है छानी॥
इत्यादि

सूरदास की इस लोकोत्तर भगवद्भक्ति पर गुसांई जी पुलकित हो उठे। एक वैष्णव के यह पूछने पर कि सूर! तुमने सवा लक्ष पद तो रचे परन्तु अपने गुरुदेव पर एक भी पंक्ति न लिखी सूरदास फूट फूट कर रोने लगे और प्रेम में गद्गद् हो यह गाने लगे—

भरोसो दृढ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ नखचन्द छटा बिनु, सब जग मांझ अंधेरो॥
साधन और नहीं या कलि में, जासों होत निबेरो।
सूर कहा कहि दुविध आंधरो, बिना मोल को चेरो॥

इस पद को गाते गाते सूरदास सुधबुध भूल गए। गुसांई जी ने उनकी यह दशा देख कर पूछा 'सूरदास! या समय तिहारी नेत्र की वृत्ति कहां है?' महात्मा सूर ने इस के उत्तर में यह पद गाते गाते गोलोकयात्रा की—

खञ्जन नैन रूप रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते॥
चलि चलि जात निकट स्रवनन के, उलटि पलटि ताटंक फंदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते॥

सूरदास जी की जीवनी का उपर्युक्त दिग्दर्शन चौरासीवार्ता के आधार पर कराया गया है जो समकालीन व्यक्तिरचित होने से बहुत कुछ सत्य है।

सूरदास के जन्मान्ध होने का उल्लेख भक्तमाल तथा चौरासीवार्ता में प्रत्यक्षरूपेण कहीं नहीं मिलता।

क्या सूरदास जन्मांध थे? परन्तु रीवांधिपति महाराज रघुराजसिंह अपनी 'रामरसिकावली' में और कवि मियासिंह अपने 'विनोद' में सूरदास को जन्मान्ध बताते हैं।

'जनमहि तें हैं नैनविहीना'

रामरसिकावली

वृद्धावस्था में सूरदास के अन्धा होने की बात से 'वार्ता' भी अप्रत्यक्षरूपेण सहमत है।

'भरोसो दृढ हरिचरन न केरो।

सूर कहा कहि दुविध आंधरो, बिना मोल को चेरो॥

से यह बात स्पष्ट हो जाती है। रही यह बात! कि 'सूरदास जन्म के अन्धे थे' इस विषय में संदेह है। रघुराजसिंह तथा मियांसिंह सूरदास के समकालीन न थे, इसलिये कथनमात्र से उनकी बात को प्रमाण नहीं माना जा सकता। संभव है इन लोगों ने सूरदास के बचपन में कुएं में गिर पड़ने वाली बात से सूर की जन्मान्धता का अनुमान किया हो। परन्तु सूर का अत्यन्त सूक्ष्म तथा तथ्य प्राकृतिक वर्णन इस अनुमान का प्रत्याख्यायक है। 'नखशिख' तथा 'गोपिका लगन' का प्रत्येक पद इस बात को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है कि सूर जन्मान्ध नहीं थे और उन्हों ने प्रकृति तथा मानवजगत् की गुह्य चेष्टाओं को वैज्ञानिक की दृष्टि से देखा था। संसार का कौन सा कवि या योगी बरसों के दैनिक परीक्षण के बिना पनिहारियों का निम्नलिखित वर्णन कर सकता है?—

नागरि गागरि लिये पनिघट तें घरहिं आवै।
ग्रीवा डोलत, लोचन लोलत, हरि के चितहिं चुरावै॥
ठठकति चलै, मटकि मुंह मोरे, बंकट भौंह चलावै।
मनहुँ काम सेना अङ्ग सोभा, अंचल ध्वज फहरावै॥

इत्यादि

अथच—

कहि न जाइ आनन की सोभा, रही विचारि विचारि॥
छीरोदक घंघट हातो करि, सन्मुख दियो उघारि।

मनो सुधाकर दुग्धसिन्धु तें, कढ्यो कलङ्क पखारि ।।
मुक्ता मांग सीस पर सोभित, राजति इहि आकारि ।
मानों उडुगन जानि नवल ससि, आये करन जुहारि ।।
भाल लाल सिन्दूर विन्दु पर, मृग मद दियो सुधारि ।
मनु वंधूक कुसुम ऊपर अलि, बैठो पंख पसारि ।।
चंचल नैन चहूँ दिसि चितवत, युग खंजन अनुहारि ।
मनहुँ परस्पर करत लराई, कीर मचाई रारि ।।

इत्यादि

सौन्दर्य के इस वर्णन को पढ़ कौन सहृदय इस बात को मान सकता है कि सूरदास जन्मान्ध थे अथवा उन्हों ने बड़े परिश्रम से कृत्रिम और अकृत्रिम सौन्दर्य का परीक्षण नहीं किया था ।

अब रही यह बात कि सूरदास अन्धे कब और क्यों हुए थे इसका निर्णय करना सुतरां असंभव है । परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सूरदास न तो किसी स्त्री पर ही मुग्ध हुए और नाहीं उन्हों ने किसी स्त्री के हाथों अपने आंखें फुड़वांई । कोई भी स्त्र , चाहे वह कैसी ही सत्यपरायणा क्यों न हो अपने प्रेमी के कथनमात्र से उसकी आंखों को नहीं फोड़ सकती । दूसरी बात यह है कि यदि कदाचित् प्रस्तुत घटना सत्य होती तो सूरदास अपनी रचना में उस पर संकेत किये विना कदापि न रहते । सूरदास जैसा निष्पाप आत्म-निवेदक, जो राधाकृष्ण के संमुख अपनी किसी भी शुभ या अशुभ प्रवृत्ति को प्रकट किये बिना नहीं मानता, ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना को जीभतले उतार जायगा इस बात की संभावना भी करना महात्मा सूरदास पर अमिट कलङ्क लगाना है । संसार में लक्षों नरनारी सुआंखे उत्पन्न होकर 'उत्तरावस्था' में प्रज्ञाचक्षु बन जाते हैं । इनमें से कितने भक्तों की आंखें प्रेमार्त अबलाओं ने फोड़ी हैं ?

एक स्थान पर गुसांई जी लिखते हैं—

'थापि गुसांई करी मेरी आठ मध्ये छाप'

अर्थात् श्री स्वामी विट्ठलनाथ जी ने मुझे अष्टछाप में थाप लिया। गोस्वामी जी का जन्म तथा मरण-काल संवत् १५७५ तथा १६४२ है। उक्त पद से स्पष्ट है कि श्रीमहाप्रभु जी के जीवन-काल में सूरदास की गणना 'अष्टछाप' में नहीं हुई थी। महाप्रभु जी १५८७ विक्रमी में गोलोकवासी हुए थे, उस समय उनके सुपुत्र (गुसांई जी) १५ वर्ष के थे। गोस्वामी जी का अभ्युदय काल सं० १६१० के पश्चात् है। इस समय इन्हों ने छीतस्वामी चतुर्भुज-दास तथा नन्ददास को अपना शिष्य बना लिया था। इसके पश्चात् इन्हों ने चार शिष्य अपने और चार श्रीमहाप्रभु जी के 'अष्टछाप' में संमिलित करने का विचार किया होगा। इस हिसाब से 'साहित्य लहरी' आदि की रचना के पश्चात् ही सूरदास जी का 'अष्टछाप' में थापित होना अनुमित होता है। इन बातों से अनुमान होता है कि महात्मा सूरदास ने ८० वर्ष की आयु अवश्यमेव पाई होगी अर्थात् इनका लीलासंवरण संवत् १६२० के लगभग हुआ होगा।

सूरदास की स्वर्गयात्रा

सूरदास के ग्रन्थ—

सूरदास ने निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे थे।

१. सूरसारावली २. सूरसागर ३. साहित्य लहरी	प्राप्य हैं
४. ब्याहलो ५. नलदमयन्ती	अप्राप्य हैं

अनुमान किया जाता है कि हाल में प्राप्त हुए पदसंग्रह, दशम-स्कन्ध टीका, और नागलीला नामके तीन ग्रन्थ भी इन्हीं ने रचे थे। परन्त इस बात की सत्यता के विषय में सन्देह है।

सूरदास ने श्रीमहाप्रभु जी के कहने पर भागवतपुराण का हिन्दी में अनुवाद आरंभ किया था। उस अनुवाद को देख आचार्य जी ने सूर को 'सागर' नाम से पुकारना आरंभ कर दिया था। इसी कारण आपने अपने प्रधान ग्रन्थ का नाम 'सूरसागर' रक्खा था। सूरसागर की पद्यसंख्या सवा लाख है। परन्तु दुर्भाग्यवश आज कल इस का दशमांश भी नहीं प्राप्त होता। सूरसागर के कई संस्करण निकल चुके हैं।

श्री वियोगी हरि जी के कथनानुसार इन सब में बम्बई से प्रकाशित हुआ संस्करण सन्तोषजनक है, यद्यपि इसे भी सर्वांशेन प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। इसमें बहुत से छन्द प्रक्षिप्त हैं, और कुछ भ्रष्ट तथा अशुद्ध भी हैं। इसका संपादन बा० राधाकृष्णदास ने किया था।

सूरसागर का विषय—

प्रथम और द्वितीय स्कन्ध दोनों स्कन्धों की रचना, दशमस्कन्ध को छोड़ शेष सब स्कन्धों से उत्कृष्ट, सरस तथा सारगर्भित है। इनमें ग्रन्थ का प्रयोजन, शुकदेव आगमन, परीक्षित की भक्तिजिज्ञासा, महाभारत का संक्षिप्त परिचय, भीष्म प्रतिज्ञा, द्रौपदी विनय, तथा चौबीस अवतारों की कथाओं का वर्णन है। भक्ति की व्याख्या पढ़ने योग्य है। वैराग्य, विवेक, तथा उपासना का वर्णन पढ़ते ही बनता है। दर्शनों का समन्वय भी स्वाध्याय के योग्य है। क्षणिक वैभव, मायाप्रपञ्च, शब्दब्रह्म की महिमा, तथा मनबुद्धिसंवाद का रूपक पढ़ने योग्य है।

तृतीय स्कन्ध इस स्कन्ध में उद्धवविदुरसंवाद, सनकादि का अवतार, वराहरूप, कपिलावतार, भक्ति प्रश्न, भक्तमहिमा, तथा देवहूति-मोक्ष पर पद लिखे गये हैं।

इस स्कन्ध की रचना पहले दो स्कन्धों की अपेक्षा शिथिल प्रतीत होती है। भक्ति का वर्णन पढ़ने योग्य है।

इस स्कन्ध में यज्ञपुरुष अवतार, पार्वती विवाह, प्रथु अवतार ध्रुववरदान, तथा पुरञ्जन आख्यान का वर्णन है। इसके छन्द अधिकतर चौपाइयों से मिलते जुलते हैं। पुरञ्जन आख्यान में भागवत के वर्णन का अनुसरण किया गया है।

चतुर्थ स्कन्ध

यह स्कन्ध छोटा है। इसमें ऋषभदेव अवतार, तथा जड भरत और रहूगणसंवाद का वर्णन है। रचना साधारण है।

पंचम स्कन्ध

इस स्कन्ध में अजामिल उद्धार, गुरुमहिमा तथा देवासुर संग्राम का वर्णन है। रचना सामान्य है।

षष्ठ स्कन्ध

इस स्कन्ध में नृसिंहावतार, शिवसहाय, और नारदोत्पत्ति का वर्णन किया गया है। रचना अच्छी है। भक्तवर प्रह्लाद के मुख से बालकों के प्रति भक्ति, ज्ञान, विवेक और वैराग्य का वर्णन पढ़ने योग्य है।

सप्तम स्कन्ध

इस स्कन्ध में गयन्दमोक्ष, समुद्रमथन, मोहिनी-रूप, और वामन एवं मत्स्यावतार की कथाएं लिखी गई हैं। रचना अच्छी है। आर्त गयन्द को ग्राह से छुड़ाते समय विष्णु का वर्णन सुन्दर है।

अष्टम स्कन्ध

मनोहरता, लालित्य एवं भावों की दृष्टि से यह स्कन्ध दसवें स्कन्ध से दूसरे नम्बर पर है। इसमें सूर्य तथा चन्द्रवंश की परंपरा का वर्णन किया गया है। सूर ने रामचरित का गान अत्यन्त ललित पदों में किया है। यद्यपि सूर राम और कृष्ण में किसी

नवम स्कन्ध

प्रकार का मौलिक भेद नहीं मानते थे तथापि वह कृष्णवर्णन की गरिमा को राम वर्णन में नहीं प्रतिफलित कर सके। इसी प्रकार तुलसी भी कृष्ण गीतावली में वह लोकोत्तर चमत्कार नहीं उत्पन्न कर सके जो उनकी रामगीतावली में दीख पड़ता है। सूर का उपास्यदेव शृङ्गारात्मा है, तुलसी का उपास्यदेव वीर्य तथा ऐश्वर्य की प्रतिमा। दोनों की कृतियों में भेद का प्रमुख कारण यही है। राम की वीरता का सूरदास उस खूबी से वर्णन नहीं कर सके जिससे कि उन्होंने राम के बाल्य का चित्रण किया है। वस्तुतः सूरदास जी के उपास्य भाव का केन्द्र अवतारों का बाल्य था न कि उनकी प्रौढा-वस्था। दूसरी ओर तुलसी का यथार्थ क्षेत्र प्रौढ गंभीरावस्था है न कि बाल्य। एक में सरलता है दूसरे में भावों का संघर्ष। राम के सिन्धु पार करने का दृश्य सूरसागर में पढ़ते ही बनता है—

सिन्धुतट उतरत राम उदार।
रोप विषम कीनो रघुनन्दन, सब विपरीत विचार॥
सागर पर गिरि, गिरि पर अंबर, कपि घन पर आकार।
गरज किलक आघात उठत मनु, दामिनि पावक झार॥
परत फिराइ पयोनिधि भीतर, सरिता उलटि बहाई।
मनु रघुपति भयभीत सिन्धु, पत्नी प्यौसार पठाई॥

मेघनाद को मारते समय लक्ष्मण की प्रतिज्ञा भी पढ़ने योग्य है—

रघुपति जौं न इन्द्रजित् मारौं।
तौ न होउं चरनन को चेरो, जो न प्रतिज्ञा पारौं॥
जो दृढ बात जानिये प्रभुजू, धर्म गये कहि बान निबारौं।
सपथ रामपद नाम तिहारे, खण्ड खण्ड करि डारौं॥
तबै सूर संधान सफल है, रिपु को सीस उपारौं॥

युद्ध-वर्णन भी साधारणतया अच्छा है।

वास्तव में देखा जाय तो दशमस्कन्ध ही का नाम सूरसागर

दशम स्कन्ध

है। इसमें सूरदास ने अपनी कवित्वशक्ति तथा लोकोत्तर प्रतिभा का अपूर्व कौशल दिखाया है। यह स्कन्ध इतना सरस, सारगर्भित, ललित एवं दार्शनिक है कि इसे पढ़ कर पिछले स्कन्धों की न्यूनताएं भूल जाती हैं और पाठक रसवत्ता के समीर में झूमने लगता है। इस स्कन्ध में भगवद्भक्ति, भावुकता तथा आत्मप्रसाद के गुण कूटकूट कर भरे हैं और पावन शृङ्गार का लोकोत्तर परिपाक प्रदर्शित किया गया है। वास्तव में शृङ्गार क्या वस्तु है यह बात इसी स्कन्ध में देखने को मिलती है। अश्लील शृङ्गार का वर्णन कवियों ने भरपेट किया है, परन्तु आत्मप्रसादोन्मुख शृङ्गार का सर्वाङ्गीण उत्थापन संसार के विरले ही कवियों ने किया है। शृङ्गार की कर्दम तथा कदर्यता में सहस्रों कविंमन्य विषयी लोटे हैं परन्तु उसे सरलता तथा आत्मप्रसाद के सुधाधौत आंचल पर खचित एवं प्रतिफलित करने वाले श्रेष्ठ कवि संसार में दो चार ही हुए हैं। आत्मिक विषाद के द्वारा शृङ्गार को निखारते निखारते उसका आनन्दरसमय चरमसत्ता के साथ पूर्ण तादात्म्य कर देने वाले योगी कवियों में सूर का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। उसने लीलामय भगवान् की सर्वश्रेष्ठ प्रतिमा बालक तथा अबला में, ईश की मौलिक उत्पादिका शक्ति सूक्ष्म शृङ्गार का प्रतिफलन करके भगवान् को भगवान् से मिलाया है, स्त्रीत्व को पुंस्त्व में मिलाया है, और कामार्त प्रकृति का साम्यावस्थारूप विशुद्ध ब्रह्म में लोकोत्तर समन्वय किया है। यह सब बातें सूरसागर के दशमस्कन्ध में बड़े ही सरस तथा सारगर्भित पदों द्वारा वर्णित की गई हैं। इस स्कन्ध में बाल्य तथा यौवन, सरलता तथा ऐन्द्रियता, रति तथा विरति, विलास तथा निरास सब कन्धे से कन्धा मिलाए उसी एक राजपथ पर चल रहे हैं, जो प्रणय रूप निर्वाण पर, तथा उपनिषदों के 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' पर पहुँचने का सरल एवं सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

सूरदास का कवित्व—

Poetry should be simple, sensuous and passionate. Milton.

सूर की कविता सरल है

सूरदास की कविता सरल है। उसमें जीवन के सरल तत्त्वों का मार्मिक चित्रण है । यहां बालक के विरल गीत को कवि के सरस शब्दों में प्रकट किया गया है। सूरदास अन्धे थे, उन्होंने संसार की रणस्थली में क्रियात्मक भाग न लिया था। उनकी आत्मा सरल थी, ऋजु था। जीवन में आने वाली चिन्ताओं से उन्हें घृणा थी। लौकिक ऐश्वर्य की दमक उन्होंने देखी न थी। फलतः उनकी दृष्टि में सरलता, दाक्षिण्य और उससे उत्पन्न होने वाली भगवद्भक्ति ही जीवन के सार थे।

सरलता में वाल्मीकि आदर्श थे

वाल्मीकि ने अपनी रामायण में राम का पुत्र रूप में, भ्रातृरूप में, पतिरूप में, मित्ररूप में, ब्राह्मणधर्म के रक्षक के रूप में और अन्त में राजा आदि के रूप में वर्णन करके जीवन की सरलता तथा मंजुलता का पेशल अभिनय किया था। उसके पश्चात् के जगत् में परिवर्तन हो गये, और वह किन्हीं कारणों से जीवन के उक्त सरल तत्त्वों को भुला उसकी कठोरता तथा विपयिता पर अधिक ध्यान देने लगा।

कालिदास की सरलता परिष्कृत थी, अलंकृत थी

भारत के कविसम्राट् कालिदास ने 'ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्' इत्यादि सरल शब्दों में पितृ-पुत्रभाव की नैसर्गिकता का अनोखा चित्र खींचा, परन्तु यह चित्र परिष्कृत था, कलाओं के आधार पर बना था। कालिदास के समय का भारत समृद्ध था, विशाल था, उसमें कलाकौशल का चमत्कार था, और विद्याओं का सर्वाङ्गीण विकास था। राजा प्रायः निरंकुश

थे, परन्तु सामान्यत: प्रजावर्ग सर्वाङ्गीण ऐश्वर्य के शिखर पर था। फलत: देश और जाति का वासना तथा विषयों की ओर अधिक झुकाव हो गया और वे जीवन के श्रेष्ठ सरल तत्त्वों को भुला कोरी ऐन्द्रियता में रम गये।

कालिदास के पश्चात् सरलता का तिरोधान

वर्ष बीते। शताब्दियां बीतीं। परिस्थिति बदली। देश में मुसलमान आये। विद्रोह हुए। संग्राम हुए। हिन्दुओं का स्वप्नसाम्राज्य ध्वस्त हुआ। वे लौकिक अभ्युदय से निराश हुए। इस निराशा में सर्वाङ्गीण भक्ति संप्रदायों का विकास हुआ। भक्त लोग परलोक के गीतों में इहलोक की श्रान्ति को दबाने लगे। उनके गीतों में विरति थी, सुनहले स्वप्न थे, भविष्य जीवन की आभा थी। कुछ लोग नैराश्य पूर्ण परिस्थिति से हतमना हो पहले की अपेक्षा कहीं अधिक कदर्य शृङ्गार में डूब गये और कविताकामिनी के नग्न शरीर की राजपथों पर छान-बीन करने लगे।

वाल्मीकि के पश्चात् किसी ने भी बाल्यसुषमा को नहीं परखा

वाल्मीकि के पश्चात् किसी भी कवि ने बालक के अस्फुट अधरों को नहीं परखा, उसके विरल गीतों को नहीं सुना, उसके धूलि-धूसरित देहप्रसून को नही पोंछा, उसको माटी खाने से नहीं हटाया। किसी माता ने अपने बच्चे को यह झिड़की नहीं दी—

इह सुनिकै रिस करि उठि धाई, बांह पकरि लै आई।
इक कर सों भुज गहि गाढ़े करि इक कर लीने सांटी॥
मारति हों तोंहि अबहिं कन्हैया, बेगि न उगलौ माटी॥सूर

हजारों वर्षों से रमणी पुत्र को भूल रही थी। आत्मज को छोड़ उसके देने वाले की पूजा कर रही थी। कविता कामिनी कान्ति के आगार, सुषमा के प्रसून, सरलता के धाम, और दाक्षिण्य के

उच्छ्वास बालक को भुला, विषय की ज्वालाओं में, वासना के कर्दम में, और विलास की मरुमरीचियों में दिन काट रही थी।

सूरदास ने उसका उद्धार किया और उसे इतिहास में दूसरी वार सरलता की प्रतिमा बालक के लालन पोषण में लगाया।

ईसा के पश्चात् यूरोप में सरलता का तिरोभाव

यूरोप में ईसा ने बालक की पूजा की थी। ईसा को हुए सैकड़ों वर्ष होगये। उसके उपदेश अरण्यरोदन हो गये। बालक को सब ने भुला दिया। बालक जन्मता है, बड़ा होता है, भावुक बनता है, विषयी हो जाता है। उसकी विषयलोलुपता का व्याख्यान मिलता है, उसके हृदयङ्कष जीवन-सग्रांस के सवाक् चित्र मिलते हैं, उसके वैराग्य की घटाओं के प्रतिरूप उतारे गए हैं, परन्तु उसकी मूक दैवी वृत्तियों का, उसके तुतलाते सरल आत्मा का, उसकी जीवन्मुक्त अनवरत चेष्टाओं का, उसके सुनहले स्वप्नसाम्राज्यों का रागात्मक चित्र कितने कवियों ने खींचा है? कितने कवियों ने उसके अस्फुटित सङ्कल्पों की कलियों को अपने अमर हारों में गूँथा है? कितने कलाकारों ने उसके फेनधवल मादक स्मित को बिल्लौर में केन्द्रित किया है? कितने प्रेमियों ने ग्रीष्म की चन्द्रिकाधौत रजनियों में, उषः काल के समय अपनी नवीन सृष्टि रचने वाले बालक को वैद्युतिक स्फूर्ति से कभी चन्द्रमा को पकड़ते और कभी पैर का अंगूठा चूसते देखा है? एकान्त में बैठा हुआ बालक या तो रोने लगेगा अथवा योगिमुद्रा में लीन हो नये नये संसार रचता और उनका संहार करता रहेगा। क्रिया-शक्ति की इस पराकाष्ठा को, विरतिमुद्रा की इस ऐकान्तिकता को, स्वप्नसाम्राज्य के इस अप्रतिरुद्ध विस्तार को कितने वैज्ञानिकों ने रागात्मकदृष्ट्या श्रान्त जनता के संमुख रक्खा है?

यह सब काम सूर ने किये हैं और सफलता से किये हैं। वह इस कला का पारदर्शी था, इन गुह्य विद्याओं का आचार्य था, इन

सूर की प्रमुख विशेषता स्वाभाविक स्पन्दनों का अविसंवादी मापक (meter) था। वह अन्धा था। सूरसागर लिखते समय उसकी अवस्था ६० वर्ष के लगभग थी परन्तु प्रतिभा उसकी अब भी बालक की थी, आत्मा उसका अब भी बालक का था, चेष्टा उसकी अब भी नवजात थीं।

कान्हा पर दही खाने का अभियोग

आज बालसभा की बैठक लगी हुई है। तिल धरने को जगह नहीं। गोपालबाल मस्त हो मनमानी कर रहे हैं। कान्हा पर दही चुराने का अपराध लगाया गया है। वह भांति भांति से उस का प्रत्याख्यान करता है। कोई नहीं सुनता। माता के पास अपील आती है। कान्हा तुतलाती बोली में कहता है—

मैया मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो॥
देखि तुही छींके पर भाजन ऊंचे घर लटकायो।
तुही निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायो॥
मुख दधि पोंछि कहत नंदनन्दन दोना पीठ दुरायो।
डारि सांट मुसकाइ तबहिं गहि सुत को कण्ठ लगायो॥

सूर की इस कविता में संसार के शिशु जात अपना मुंह देख रहे हैं। ओह! वह बच्चों का कान्हा के मुंह पर बरबस दही का लपेटना, वह उस का ऊंचे छींके को और अपने नन्हें करों को दिखाकर आंखों में मटर सी बूँद भरना, और माता के मुंह की ओर एक टक देख दोने को पीठ पीछे दुराना संसार के किस बच्चे को भूला है? किस बच्चे ने चोरी से दही खा मां बाप के सामने यह नहीं कहा कि उसकी बहिन या भाई ने बरबस मुंह पर छींटे मार दिये हैं! बालकों की स्वप्नमयी सृष्टि के इन मोतियों को सूर ने अपने अमर हार में गूंथा है और लोकोत्तर चातुर्य से

राखो मोहि नात जननी को, मदनगुपाल लाल मुख फेरो ॥
पाछे चढो विमान मनोहर, बहुरो जदुपति होत अंधेरो।
बिछुरत भेंट देहु ठाड़े ह्वै, निरखो घोष जनम को खेरो ॥
माधो सखा स्याम इन कहि कहि, अपने गाइ ग्वाल सब घेरो।
गये न प्रान सूर ता अवसर, नंद जतन करि रहे घनेरो ॥

सरलता में उद्दाम करुणा का अभ्युदय देखने योग्य है। सुधा-पूत अंबर में चपला कौंध गई। जीवन के छविकणों पर नियति-यन्त्री दौड़ गई। जननी का नाता, पिता की याद, ग्वालों का साथ, जन्म का खेड़ा कोई भी कान्हा की यात्रा को नहीं रोक सका। उसने एक सांस में 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी, पर लात मार दी।

रङ्ग में भङ्ग

कृष्ण मथुरा पहुँचे। कंस मारा गया। उग्रसेन मथुरा के राजा हुए। श्री कृष्ण प्रधान मन्त्री बने। नन्द विवश हो गोकुल लौट आये। व्रज में निराशा छा गई। गोपियों के कुंज खाली हो गए। जरासन्ध के उपद्रवों से तङ्ग आ कृष्ण मथुरा छोड़ द्वारिका जा बसे। क्षत पर लौन पड़ गया। गोपियां अनाथ होगईं। समस्त व्रजमण्डल विरह के धूम्र में कवलित हो गया। गोपियां रो पड़ीं—

नैना भये अनाथ हमारे।
मदन गुपाल वहां ते सजनी, सुनियत दूरि सिधारे ॥
वे जलसर हम मीन बापुरी, कैसे जिवहिं निनारे।
हम चातक चकोर स्याम घन, वदन सुधा निधि प्यारे ॥
मधुवन वसत आस दरसन की, जोइ नैन मग हारे।
सूरज स्याम करी पिय ऐसी, मृतकहुँ ते पुनि मारे ॥

कैसा करुण विलाप है? सुना है मदनगोपाल दूर जा बसे। कितना दर्द है, कैसी लोकोत्तर निराशा है? 'मृतकहुँ ते पुनि मारे' किसने? पिय ने! जलसरसी ने! घन ने! दैव का यह दारुण

विपाक ! स्निग्ध चुम्बन पर निष्ठुर वृश्चिकदंश ! निठुर है, कठोर है, मछलियों के लिये घड़ियाल बनना है !

उद्धव का आगमन

हां ! श्याम ने द्वारिका जाने से पहले उद्धव को गोपियों के पास भेजा था। किस लिये ? ताजे घाव पर नमक छिड़कने के लिये ! घाव करके उसकी गहराई नापने के लिये। परन्तु श्याम ! घाव वाला बेकरार है। उसका—

वह दिल नहीं रहा है न वह अब दिमाग है।
जी तन में अपने बुझता सा कोई चिराग है॥

तेरे नयन बदल गये, गोपियों का संसार फिर गया। उनके स्वर्णस्वप्न टूट गये, उनकी आशा रिंत गई, प्रेम की ज्योत्स्ना पर घटाएं छा गईं। श्याम ! यदि केवल दर्दे जिगर देखने के लिये मचलना था तो शिलाओं पर मस्त हुए होते ! उनमें दिल नहीं, उनमें प्रेम नहीं। उन्हें सन्ताप नहीं होता। ऊधो आते हैं और गोपियों को वैराग्य के गीत सुनाते हैं। गोपियां प्रेम के आवेश को न संभाल सकने के कारण रो पड़ती हैं—

प्रेमभिक्षा—

ऊधो। हमहि न योग सिखैये।
जेहि उपदेस मिलें हरि हमको सो व्रत नियम बतैये॥
मुक्ति रहौ घर बैठि आपने निरगुन सुन दुख पैये।
जिहि सिरि केस कुसुम भरि गूंदे, तेहि किमि भसम चढ़ैये॥
जानि जानि सब मगन भये हैं, आपुन आपु लखैये।
सूरदास प्रभु सुनत वा विधि, बहुरि कि या व्रज ऐये॥

सरलता और मञ्जुलता का कैसा स्फीत उद्गार है ? हमें योग नहीं सीखना, हमें तो वह व्रत बताओ जिसके सहारे हम अपने 'स्याम' को पा जांय ! कितनी एकान्त निष्ठा है ! कितना श्रान्त विलाप है ! कितना करुण क्रन्दन है !

स्नेह में योग का क्या काम—

ऊधो योग योग हम नाहीं !
अबला सार ज्ञान कहा जानै कैसे ध्यान धराहीं ॥
ते ये मूंदन नैन कहत है, हरि मूरति जा मांहीं।
ऐसी कथा कपट की मधुकर, हमतें सुनी न जाहीं ॥
श्रवन चीर अरु जटा बंधावहु, ये दुख कौन समाहीं।
चन्दन तजि अङ्ग भस्म बतावत, विरह अनल अति दाहीं ॥
जोगी भरमत जेहि लगि भूले, सो तो है अपु मांहीं।
सूरदास तें न्यारे न पल छिन, ज्यों घट ते परछाहीं ॥

विरह में विज्ञान का कैसा उत्कृष्ट उत्थान है ? प्रेम की वल्लरी और स्नेह की प्रतिमा स्त्री ज्ञान और योग को क्या समझे ? वह तो प्रेम की भूखी है। उसका काम है रोना, रोना, प्रेम भिक्षा के लिये हाथ पसार कर रोना। दिल की यह आग आंसुओं के जलासार के बिना ठण्डी नहीं होती। अबला चाहती है कि उसका प्रणयी बराबर अपनी आँसुओं से उसकी छाती को धोता रहे, उसके दिल की आग को बुझाता रहे। बस यही उसके जीवन की पराकाष्ठा है। यहीं उसके प्रेम की इति श्री है। चातक तमाम वर्ष प्यासा मरता है। क्यों ! क्या संसार में जल की कमी है ? क्या मानसरोवर सूख गये ? क्या सरिताएं उसके दिल की सुनहली ज्वालाओं में आत्मसात् होगई ? नहीं ! चातक का तो जीवन ही प्रेम करना है। उसकी सत्ता का सार ही एक मात्र प्रेम है, घन की ओर टकटकी लगाए देखते रहना है। लोग कहते हैं—

विषाद में विज्ञान

'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।'

यह ठीक है ! चातक के विषय में तथ्य है। अबला के विषय में ठीक है। गोपियां प्रेम की सान्द्रता में चातक को पीछे छोड़ गई हैं। उन्हें योग नहीं चाहिये, उन्हें अमरत्व की आकांक्षा नहीं, उन्हें

निर्गुण में समा निर्लेप तथा निरुपाधि बनने की भी लालसा नहीं। उनकी एक मात्र आशा, उनके जीवन का एक मात्र ध्येय श्याम में है, श्याम के वारुणीमय अधरों में है।

भ्रमर कहता है 'गोपियो! श्याम को भूल जाओ। संयम में आनन्द है।' ठीक है। अन्धाधिराज सूर! यह उपदेश भौंरे के सिवाय और किससे दिला सकते थे? उपदेश को सुन गोपियां तमक उठीं—

भौंरे को ताना—

मधुकर काके मीत भये।
दिवस चारि करि प्रीति सगाई, रस लै अनत गये॥
डहकत फिरत आपने स्वारथ, पाखण्ड अग्र दए।
चाउ सरै पहिचानत नाहिं न, प्रीतम करत नये॥
मुडउ बांटि मेलि बौराए, मन हरि हरि जु लए।
सूरदास प्रभु दूत धर्म ढिग, दुख के बीज बए॥

विषयी भौंरे! सरस फूलों पर न मण्डला। ये अबल हैं, निष्पाप हैं। तुम मनचले हो। वासना में रंगे हुए हो। रस चूस नये प्रीतम बना लेते हो। तुम्हारा प्रेम चपल है, घटा में विद्युत् का सिन्दूर है। हमारा तुम्हारा क्या साथ? स्मृति और विस्मृति का कैसा सहयोग? जाओ! हमें अपने गीत गाने दो। मधुकर! यह दिल टूटे खण्डहर हैं, इनका नर्मसंगी दूर है। इनके तार खंडित हैं। जाओ! हमें टूटे हार गूँथने दो, बिखरी कलियां चुनने दो। इन कलियों में अग्नि है। मधुकर! इनमें अलात हैं और विद्युत् है। इन्हें न छूना। यह फट गईं तो काला अंबर दहक उठेगा, श्याम की छाती जल उठेगी। हमें रोने दो, विषाद की घटा के मस्तक पर खड़े होकर रोने दो। कोई नहीं सुनता। उफ़!

मधुकर कहिये काहि सुनाऊं।
हरि बिछुरत हम किते सहे हैं, जिते बिरह के घाउ॥

बरु माधो मधुवन ही रहते, कत यसुदा के आए।
कत प्रभु गोपवेष ब्रज धरि कै, कत ऐ सुख उनजाए॥
कत गिरि धर्‌यो इन्द्रमद मेट्यो, कत बनरास बनाए।
अब कहा निठुर भये अबलनि को, लिखि लिखि योग पठाए॥
तुम परबीन सबै जानत हौ, तातें यह कहि आई।
अपनी को चालै सुनि सूरज, पिता जननि बिसराई॥

निराश गोपियों के कैसे विनीत उद्गार हैं? मधुकर! उनका क्या कहना? वे अपनी चाल पर न पछतायंगे। वे माँ बाप को बिसार गये हैं। पर हाँ! यदि यही दुर्दिन दिखाना था तो श्याम! इधर क्यों आये थे, क्यों ग्वाले वन हम में खेले थे, क्यों गोवर्धन धारण करके हमें मरने से बचाया था, और क्यों वन में वह रास रचे थे? निठुर स्याम! मर्ज में मुब्तला करके योगी पठाना तुमने कब से सीख लिया? तुम तो ऐसे न थे। यदि घाव कुरेदने ही हैं तो आओ! अपने हाथों कुरेदते जाओ। उन हाथों में अमृत है, उस वेदना में आनन्द होगा, उस मृत्यु में सान्त्वना होगी। श्याम! अबलाओं पर इतनी कठोरता! स्निग्ध चुम्बन पर यह भीपण चपेट! तुम से न सोची थी, स्वप्न में भी नहीं सोची थी। मधुकर। उफ़! विषाद की तरंगों में तुम्हें भूल गई। क्षमा करना। पर तुम्हारे उपदेश दुखी दिल को नहीं भाते। मैं हाथ जोड़ कर कहती हूं—

मधुकर हम हीं क्यों समुझावत।
बार बार ज्ञान गीता ब्रज, अबलनि आगे गावत॥

× × × × ×

सब सुमनन पर फिरि निरखि करि, काहे कमल बंधावत।
चरन कमल कर नयन कमल कर, नयन कमल बर भावत॥
सूरदास मनु अलि अनुरागी, केहि बिधि हो बहरावत॥

संसार के फूलपत्तों पर घूम फिर आने के पश्चात् कमल में फंस जाने वाले भौंरे! अपने आपे को देख! फिर मुझे उपदेश देना।

कान खोलकर सुन ! मेरे सिसकते शब्दों को अपने रक्त में रंगले !

आप देखि कर देखि रे मधुकर तब औरन सिख देह।
बीतेगी तब ही जानोगे, महा कठिन है नेह ॥
मन जु तुम्हारे हरि चरनन है, तन लैं गोकुल आयो।
नन्दनन्दन प्यारे के बिछुड़े, कहि कौने सचु पायो ॥

नैराश्य के निशीथ में गोपियाँ रोती हैं, बिलपती हैं। कुछ चारा नहीं, पार नहीं बसाता। मरा भी नहीं जाता। नैराश्य घटा के छोर पर खड़ी हो मुग्धगोपी संसार को तार स्वर में उपदेश देती है—

प्रेम में नैराश्य---
मति कोई प्रीति के फंद परै।
सादर सन्त देखि मन मानौं, पेखै प्रान हरै ॥
या पतंग कहा कुकरम कीन्हों, जीव को त्याग करै।
अपने मरिबे तें न डरत है, पावक पैठि जरै ॥
कछु भय नाहिं करत जु निपाते, केतिक प्रेम करै।
सारंग सुनत नादरस मोह्यौ, मरिबे तें न डरै ॥
जैसे चकोर चन्द्र को चाहति, जल बिन मीन मरै।
सूरदास प्रभु सों यों मिलिये, तौ कछु काम सरै ॥

पहले चरण में निराश मुग्धा का कैसा उत्तान रुदन है ? निष्काम प्रेम का कैसा मञ्जुल उपदेश है ? शलभ जानता है कि अग्नि में पड़ते ही उसकी मृत्यु है, परन्तु उससे नहीं रहा जाता। वह सोने की उष्ण रश्मियों में गिर जाता है और स्नेह के वेदना पूर्ण गीत गाता हुआ सोने में समा जाता है। आज गोपियां शलभ का अनुकरण करेंगी। आज अबला अपने अन्तिम अस्त्र का उपयोग करेगी। आज प्रतिहिंसा का दिन है। बलिदान दे प्रतिहिंसा लेने की शुभ घड़ी है। श्याम अंबर ! सांस थाम। और कान लगा कर सुन ! आज निष्पाप प्रणय, निर्लेप स्नेह, मञ्जुल प्रेम, जिसने आवेश में आ यह घोषणा की थी कि--

संसार की उपेक्षा

करन दै लोगन को उपहास ।
मन क्रम वचन नंद नंदन को, नैकु न छाड़ौं पास ॥
सब या ब्रज के लोग चिकनिया, मेरे भाये घांस ।
अब तौ इहै वसी री माई, नहिं मानंगी त्रास ॥
कैसे रह्यो परै री सजनी, एक गांव को वास ।
स्याम मिलन की प्रीति सखी री, जानत सूरजदास ॥

अर्थात् बला से हंसे सारा संसार, मैं नन्द नन्दन का संग न छोड़ूंगी, ब्रज के नर नारी मेरी दृष्टि में घास हैं, जड हैं, मैं उनसे न कांपूंगी । आज प्रेम कलुषित संसार से अन्तिम विदाई ले रहा है। उसकी श्रान्त चेष्टाएं, उसका अस्फुट यौवन, उसके मधुमय भाव, उसकी अरुण वर्णा कणयष्टि आज श्याम के उस षड्रस अधर में रम जायगी, सदा के लिये सो जायगी, जिसके विषय में वह यह गाता न अघाता था—

लोकोत्तर अधर—

देखु सखी अधरन की लाली ।
मनि मरकत तें सुभग कलेवर, ऐसे हैं वनमाली ॥
मनौं प्रात की घटा सांवरी, तापर अरुन प्रकास ।
ज्यों दामिनि विच चमकि रहति है, फहरत पीत सुवास ॥
कैधौं तरुन तमाल वेलि चढ़ि, युग फल बिम्ब सुपाक्यौ ।
नासा कीर आइ मनु वैठ्यो, लेत वनत नहिं ताक्यो ॥
हंसत दसन इक सोभा उपजति, उपमा जदपि लजाई ।
मनौं नीलमनि पुट मुकतागन, वंदन भरि वगराई ॥
किधौं वज्रकन लाल नगनि खचि, तापर विद्रुम पांती ।
किधौं सुभग बंधूप कुसुम पर, झलकत जलकन कांति ॥
किधौं अरुन अंवुज विच वैठी, सुन्दरताई आई ।
सूर अरुन अधरन की सोभा, वरनत वरनि न जाई ॥

अन्धाधिराज सूर ! तू ने अधरों का यह लोकोत्तर सौन्दर्य किस रंभा के सुनहले आंचल में देखा था ? नववसन्त की कौन सी उषा अपने नीरव ओष्ठों से सौन्दर्य का यह मन्त्र तेरे कान में फूक गई थी ? आषाढ की कौन सी सान्द्र घटा ने वासना के यह नीलम तेरी झोली में बरसाए थे? कविता कामिनी, तू धन्य है ! तूने आज लोकोत्तर अधरों की वह सुषमा चूसी है, जिसके लिये उषा तड़पती थी, वसन्त मरता था, मलयानिल आह भरता था और जिसके लिये चन्द्रिका भरगत नीरव निशीथ में आंसू टपकाया करती थी। वाह रे सूर !

'तव प्रतिभा की आभा' बरनत बरनि न जाई।

सूर ! कहां तक कहें तेरी एक एक बात निराली है ! तेरी एक एक अदा मारने वाली है ! तेरे नखशिख 'न भूतो न भविष्यति' हैं। उनमें संसार का रमणी वर्ग बिंधा पड़ा है कसा पड़ा है। देख पीतानना विभावरी चन्द्रिका की मेचकित चूनरी ओढ़ तेरे लोकोत्तर 'नखशिख' की आरती के लिये अपना थाल सजा रही है। सूर ! तेरे एक एक पद में जीवन का सार है। क्या इस पद को गाते हुए—

आवेश में लोकोत्तर उपदेश—

फिरि फिरि कहा सिखावत मौन।
वचन दुसह लागत अलि तेरे, ज्यों पजरे पर लौन ॥
सोंगी मुद्रा भस्म अंधारी, अरु आराधन पौन।
हम अबला अहीर सठ मधुकर, धरि जानहिं कहि कौन ॥
यह मत जाइ तिनहिं तुम सिखबहु, जिनही यह मत सोहत।
सूर आज लौं सुनी न देखी, पोत पूतरी पोहत ॥

तेरे मन में इस बात का आभास भी हुआ था कि इस एकही वचन से भारत के दाम्भिक धर्मध्वजियों के कर्मकाण्डरूपी गढ रेणुसात हो जायंगे ? ओ शठ मधुकर ! जले पर लौन क्यों छिड़क रहा है ? हम अबलाओं ने तेरा क्या बिगाड़ा है ? हम तो

अबोध अहीर बाला हैं ! हमें तेरा यह योगविद्या का उपदेश नहीं भाता ! कर्मकाण्ड के यह हथकण्डे उन्हीं को सुना जिन्हें यह सुहाते हों। कितना गंभीर आवेशभरा उपदेश है ? सारासार विवेचन की कितनी परिपक्व प्रक्रिया है ? कविता कामिनी के सर्वस्व सूर !

'आज लौं सुनी न देखी, पोत पूतरी पोहत'

कह कर तो तू ने संसार के सर्वश्रेष्ठ भक्तकवि तुलसी को भी कोसों पीछे छोड़ दिया है।

सरलता में भावयोग का निवेश

जीवन के सरल तत्त्वों पर, बालक के अस्फुट हास्य पर, फूलों के शुचि स्मित पर, नदी नालों के भावमय कलरव पर, और खण्डित उषा के प्रेमार्त क्रन्दन पर सूरदास जब चाहता है चरम सत्ता की गभीर छाया डाल देता है। शृङ्गार में विरह का विद्युत्प्रवाह कर वह अशेष प्रकृति को धुएं का ज्वालामुखी बना देता है, ब्रह्माण्ड को संध्या के शोणितसमुद्र में फेंक उस पर राधा और कृष्ण को नचा देता है। कृष्ण के विरह में गोपियां सिर धुन रही हैं। प्रकृति उनसे एक पग आगे चल निस्तब्ध हो गई है, नीरव हो गई है, वह मरने की घड़ियां गिन रही है—

आन्तरिक और बाह्य जगत् का तादात्म्य—

ऊधो हमहिं कहा समुझावहु।
पसु पंछी सुरभी ब्रज की सब, देखि स्रवन सुनि आवहु ॥
तृन न चरत गो पिवत न सुत पय, ढूंढत बन बन डोलैं।
अलि कोकिल दे आदि बिहङ्गम, भीत भयानक बोलैं ॥
जमुन भई तन स्याम स्याम बिनु, अंध छीन जे रोगी।
तरुवर पत्र बसन न संभारत, बिरहवृच्छ भये जोगी ॥
गोकुल के सब लोग दुखित हैं, नीर बिना ज्यों मीन।
सूरदास प्रभु प्रान न छूटत, अवधि आस में लीन ॥

शोक में गौएं खड़ी हैं, तिनका नहीं उठातीं, बछड़े दूध नहीं चूंगते, जमना स्याम पड़ गई है। अकाण्ड विरह का कैसा प्रकाण्ड वर्णन है ? अशेष संसार स्तब्ध खड़ा युगान्त की प्रतीक्षा कर रहा है। नक्षत्र स्तिमित हो गए हैं, भुवन भास्कर के ज्वलन्त अंशु तरल बन गए हैं, उनमें जड और चेतन जगत् बहा जा रहा है । पता नहीं कहां ? अनन्त में ! स्तिमित मुद्रा में ! कलेजे की धड़कन बन्द है। आज शोकार्त प्रकृति की असीम की ओर यात्रा है । किनारा नहीं मिलता।

जौक इस बहरे जहां में किस्तिये उम्र रवां।
जिस जगह पर जा लगी वह ही किनारा हो गया ॥

इस यात्रा का कोई ओर नहीं, छोर नहीं। सत्ता की तटिनी के तट नहीं होते ! अन्त की सीमा अनन्त है। तारतर विषाद प्रणयी को अनन्त में मिलाने के लिये लपलपाया करता है । विषण्ण विरही की आहें सत्ता के नील प्रच्छद पट को पोत देती हैं, उसकी आंखों से झड़ने-वाली चिनगारियां रजनी के मेचकित परिधान पट को फाड़ आकाश में टिमटिमाने लगती हैं। उसके निश्वास प्रकृति को दहला देते हैं। सुन रे छलिया संसार ! आज प्रेमावेश के कारण अन्धाधिराज सूर का तृतीय नेत्र खुला है । आज भग्न हृदय दास का सनकी स्वामी से अन्तिम संग्राम है। दास स्वामी को ललकार रहा है—

दास का आवेश

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हम ही कै तुम ही माधव, अपुन भरोसे लरिहौं ॥
हौं तो पतित सात पीढ़िन को, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हें विरद विनु करिहौं ॥
कत अपनी परतीत नसावत, मैं पायो हरि हीरा।
सूर पतित तब ही लै उठिहैं, जब हंसि दैहो बीरा ॥

आवेश की इस उत्तुङ्गता के संमुख छलिया की चालाकियां कब तक ठहर सकती हैं ? भगवान् को चुप देख, युद्धक्षेत्र में न उतरता देख, दास फिर ललकारता है—

दास की ललकार

मोहि प्रभु, तुम सों होड़ पड़ी।
ना जानौं करिहो जु कहा तुम, नागर नवल हरी ॥
हुतो जिती जितनी मति गाई, सो मैं सबै करी।
पावहुगे कहु मो महि तारन, को जिय जक पकरी ॥

× × × ×

मोको मुक्त विचारत प्यारे, पूछत पहर घरी।
श्रम से तुम्हें पसीना एहै, कति यह जकनि करी ॥

प्रियतम ! याद रख ! मेहनत के मारे पसीना में तर हो जाओगे ! इससे यह झक छोड़ दो, और बाजी हार कर मेरा बेड़ा पार करो। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, तुलसी तथा सूर की इन पुकारों में कितना बल है ? इन पुकारों के भय से प्रणतपाल आज भी इस पतित संसार को अनवरत चला रहे हैं। इन भक्तों के वैद्युतिक आवेश के सम्मुख उन्हें नतमस्तक होना पड़ता है और यह प्रतिज्ञा करके कि--

भगवान् की प्रतिज्ञा—

तब लगि हौं बैकुण्ठ न जैहों।
सुनु प्रहलाद प्रतिज्ञा मेरी, जब लगि तुव सिर छत्र न दैहों ॥
मन वच कर्म जानि जिय अपने, जहां जहां जन तहं तहं ऐहौं।
निर्गुन सगुन होइ सब देख्यो, तो सो भक्त कहूं नहिं पैहों ॥
मो देखत मो दास दुखित भो, यह कलंक हौं कहां गंवैहौं।
हृदय कठोर कुलिस तें मेरो, अब नहिं दीन दयाल कहैहौं ॥
गहि तनु हिरन कसिपु को चीरौं, फारि उदर तब रुधिर नहैहों।
इहि हति मिटै कहैं सूरज प्रभु, या कृत को फल तुरत चखैहौं।

मैं तुम्हारा उद्धार किये बिना वैकुण्ठ दर्शन नहीं करूंगा। मैं भक्तों का और उन के द्वारा पतित प्रजा वर्ग का बेड़ा पार करूंगा।

परन्तु ओ सूर ! याद रख ! 'पतनान्ताः समुच्छ्रयाः' सूरज अंबर के मध्य में पहुँच जब संसार को भर पेट जला चुकता है तब उस का पतन प्रारम्भ होता है। संसार चक्र की यह नेमि अनवरत घूम रही है, घूमते घूमते जब यह घिस जायगी तब चक्र गिर जायगा और ब्रह्माण्ड अपने आदि स्रोतमें मिल जायगा। तू भी प्रेमावेश के इस उन्नत शिखर पर अखण्ड राज्य नहीं कर सकता। तू गिरेगा, अवश्य गिरेगा। प्रणयी के संमुख तेरी ऐंठ रुड़ जायगी, तेरा गर्व चूर हो जायगा। देख ! तेरी आंखों में आंस भर गई। तेरे दिल का प्याला भर गया। संभल ! यह छलक न जाय। उफ ! प्याला छलक गया। वह देखो सूर रो रहा है, वह पीडा के आवेग को नहीं थाम सका। उसकी छाती में अग्नि और धूम्र का संग्राम मच गया। उस के मुंह से चीख निकल गई।

उच्छ्रति से पतन

मुग्धा का आत्मवञ्चन—

मधुकर इतनी कहियहु जाइ।
अति कृस गात भई ए तुम बिन परम दुखारी गाइ ॥
जल समूह बरसति दोउ आंखनि, हूंकति लीने नाऊं।
जहां तहां गो दोहन कीन्हों सूंघति सोई ठाऊं ॥
परति पछार खाइ छिनही छिन, अति आतुर ह्वै दीन।
मानहुं सूर काढ़ि डारि हैं वारि मध्य तें मीन ॥

जा मधुकर ! कह देना, गौएं तड़प रही हैं। उन के जीवन का अवसान समीप है ! पर मत वाले सूर ! यह संदेसा, संदेसा नहीं, यह तो कूलङ्कष गरल है, रेशम में लिपटी छुरी है। यह नखरा ! यह, स्निग्ध आवेश में आ गौओं के मिस अपनी वेदना का संदेसा

भेजना ! आज तुझे रसिक श्याम का नाम लेते भी रिस चढ़ती है, अपने नाम से संदेसा भेजते भी हिमाकत प्रतीत होती है। आवेश में आ सूर ने एक वार तो संदेसा दे दिया, पर पीछे से उस के मन में पश्चात्ताप और अभिमान हुआ कि छलिया रसिक के सामने वह सिर क्यों झुकावे। वह भ्रमर को दूर से बुला कहता है—

संदेस की घड़ियां छन चुकी हैं—

मधुकर नाहिं न काज संदेसौ।
इहि ब्रज कौने योग लिख्यो है कोटि जतन उपदेसो॥
रवि के उदय मिलन चकई को, ससि के समय अंदेसो।
चातक बन क्यों बसत बापुरो, बधिकहिं काज बधे सो॥
नगर आहि नागर बिनु सूनो, कौन काज बसिवे सो।
सूर स्वभाव मिटे क्यों कारे, फनिकहिं काज डसे सो॥

प्यारे मधुकर ! संदेसे का कष्ट क्यों करता है? चेतना के कण समय की छलनी में छने जा रहे हैं। जीवन का अवसान समीप है। चेतना की यष्टि से छवि झड़ा हो चाहती है। ओह ! एक वार आंखें खोल इस संसार को, इस ब्रज को, नटवर की इन रासस्थलियों को निहार लूं ! उफ ! कैसा नशा है ? रोम रोम से चिनगारियां झड़ रही हैं, आंखों के आगे जुगनू फड़क रहे हैं। कितनी तीव्र मदिरा है, कैसा कूलङ्कष हलाहल है ? प्यारे संसार ! मेरे चिरसङ्गी संसार ! आज तुझे छोड़ना है। हां आज तुझ से विदा होना है। अच्छा मधुकर ! नमस्कार है। सुनो मेरी अन्तिम विनती—

अन्तिम विनय—

मधुकर तुमहीं स्याम सखाई।
पा लागों यह दोष बकसियो, संमुख करत ढिठाई॥
कौने रङ्क संपदा बिलसो, सोवत सपने पाई॥

धाम धुआं को कह्यो कवन ने कवने भांति उठाई ॥
अरु कन के माला कर अपने, कौने गूँथि बनाई ॥
काहि कागद की तरनो कीन्हें, कौन तर्यो सरि जाई ॥
किन अकास तैं तोरि तरैया, आनि धरी घर माई ।
और कौन अबलन ब्रत धार्यो, योग समाधि लगाई ॥
इहि उर आनि रूप देखे की, आगि उठे अगियाई ।
सुन ऊधो तुम फिरि फिरि आवत, यामें कौन बड़ाई ॥
सूरदास प्रभु ब्रज युवतिन को, प्रेम कह्यो नहिं जाई ॥

ओह ! मरते समय के आत्म निवेदन की अथाह गंभीरता !

आत्म निवेदन की गंभीरता — मधुकर ! मेरी गति पर आंसू क्यों बहाता है ? संसार की कौन सी अबला ने अपने मन को योग समाधि के द्वारा साध कर वश में रक्खा है ? प्यारे मधुकर ! मेरे मनमें पाप न था, मैं अबला थी, अबोध अहीरी थी । इस अभागी छाती में एक सुनहरी रेखा उठी कि चल, तू भी श्याम को एक बार देखले । मधुकर ! मैं ने निष्पाप आंखों से उसे देखा, मेरा मन निर्मल था, मेरा आत्मा उस समय तक नवनीत था । भौंरे ! कहती हूँ कि देखने के क्षण से पूर्व तक नवनीत था, देखने पर कर्दम बन गया, वह फूट गया, उसका रस वह गया । मेरी अभागी छाती में आग सुलग गई, मेरी आंखों में श्याम का रंग भर गया । मैं अबला थी । मधुकर ! विवश हो गिर गई । आज जाती हूं, जाती हूं वहां, जहां उस जैसे छलियों की पहुँच नहीं, जहां मधुकर ! तेरे रंग वालों की छाया नहीं पड़ती, जहां उन लोगों का, जिन्हें रो रो कर, सिसक सिसक कर ब्रज की बालाएं यह ताने दे रही हैं कि—

काले की कुल रीति

मधुकर यह कारे की रीति ।

मन दे हरत परायो सरवसु, करे कपट की प्रीति ॥
ज्यों षटपद अंबुज के दल में, बसत निसा रति मानी ।
दिनकर उए अनत उड़ि बैठे, फिरि न करत पहिचानी ॥
भवन भुजङ्ग पिटारे पाल्यो, ज्यों जननी जिय तात ।
कुल करतूति जाति नहिं कबहूं, सहज सुडसि भजि जात ॥
कोकिल काग कुरङ्ग स्याम घन, हमहिं न देखे भावैं ।
सूरदास अनुहारि स्याम की, छिन छिन सुरति करावैं ॥

काले वर्ण वालों की रीति ही संसार को छलना है। मधुकर ! आज यौवन की यह सुनहली लहरें, अल्हड़पन की यह तीखी धारा समय की मरुस्थली में सदा के लिये समा जायगी। देख, पश्चिम की ओर आंख भर-कर देख ! वह सन्तप्त अबला, छलिया पुरुष से किस प्रकार बदला ले रही है ! देख ! वह अभिमानी चन्द्रमा रजनी के विरह में पियाराया हुआ, मुंह लटकाए अनन्त के समुद्र में डूबा चाहता है। हां अब मेरे मन में शान्ति है, प्रतिहिंसा के इस दृश्य को देखती हुई मैं आनन्द के साथ शून्य में समा जाऊंगी । जा ! मधुकर ! श्याम से कह देना कि तुझ से अकारण सताई गई अहीरी नैराश्य के हिमावृत तुङ्ग पर खड़ी हो यह गीत गाती हुई—

अन्तिम गीत

सब जग तजे प्रेम के नाते ।
चातक स्वांति बूंद नहिं छांड़त, प्रगट पुकारत ताते ॥
समुझत मीन नीर की बातें, तजत प्रान हठि हारत ।
जानि कुरङ्ग प्रेम नहिं त्यागत, यदपि व्याध सर मारत ॥
निमिष चकोर नैन नहिं लावत, ससि जोवत जुग बीते ।
ज्योति पतङ्ग देखि वपु जारत, भये न प्रेम घट रीते ॥
कहि अलि क्यों बिसरति वे बातें, संग जो करि ब्रज राजें ।

कैसे सूर स्याम हमें छाड़ें, एक देह के काजै ॥

शून्य के गभीर समुद्र में छलांग मार सदा के लिये सो गई।

विरही सूर ! तेरी आहों ने पृथ्वी को दहला दिया है। तेरी आसुओं में वेदना का ज्वार आ रहा है। देख ! यह ज्वार सत्ता के पर्वतराज की गगनचुम्बी चूडाओं को बहा देगा, ध्वस्त कर देगा। शान्त एकान्त विभावरी में चन्द्रिका की चूनरी ओढ़े यह अलसाई रमणी कौन सा नाटक खेलने जा रही है ? इसके सङ्कल्प की रक्तिमा में तारे जुगनू बन गए हैं। इसकी आवेशताम्र दृष्टि ने प्राची दिशा को रुधिर के फव्वारों से रंग दिया है। इसे रोक ! सूर ! इसे शान्त कर !

आज से लाखों बरस पहले यह गीत गर्भालसा, वृन्तच्युता जानकी ने निबिड जंगल की एकान्त रजनी में चांदनी के मेचकित आंचल पर बिजली के अक्षरों में लिखा था। मदोन्मत्त रसिक-समाज ने यह चिनगारियां न देखीं, यह अमर अक्षर न पढ़े। वह सत्ता की मदिरा में, पुंस्त्व के दुरभिमान में, प्रवञ्चकता की ओट में, अबला के अवदात स्वप्नों को रौंदता रहा। निर्दय आकाश ने स्मृति के इन चिन्हों को धो दिया। नृशंस समय ने श्रान्त सत्ता की मरुस्थली के इन कोमल पदचिन्हों को मिटा दिया। सीता ! ओ सत्ता की कच्ची कली सीता ! अभी तो भ्रमर ने तुझे सूंघा ही था। अभी तो तेरे हृदय में यौवन की गुदगुदी उठी ही थी। नैराश्य का पतझड़ आया और तेरी आशाओं को साथ ले गया।

सूर की सीता

तरुवर मूल अकेली ठाढी, दुखित राम की घरनी।
वसन कुचीर चिहुर लपटाने, देह पीताम्बर बरनी ॥
लेत उसांस नैन जल भरि भरि, झुकि जो परी धरी धरनी।
सूर सोच जिय पोच निसाचर, राम नाम की सरनी ॥

हां ! तेरी ज्वलन्त आहों को सूना आकाश कैसे सहार सकता

था ! वह जल गया और साथ ही तेरे गीत भी मिट गये।

आज सूर ने अनुकम्पित हो सीता का पक्ष लिया है, उसने नैराश्य ववण्डर में फंसी अबला को बचाने की मन में ठानी है। आज वह क्रुद्ध हो संसार से छल और माया की सत्ता को मिटा देना चाहता है। आज वह राधा और श्याम के पार्थिव शरीरों का मोदमिलन न करा सकने के कारण धूलि के इन कणों का ध्वंस करके उनकी अन्तस्तली में बहनेवाली आत्मतत्त्व की धाराओं को मिलाकर एक कर देना चाहता है। वह राधा को पास बुलाकर समझाता है—

सत्ता का अन्तःप्रवाह

कृष्णोऽहम्—

सुनि राधे यह कहा विचारै।
वे तेरे रंग, तू उनके रंग, अपनो मुख काहे न निहारै॥
जो देखे तो छांह आपनी, स्याम हृदय तुझ छाया।
ऐसी दसा नंदनन्दन की, तुम दोउ निर्मल काया॥
नीलाम्बर स्यामल तनु की छवि, तुअ छवि पीत सुवास।
घन भीतर दामिनी प्रकासत, दामिनि घन चहुँ पास॥
सुन री सखी ! बिलछ कहौं तो सों, चाहति हरि को रूप।
सूर सुनहु तुम दोउ सम जोरी, इक इक रूप अनूप॥

इसे कहते हैं एकरूपता, तन्मयता और तल्लीनता। यह दशा केवल प्रेम परायण भक्ति में ही संभव है। जीव राधा है, परमात्मा कृष्ण है। प्रेम की पराकाष्ठा में जीव और परमात्मा एक हो जाते हैं, राधा और कृष्ण एक दूसरे में लीन हो जाते हैं। इस मोद-मिलन में, प्रणयसंमिलन में मायावाद का निरास होजाता है और 'कृष्णोऽहम् कृष्णोऽहम्' के सिद्धान्त की स्थापना होजाती है।

यह हुआ संक्षेप में सूर की कविता का दिग्दर्शन। कविता के इस उपवन में वसन्त

प्रकृति आत्मा की

चेरी है

का समीर बह रहा है, अर्धविकसित सुमनों पर उषा गुलाल छिड़क रही है और प्रेमवल्लरी के रोम रोम से पीयूष का आसार भड़ रहा है। प्रेम के इस फेनोज्ज्वल मानसरोवर पर नैराश्य की घटा छाई हुई है, जिससे सरोवर की सुषमा हजारों गुनी बढ़ गई है। नैराश्य की इस घटा में प्रकृति स्तब्ध है, जीवन के सर्वोत्कृष्ट पुष्प मनुष्य के अकाल रंग भंग को देख आकाश नीरव है, नक्षत्र स्तिमित हैं, समीर चुपचाप बगल में खड़ा है। आन्तरिक तथा बाह्य जगत् के अभेद को पृथ्वी के कण बता रहे हैं, सरोवर की वीचियां बता रही हैं। Blake कहता है—

> So sung a little clod of clay,
> Trodden with the cattle's feet,
> But a pebble of the brook
> Warbled out these metres out.

अर्थात् समस्त विश्व एक ही तत्त्व में सांस ले रहा है। अशेष

उल्लास और विषाद का तादात्म्य है

परमाणु त्रिकालाबाधित सत्ता के प्रेमसूत्र में गुंथे हुए लीलामय भगवान् के इस उज्ज्वल हार को बना रहे हैं। सूर की दृष्टि में आत्मा तथा स्थूल जगत् में मौलिक भेद नहीं है। इसीलिये वह साधारण समाज को शान्तिमय जीवन से हटाने के लिये राधा और कृष्ण के भौतिक प्रेम का इतने अधिक सरस शब्दों में अभिनय करता है। उसकी दृष्टि में श्रान्ति के लिये कोई स्थान ही नहीं। विरह में होनेवाली वेदना तो प्रेम की तरलता में मौक्तिक शुभ्रता उत्पन्न करके उसे अवदात बना देती है, आत्मा के साथ एकरूप कर देती है। परन्तु हाँ, व्यवहारिक दशा में, परिवर्तन की अस्थायी परिस्थति में 'आदित्यवर्ण' आत्मा की वास्तविक सुषमा को उद्भासित करने के लिये श्रान्ति और शान्ति, संयोग और वियोग, आनन्द और विषाद सभी आवश्यक हैं,

सभी अपेक्षित हैं। Blake ने इस सिद्धान्त को इन मनोरम शब्दों में व्यक्त किया है--

Joy and woe are woven fine,
A clothing for the soul divine,
Under every grief and pine,
Runs a joy with silken twine.

इसीलिये सूर आत्मा की भावमय व्याख्या करता हुआ अनिवार्य-रूपेण आनन्द में विषाद की और विषाद में आनन्द की पुट दिये रहता है।

सूर के प्रेम का मौलिक आधार

भक्तप्रवर सूरदास ने भक्ति अथवा प्रेममार्ग को इसलिये नहीं अपनाया था कि उसे स्थूल जगत् से अथवा इन्द्रिय जगत् से कुछ घृणा थी, प्रत्युत इस लिये कि वह इन्द्रिय जगत् के साथ इतना अधिक सूक्ष्म और तीव्र प्रेम करता था कि उसे उसकी रग रग में और नस नस में चरम सत्ता की सुषमा दीख पड़ती थी।

'इहि उर आनि रूप देखे की, आगि उठे अगियाई'

अपने इन शब्दों के अनुसार वह इस सुषमा के सौन्दर्य पर पुलकित होता था और इसकी अनोखी इन्द्रियातीतता पर रो पड़ता था। परन्तु ध्यान से देखने पर यह सौन्दर्य तथा इन्द्रियातीतता दो नहीं, प्रत्युत एक ही (गुणयभिन्न) वस्तु ठहरते थे। प्रतीपरूपेण प्रतीयमान होने वाले गुणों के इस अभेद में ही सूर के आनन्द और विषाद का ऐक्य था, तादात्म्य था।

वस्तुमात्र का मौलिक तादात्म्य

आनन्द और विषाद का संसार के अन्य कवियों ने भी वर्णन किया है। आनन्द और विषाद के तादात्म्य का तुलसी ने भी वर्णन किया है। परन्तु उन वर्णनों में और सूर के वर्णन में आकाश

और पाताल का अन्तर है। सूर के आनन्द और विषाद में प्रकृति की अत्यन्त विकसित सुषमा है। यहां कवि नायक और नायिका की मनोवृत्तियों का सीधा वर्णन न करता हुआ, आन्तरिक तथा बाह्य जगत् के तादात्म्य को दिखाने के लिये श्याम के विरह में गौओं को रुलाता है, वृक्षों को कङ्काल बनाता है, और जमुना को स्याह रंग में रंग देता है। वह 'रूप' जिसे देखने के लिये सूर आयु पर्यंत ललकता रहा, श्याम में, राधा में, गौओं में, पक्षियों में, वृक्षों में, और जमुना में मौलिक-रूपेण एक था। उसके विकास की मात्रा में भेद था, वस्तु तत्त्व में नहीं। विकास के इस भेद को, इस क्रम को दिखाने के लिये ही सूर 'ऊधो हमहिं कहा समुझावहु' वाले पद्य में राधा से लेकर जमना तक के सब पदार्थों को एक सांस में गिना जाता है और इस प्रकार उनके मौलिक तादात्म्य को प्रदर्शित करता है।

प्रतीपीभावों के ऐक्य को, भेदाभेद के विवर्त को सिद्ध करने की जैसी सरल तथा परिपक्व प्रक्रिया सूर ने अपनाई है वैसी संसार के किसी कवि ने नहीं। यही सूरदास की सब से बड़ी विशेषता है।

सूर और तुलसीदास—

सूर का पथ

संक्षेप में हमने देख लिया कि सूरदास कविता के, सरलता तथा ऐन्द्रियता इन दोनों लक्षणों का तादात्म्य कर संयोगात्मक शृङ्गार द्वारा मनुष्य की सरल, स्वाभाविक तथा रुचिर वृत्तियों का विकास, और वियोगात्मक शृङ्गार द्वारा उन वृत्तियों के सामयिक मलों का निरास करते हुए मनुष्य को प्रेम के सुरभित मार्ग में चला मौलिकरूपेण तदभिन्न श्याम में विलीन करना चाहते थे। इसीलिये उनकी कविता में शृङ्गार की सुषमा है, और माधुर्यगुण की पराकाष्ठा है। उनके प्रत्येक शब्द में प्रेम का पराग

है, चाह की चमक है, और उत्सुकता का सीत्कार है । सूर की कविता को पढ़ पाठक लोकोत्तर प्रेम में, आनन्द में, आनन्दमयी वेदना में मस्त हो जाता है ।

तुलसी का ध्येय

दूसरी ओर तुलसीदास कविता को 'सरलता' तथा 'ऐन्द्रियता' में ही न समाप्त कर उसका, कविता के तृतीय लक्षण, अर्थात् भावमयता में पर्यवसान करते हैं। फलतः जिस प्रकार उपवन में फूले और फले पुष्पों तथा फलों को एक साथ देख गृध्नु बालक सुरभित पुष्पों को जल्दी जल्दी समेट उत्सुकता के साथ फलों पर जा पहुँचता है और उनके भोजन में मग्न हो जाता है इसी प्रकार भक्त प्रवर तुलसीदास परस्पर विरोधी भावों से उत्पन्न हुए जीवन संघर्षण से प्रकट होने वाले जीवन विकास को कविता का आदर्श ध्येय समझ उसकी ऐन्द्रियता पर रास्ते चलते थोड़ा सा, परन्तु अनोखा और अपूर्व सा लिख जाते हैं। तुलसी आत्मा को तड़पाते हैं, विषाद के प्रोन्नत तुङ्ग पर खड़ा कर नंगा नचा देते हैं, परन्तु यह विषाद, यह वेदना प्रत्यक्षतः प्रेम से नहीं, प्रत्युत नियति के कुञ्चित नर्तन से, दुर्दान्त दैव की वज्रमयी चपेटों से उत्पन्न होती है। तुलसी की भ्रान्ति का प्रत्यक्ष मूल है, केकई की ईर्ष्या, दशरथ का श्रान्त क्रन्दन, भरत का विलाप, राम का वनवास, रावण का उन्माद, विभीषण का आत्मसंघर्ष आदि आदि। रामायण आत्मा को प्रतीपी भावों की भट्टी में गला उसके मल को स्वच्छ करती है, उसके प्रत्येक शब्द में जीवन के अन्धड़ का भयंकर कंपन है। उसमें केकई और दशरथ का श्मशान नृत्य है, लक्ष्मण तथा शूर्पणखा का प्रेम संग्राम है, राम रावण का युद्ध है,

सूर और तुलसी में भेद है

विभीषण का भ्रातृप्रेम तथा कर्तव्य की चक्की में पिसना है। रामायण में जीवन के अन्दर होने वाले भावों के क्रूर संघर्ष द्वारा

परिपक्व हो आत्मा राम के प्रेम का अधिकारी होता है, सूरसागर में वह अपनी रुचिर वृत्तियों के अनवरत उत्थान और पतन से इस ध्येय को प्राप्त करता है। तुलसी की कविता में भावमयता अधिक है और सूर की कविता में ऐन्द्रियता का प्राधान्य है।

भावमयता तथा ऐन्द्रियता में श्रेष्ठ कौन है ?

वैयक्तिक विकास की दृष्टि से भावमयता तथा ऐन्द्रियता दोनों समान हैं। चैतन्य और चण्डीदास ने स्थूल ऐन्द्रियता को सूक्ष्म ऐन्द्रियता में परिणत कर आत्मिक विकास पाया था। Shakespeare ने भावसंघर्ष के द्वारा अपने आत्मा को विकसित किया था। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' जैसा जिसके बन आई वैसा ही उसने साध लिया। परन्तु लोकहित की दृष्टि से देखने पर ऐन्द्रियता की अपेक्षा भावमयता को ऊंचा स्थान देना होगा। भावसंघर्ष में ही धर्म का क्रियात्मक रूप विकास को प्राप्त होता है। जिस मनुष्य में भावों का संघर्ष नहीं वह आत्मिक रुदन को भले ही प्राप्त करले, उससे आत्मिक बल कोसों दूर रहता है। जो आत्मा भावसंघर्ष पर विजय प्राप्त करके आगे बढ़ जाता है उसके लिये विरति तथा तज्जन्य रामभक्ति सुलभ हो जाते हैं। वेद कहता है 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' श्रान्ति के बिना परमात्मदेव जीव का हाथ नहीं उभारते। परन्तु जो लोग भावसंघर्ष के जाल में फंस सत्ता के चरम ध्येय को भुला देते हैं उनका Hamlet, ब्रूटस तथा Macbeth की भांति संहार हो जाता है।

तुलसी का भाव संघर्ष लोकोत्तर है

भाव संघर्ष के द्वारा आत्मविकास कैसे संभव है इस बात को तुलसी ने केकई दशरथ, लक्ष्मण शूर्पणखा, रावण विभीषण, सीता और रावण आदि के चरित्र चित्रण द्वारा खूब समझाया है। तुलसी के मत में कोई जीव निष्कलंक नहीं, कोई प्रतिमा पूर्ण नहीं, क्योंकि सूक्ष्म दृष्ट्या देखने पर पूर्णता ही

अपूर्णता का रूपान्तर ठहरती है। इसी तत्त्व को मन में रख तुलसी ने राम के हाथ वाली को ताड़ की आड़ में से मरवाया है, सीता के मन में हठ का बीज बो उसके द्वारा लक्ष्मण को राम की खोज में पठवाया है। दूसरी ओर सुग्रीव की वधू पर आसक्त हुआ वालि राम के हाथों युद्ध क्षेत्र में मारा जाकर भाव संघर्ष के द्वारा पूतात्मा बन जाता है और सीधा स्वर्गलोग को पहुँच जाता है। इस प्रकार पाप और पुण्य का, भलाई और बुराई का रामायण में अपूर्व समन्वय है।

नाम रूप विवेक

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' देशकाल विभाग से पूर्व दृश्य जगत् सत् था, त्रिकालाबाधित था। उस समय सांख्यियों के सत् रज और तम एकाकार हुए स्तब्ध सत्ता में नीरव पड़े थे। भेदवाद का भ्रमर चैतन्य कमल के स्तिमित क्रोड में बन्द था। तम के उस काल्पनिक वितान में चैतन्य निद्राण था, वह अपनी महत्ता में अविकल था और इसी लिये सुख रूप था, आनन्दरूप था। 'यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति' भेदवाद में संकोच है और अभेद भाव में स्वातन्त्र्य का विकास है। किसी अज्ञात कारण से शून्य के उस राज्य में, चैतन्य के उस गर्भ में स्वप्न की एक रेखा खिंच गई। नीरव चिति पर वासना की उषा दौड़ गई। फिर क्या था? तमो वितान फट गया। ज्योति की चिनगारियां झड़ पड़ीं। चैतन्य में भेदवाद का ववण्डर उठ खड़ा हुआ। इस कंपन में काम के मोती झड़ रहे थे, नवजीवन उभर रहा था, और जगत् के नामरूपों की सृष्टि हो रही थी।

आत्म सुप्ति

यह सृष्टि, संघर्ष का यह नाटक अनन्त काल तक चलता रहेगा। इस संघर्ष में नाम और रूपों का परिशोध होते होते उनका रंग निखर जायगा और वे अवसर पा फिर प्रसन्न चिति में परिणत

हो जायंगे। इसी का नाम सृष्टि है। इसी का नाम मुक्ति है।

आत्म तुष्टि

सृष्टि के इस नैरन्तर्य का मौलिक आधार विवर्तित नाम रूपों की अपने आदि स्रोत में तदात्म होने की प्रबल आकांक्षा है। प्रत्येक तत्त्व अपने चरम रूपको प्राप्त करने के लिये, अथवा विस्मृत हुए अपने यथार्थ रूप को फिर से आत्मसात् करने के लिये प्रतिक्षण चेष्टा करता रहता है। इसी लिये हम देखते हैं कि उसकी सत्ता का प्रधान केन्द्र आत्मावबोध अथवा आत्मतुष्टि होता है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' अर्थात् भाई बन्धु धन संपत्ति सब अपने आत्मा के लिये ही प्रिय होते हैं।

आत्म तुष्टि का श्रेष्ठ उपाय

आत्म तुष्टि का सब से सरल तथा रुचिर उपाय श्रद्धा तथा प्रेम है। प्रेम में आत्मा एकाग्र होता है और निर्वात दीपशिखा की भांति आनन्द-रूप सत्ता के संमुख हो जाता है। इस सौन्दर्य या आनन्द के मोद मिलन में समस्त पार्थक्य नष्ट हो जाता है। वहां अहङ्कार नहीं रहता, वहां क्षुद्र के संमुख, दुर्बल के संमुख अपने आप को सौंप देने में हिचक नहीं होती। वहां मथुरा का राजा वृन्दावन की गोपियों के संमुख राज-मर्यादा का परित्याग कर नाचने लग जाता है। आनन्द के मेल में बुद्धि की शक्तियां स्तब्ध हो जाती हैं, कर्म की शक्तियां नीरव हो जाती हैं, वहां हम एकमात्र अपने आप को अनुभव करते हैं, बीच में कोई अन्तराल या हिसाब नहीं रह जाता।

आत्म तुष्टि के श्रेष्ठ उपाय प्रणायो का लोकोत्तर निदर्शन सूर में प्राप्त होता है

इस प्रेम का, हृदय के इस स्वाभाविक धर्म का, उस धर्म का जिसके कारण मनुष्य अपने आवेग को कै साथ मिला देना चाहता है, जिसके आवेश में आ वह रोया करता है, जिसके कूलङ्कष ज्वार में उसका एकमात्र

कर्तव्य रह जाता है दुखी होना, रोना, रोना, बस, जीवन भर, खुलकर, छिपकर, एकान्त में बैठ कर, तकिये में मुंह छिपा कर, आकाश के नीचे, विभावरी में, चांदनी में, सब जगह, सब समय, सब प्रकार से, सब रूपों में रोना और अपने अन्तरात्मा को, अपनी दारुण पीडाओं को, अपने घोर ज्वराक्रान्त हृदय को प्रणयी पर बहा देना, उस धर्म का, चैतन्य के उस संकलन का, वेदना और आनन्द के उस संमिश्रण का, उस स्नेहार्द्र वारुणी का सूर ने लोकोत्तर व्याख्यान किया है, उसको जीवन के सत् स्वरूप सरल तत्त्वों में, प्रतिफलित, खचित तथा केन्द्रित करके कविता कामिनी की चन्द्रिकाधौत कम्बुग्रीवा में उस का हार पहराया है।

हृदय का यह धर्म अणु-मात्र में विराजमान है

हृदय का यह धर्म, आत्मा का यह आसार सब जगह अणु अणु में प्रवाहित हो रहा है। 'जब हम देखते हैं* कि फूल केवल बीज बनने के लिये शीघ्रता नहीं करता, वह अपने समस्त प्रयोजन को अतिक्रम करके सुन्दर रूप में फूटता है, मेघ एकमात्र जल बरसा कर अपने ध्येय में सफल नहीं हो जाता, वह निष्प्रयोजन ठहर कर रङ्गों की छटा से आंखों को तृप्त कर देता है, वृक्ष केवल काठ बन कर वृष्टि और प्रकाश के लिये शीण भिखारी की तरह हाथ नहीं फैलाये रहते, वे हरी शोभा के भरे हु ऐश्वर्य में दिग्वधुओं को डालियां भर कर देते हैं, जब हम देखत हैं कि समुद्र मेघों के द्वारा जल को पृथिवी पर बरसाने के लिये ही विशाल कार्यालय खोले नहीं बैठा है, किन्तु वह अपनी तरल नीलिमा के अथाह भय द्वारा भयङ्कर है, तब हम संसार के भीतर हृदय के इस धर्म का परिचय पाते हैं। समस्त संसार अपने असंख्य स्पन्दनों द्वारा हम से कह रहा है कि मैं तुम को चाहता हूं।

* रवीन्द्रनाथ रचित साहित्य।

वह अपने प्रत्येक इङ्गित द्वारा हमारी ओर संकेत करता है कि मैं तुम से प्रेम करता हूं, मैं हंसी में, रोग में, भय में, भरोसे में, क्षोभ में, शान्ति में, संयोग में और वियोग में तुम को चाहता हूं, तुम से प्रेम करता हूं।

हृदय के इस धर्म को कितनों ने परखा है?

परन्तु मूक संसार की इस रसमयी वीणा को कितने मनुष्यों ने सुना है? कितनों ने गौओं के, बछड़ों के, और जमना के मूक गीत को, उनके श्याम-विरह जन्य हृत्सन्ताप को सुना या परखा है? उत्तर मिलेगा गिने चुनों ने! उन

संसार के सर्व श्रेष्ठ दो चार कवियों में सूर का स्थान ऊंचा है

गिने चुने भावुक कवियों का सूर शिरोमणि है, वह उनका आदर्श है, उसमें कविता के दो लक्षणों का, अर्थात् सरलता तथा ऐन्द्रियता का चरम परिपाक हुआ है। उसने 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' उपनिषद् को पढ़ा था, उसने सत्ता के आनन्दरूप रस में बहकर अमरत्व प्राप्त किया था, उसने लीलामय भगवान् की सत् सरल, तथा ऐन्द्रिय लीलाओं के रागात्मक व्याख्यान द्वारा श्रान्त लोक को सत्ता से अभिन्नरूप प्रेम का राज-मार्ग दिखा उन्हें 'शान्तं शिवं, सुन्दरम्' की ओर आकृष्ट किया था।

इस प्रकार हमने संक्षेप में देख लिया कि सरलता तथा भावमयता के पेशल अभिनय के लिये तुलसीदास का, और सरलता तथा ऐन्द्रियता के रसमय व्याख्यान के लिये सूरदास का विश्व साहित्य में सर्वोच्च स्थान है। तुलसी का मुख्य ध्येय जीवन के गाम्भीर्य की व्याख्या करना था और सूरदास का प्रमुख लक्ष्य जीवन की मधुरिमा को प्रदर्शित करना था। दोनों परस्पर मित्र थे, दोनों एक दूसरे के परिपोषक थे। दोनों का लक्ष्य था जीवन की रागात्मक व्याख्या करना और श्रान्त प्रजावर्ग को आनन्दरूप चरम सत्ता में फिर से तिरोहित करना, फिर से तदात्म बनाना!

अष्टछाप

महाप्रभु वल्लभाचार्य के चार शिष्य प्रसिद्ध हुए, अर्थात् सूरदास, कृष्णदास, परमानन्द दास और कुंभनदास। महाप्रभु जी के पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी भी पहुंचे हुए भक्त थे। इन के भी चार शिष्य प्रसिद्ध हुए, अर्थात् चतुर्भुजदास, छीत स्वामी, नंददास, और गोविन्द स्वामी। स्वामी विट्ठलनाथ ने इन आठों को मिला कर 'अष्ट छाप' की स्थापना की थी।

कृष्णदास पयआहारी

ये सूरदास के प्रतिद्वन्द्वी थे और अच्छी कविता करते थे। इनकी रचना सरस तथा मधुर है। इनका रचा 'प्रेम सत्वनिरूप' प्रसिद्ध है। कृष्णदास के अनेक शिष्य थे जो सब के सब कालान्तर में जा हिन्दी के अच्छे कवि बने। कुछ विद्वानों के मत में भक्त आगरादास भी इन्हीं के शिष्य थे। आगरादास के शिष्य नाभादास ने प्रसिद्ध 'भक्तमाल' नामक पुस्तक रची थी।

नन्ददास

कवित्व की दृष्टि से इनका 'अष्टछाप' में दूसरा नंबर है। यह जाति के ब्राह्मण थे और कतिपय विद्वानों के मत में तुलसीदास के भाई थे। इन के विषय में कहावत प्रसिद्ध है कि 'सूर सब गढ़िया, नन्ददास जड़िया'। इन्होंने अनेक फुटकर कविताएं रची थीं। इनकी रची 'पंचाध्यायी' संस्कृत के गीतगोविन्द नामक गीतिकाव्य के आदर्श पर बनी प्रतीत होती है।

चतुर्भुजदास, छीत स्वामी तथा गोविन्द स्वामी सामान्य कवि थे। इन लोगों के ग्रन्थ भी अप्राप्य हैं। ये लोग शृङ्गार के यथार्थ आशय को भुला विषयैपणा की ओर झुक गए थे। सूरदास की अगाध भक्ति का शतांश भी इन लोगों में न दीखता था। इन के भगवद् भजन में एकान्त निष्ठा नहीं थी। गोविन्द स्वामी चोखे गवैये थे। ऋषि कुम्भनदास को तो एक बार अकबर ने भी

अपने दरबार में आमन्त्रित किया था। परन्तु कृष्णानन्दी सन्त दरबार से घिनाते थे। कुम्भनदास एक स्थान पर कहते हैं—

सन्तन का सिकरी सन काम।
आवत जात पनहियाँ टूटी बिसरि गयो हरि नाम॥
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
कुम्भनदास लाल गिरिधर बिन, और सबै बेकाम॥

इन भक्त कवियों को ब्रज के संमुख स्वर्ग भी हेच प्रतीत होता था। परमानन्ददास कहते हैं—

कहा करौं बैकुण्ठहि जाय।
जहं नहिं नन्द जहां नहिं जसोदा जहं नहिं गोपी ग्वाल न गाय।
जहं नहिं जल जमुना को निरमल, और नहीं कदमन की छाय।
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी ब्रजुरज तजि मेरी जाय बलाय॥

'चौरासी वार्ता' कृष्ण संप्रदाय का महत्त्वशाली ग्रन्थ है।

चौरासी वार्ता इसे विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ ने लिखा था (१५६८)। इसका रचनाकाल 'भक्त-माला' से पूर्व बताया जाता है। भक्तमाला में वैष्णव संप्रदाय के सभी सन्तों का जीवनचरित है। परन्तु 'चौरासी वार्ता' में केवल वल्लभाचार्य के अनुयायियों का वर्णन है। इस पुस्तक में रास की लीला पर अधिक बल दिया गया है। साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वशाली है, क्योंकि यह गद्य में लिखा गया है, और हिन्दी के आद्य गद्य ग्रन्थों में से एक है। इसकी शैली सीधी, सरल तथा अत्यन्त सरस है। इसे लिखे आज ३५० के लगभग वर्ष होगये परन्तु इसकी भाषा प्राय: वही है जो आजकल बोली जाती है।

वल्लभाचार्य के अन्य शिष्य—

भगवान् हित १२७४ संभवत: विट्ठलनाथ के शिष्य थे। इन्होंने कृष्ण के विषय में गीत लिखे थे जो साहित्य की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं।

रसखान १६१४

रसखान पहले मुसलमान थे। इनका पहला नाम सैय्यद इब्राहीम था। इन्होंने भक्ति रस की अच्छी कविता की। रसखान ने अपनी प्रेम वाटिका के अन्त में निम्नलिखित दोहे लिखे हैं—

देखि गदर दिन साहवी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा वंस की, ठसक छोरि रसखान॥

प्रेम निकेतन श्रीवनहिं, आइ गोवरधन धाम।
लह्यो सरन चित चाहिकै, जुगल सरूप ललाम॥

तोरि मानिनी में हियो, मोरि मोहिनी मान।
प्रेमदेव की छविहिं लखि, भये मियां रसखान॥

इससे प्रत्यक्ष है कि ये दिल्ली वासी किसी शाह वंश में उत्पन्न हुए थे और अपनी प्रेमिका पर पूर्णरूपेण आसक्त थे, किन्तु करुणार्द्र हृदय होने के कारण, जब दिल्ली की दुर्गति इनसे न देखी गई तब इन्होंने अपनी विलास प्रियता को तिलांजलि दे दी और राजधानी का परित्याग कर दिया। इस प्रकार दिल्ली पर पड़ी आपत्ति ने इनके परिसीमित प्रेम को विशुद्ध आत्मिक रूप में परिणत कर दिया और ये कृष्ण के भक्त हो परमात्मा की स्तुति करने लगे। वह कहते हैं—

ब्रह्म मैं ढूंढ्यौ पुरानन गानन,
वेद रिचा सुनौ चौगुनो चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूं न कितूं,
वह कैसो सरूप और कैसो सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्‍यो,
रसखानि बतायो न लोग लुगायन।
देखो दुरो वह कुंजकुटीर में,
बैठो पलोटत राधिका पायन॥

पिछले दो पद दार्शनिक तत्त्वों में उड़ती हुई इस कविता को धराधाम पर ले आते हैं और हमें निष्पाप सौन्दर्य में परमात्मा के दर्शन कराते हैं। रसखान जानता है कि यथार्थ कविता का ध्येय (दार्शनिक दृष्टि की सहायता के बिना ही) जीवन के सरल तत्त्वों में सौन्दर्य का उद्बोधन करना है। 'Great poetry is essentially bete. Believe that there lies its strengrh and its glory' Baudelaire. वह दार्शनिक तत्त्वों को जानता हुआ भी उनसे पृथक् रहता है, और केवल अपनी कविता के वल से विशुद्ध सौन्दर्य का चित्र खींचना चाहता है। वह एक स्थान पर कहता है—

ग्वालन संग जैबो वन ऐबो सुगाइन संग,
हेरि तात गैयों हाहा नैन फरकत हैं।
ह्या के गज मोती माल वारौं गुंज मालन पै,
कुंज सुधि आए हाथ प्रान धरकत हैं।
गोवर को गारो सुनौ मोहि लगै प्यारो,
कहा भये महल सोने को जटत मरकत हैं।
मन्दर तें ऊंचे यह मन्दिर हैं द्वारिका के,
व्रज के खिरक मेरो हिये खरकत हैं॥

सरलता के ऊपर सौन्दर्य की कैसी सुन्दर छाप है? प्रत्येक पद से सौन्दर्यसार छना पड़ता है। रसखान गोवर से लेकर गणेश तक में एक ही सौन्दर्य तत्त्व का स्पन्दन देखता है, उसके यहां अच्छा और बुरा, स्थूल और सूक्ष्म एक ही पदार्थ के दो पहलू हैं। वह ऐश्वर्य को भोग चुका है, उसने कृत्रिम जगत् के हर एक पहलू को भली भांति देखा है, अन्त में वहां कुछ न पाकर वह प्रेम के अविनाशी मन्दिर का पुजारी बना है। फलतः उसके गीतों में अनुभव का प्रकाश है, यथार्थ ज्ञान का वल है, और यथार्थ भक्ति की सुनहरी बोल है। वह तत्त्वों की पृथक् पृथक् विवेचना कर

चुका है और अब उनके मार्मिक निष्कर्ष को समझने का प्रयत्न कर रहा है। Baudelaire का यह कथन 'Seeing things in the large and of considering them above all in their total effect' किसी अंश में रसखान की कविता पर लागू हो सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि रसखान की कविता में जीवन की घोर समस्याओं पर प्रकाश नहीं डाला गया। घोरता से उत्पन्न हुए उत्साह तथा साहस का उसकी कृति में अभाव है। गुलाब के पुष्प के सौन्दर्य निरूपण में मस्त हो उसने कांटों को भुला दिया है। उसकी दृष्टि उष्णतम (ग्रीष्म) वात्या के पश्चात् आने वाले स्वर्गीय जलासार पर तो पड़ती है, परन्तु उस उदात्त शान्ति को उत्पन्न करने वाले, वातावरण के संताप पर नहीं जाती। परन्तु इन सब अपूर्णताओं के रहते हुए भी रसखान की कविता में एक प्रकार का बल है, एक प्रकार की संसूचना है जो इस बात को बताती है कि वह जीवन के वैभव को, और वैभवजन्य क्लेशों को भुगत चुका है। वह वैभव की राशि में बैठ कर भी आत्मा के आन्तरिक संघर्ष से संतप्त हो चुका है।

'कोटिन हूं कलधौत के धाम,
करील के कुंजन ऊपर वारौं'

से वैभव के प्रति उसकी यथार्थ घृणा टपक रही है।

'आठहुँ सिद्धि नवों निधि को सुख,
नन्द की गाइ चराइ बिसारौं।

से उसके मन का विकट निर्धारण प्रकट होता है।

उसकी कविता प्रेममय होते हुए भी विषय वासना से ऊपर है। उसमें शारीरिकता को नियंत्रित करके सच्चे विश्वजनीन प्रेम का व्याख्यान किया गया है। रसखान ने बहुत कुछ देखा सुना, उस सब का उसने 'विशुद्ध प्रेम' में निष्कर्ष निकाला, और उस प्रेम

की धार्मिक भावयोग में व्याख्या की। उसकी कविता में लावण्य है, लालित्य और कला है, परन्तु इन सब को कवि ने कविता के अन्तरंग अर्थात् भाव के प्रति गौण रक्खा है और यही उसकी विशेषता है। फलतः रसखान की कविता अलंकार तथा भाव दोनों की दृष्टि से उच्च कोटि की है।

कादिरबख्श　　रसखान के चेले थे और हिन्दी के कवि थे।

राधावल्लभ संप्रदाय—

इस पन्थ की स्थापना १५५८ के लगभग वृन्दावन में हुई थी। इसके अनुयायी कृष्ण की अपेक्षा राधा को अधिक महत्त्वशाली मानते हैं, और उसी की पूजा करते हैं। इस पन्थ के प्रवर्तक का नाम हितवंश, हितहरिवंश अथवा हितजी है। इनके पिता गौड़ ब्राह्मण थे और मुसलमान सम्राट् के यहां काम करते थे। हरिवंश ने संस्कृत में 'राधा सुधानिधि' नाम की पुस्तिका लिखी थी जिसमें १७० श्लोक थे। हिन्दी में इन्होंने 'चौरासी पद' की रचना की। इन पुस्तकों में रासलीला का नग्न वर्णन है और शृङ्गार की पराकाष्ठा है। इतना होने पर भी हरिवंश का स्थान कवित्व की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में उच्च है। इनकी कविता का एक नमूना यहां दिया जाता है—

नागरता की रासि किसोरी।
नवनागर कुल मौलि सांवरो बरबस किये चितै मुख मोरी ॥
रूप रुचिर अंग अंग माधुरी बिनु भूषन भूषित ब्रजगोरी।
छिन छिन कुसल सुगन्ध अंग में कोक रमसरस सिन्धु झकोरी ॥
चंचल रसिक मदन मोहन मन राख्यो कनक कमल कुच कोरी।
प्रीतम नैन जुगल खंजन खन बांधे विविध निबंधनि डोरी ॥
अवनी उदर नाभि सरसी में मनहु कछुक मादिक मधु घोरी।
हितहरिवंस पिवत सुन्दर वर सींव सुदृढ निगमनि को ठोरी ॥

इस वर्णन की स्वाभाविकता तथा सरसता से इनका कवित्व प्रत्यक्ष हो जाता है।

नागरीदास — १८वीं सदी के उत्तर भाग में हुए थे। हिन्दी के चोखे कवि थे।

ध्रुवदास १६३० — सिद्ध हस्त लेखक थे। इन्होंने राधावल्लभ संप्रदाय पर अनेक कविताएं की थीं।

श्रीहित वृन्दावनदासजी चाचा (१७४३) — ने कृष्ण की स्तुति में मनोहर गीत बनाए थे।

हरिदासी पन्थ भी वृन्दावन में पाया जाता है। इसके प्रवर्तक

हरिदासी पन्थ — हितहरिदास जी १६वीं सदी के उत्तर काल तथा १७वीं सदी के आरम्भकाल में हुए थे। इनके और चैतन्य के उपदेशों में प्रत्यक्ष समानता है। इन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में कविता की है। इनके 'साधारण सिद्धान्त' तथा 'रस के पद' प्रसिद्ध हैं। कवित्व की दृष्टि से इनका स्थान ऊंचा है। हरिदास के पश्चात् पन्थ की गद्दी के मालिक हुए विट्ठलविपुल और उनके शिष्य हुए विहारिणीदास। ये दोनों हिन्दी के चोखे कवि थे। विहारिणीदास हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे हैं। इनकी कविता में पराकाष्ठा का शृङ्गार है।

सीतल १७२३ — सीतल भी इस पन्थ के अगुआओं में से एक थे और हिन्दी के अच्छे कवि थे।

सहचारी शरण—

सहचारी शरण भी हरिदासी थे। इनके रचे 'ललितप्रकाश में'

सहचारी शरण १७२३ — पन्थ के प्रवर्तक हरिदास जी की उक्तियों का सग्रह है।

कृष्ण संबन्धी कविता करनेवाले इतर कवि—

गदाधर भट्ट १५६५ — कृष्ण के पूजक थे, चैतन्य के अनुयायी थे, और चोखे कवि थे।

जिनकी कविता का पहिले विवेचन होचुका है, श्री कृष्ण के पूजक थे। सतसई के अधिकांश दोहों का

बिहारीलाल चौबे

कृष्ण अथवा उसकी प्रेमिकाओं के साथ संबन्ध है। रीतिप्रवाह के अन्य लेखकों ने भी श्री कृष्ण की स्तुति में पर्याप्त लिखा है।

ताज

१७ वीं सदी के प्रथमार्ध में हुई थी, एक मुसलमान की धर्मपत्नी होने पर भी कृष्ण की आराधिका थी। उसकी कृष्ण विषयक कविता का नमूना यह है —

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी,
तुम दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देवपूजा ठानी मैं निवाजहू भुलानी,
तजे कलमा कुरान साड़े गुनन गहूँगी मैं।
स्यामला सलोना सिरताज सिरकुल्ले दिये,
तेरे नेहदाग में निदाग हो दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान तांडी सूरत पै,
तांड नाल प्यारे हिंदुवानी हो रहूँगी मैं॥

एक स्त्री के हृदय की कैसी मनोरम उमंगें हैं ? उसके दिल का कैसा हावमय चित्रण है।

भीष्म १६५०

भीष्म ने भागवतपुराण के दशम स्कंध का हिन्दी कविता में अनुवाद किया था। उस अनुवाद का नाम 'बालमुकुन्द लीला' है।

बक्शी हंसराज १७२२

आप पन्ना के कायस्थ थे और हिन्दी के अच्छे कवि थे। इन्होंने अपने 'स्नेहसागर' में राधा और कृष्ण की केलिक्रीडा का मार्मिक वर्णन किया है।

आप बैसवाड़ा के ब्राह्मण थे। इन्होंने १७६१

मान — में कृष्णकाण्ड का 'कृष्ण कल्लोल' नामक अनुवाद किया था।

व्रजवासीदास–१७७० — यह वृन्दावन के रहनेवाले थे, इन्होंने अपने 'व्रजविलास' में कृष्ण की (व्रज में की गई) लीलाओं का अच्छा वर्णन किया है। व्रजवासीदास वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

सुन्दरी कुँवरीबाई १७६०–१७९८ — यह राठौर वंश की राजकुमारी थी, रूपनगर तथा किशनगढ़ के महाराजा राज की पुत्री थी। राघवगढ़ के महाराजा बलभद्रसिंह के साथ इनका विवाह हुआ था। इस वंश में अनेक कवि होगए हैं। सुन्दरी बाई की कविता में भक्ति तथा प्रेम का अच्छा सम्मिलन है। उसके कृष्णविषयक भजन प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता का नमूना यह है—

श्याम नैनसागर में नैन वारपार थके,
नाचत तरंग अंग अंग रंग पगी है।
गाजर गहर धुनि बाजन मधुर बेन,
नागनि अलक जुग सोधै सगबगी है।
भंवर त्रिभंगताई पानिप लुनाई तामें,
मोती मनि जालन की जोति जगमगि है।
कान पौन प्रबल धुकाव लोपी पाज तामें,
आज राधे लाज की जहाज डगमगी है।

मंछित द्विज–१७७९ — यह बुन्देलखण्ड के रहनेवाले थे, इनकी 'सुरभिदानलीला' (जिसमें कृष्ण की बाललीला का वर्णन है) तथा 'कृष्णायन' जिसमें कृष्ण का जीवन-चरित है, प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता सरस है और सुन्दर है।

१८४२ के लगभग बनारस में उत्पन्न हुई थीं। आप राजा

बीबी रतन कुंवार शिवप्रसाद की (जिन्हों ने १९ वीं सदी में हिन्दी साहित्य के प्रचार के लिये स्तुत्य प्रयत्न किया है) दादी थीं। इन्हों ने अपने प्रेमरतन में कृष्ण के पूजकों की विशेष विशेष घटनाएं लिखी हैं । इसके सिवाय इन्होंने और भी अनेक कविताएं रची हैं।

कृष्ण संप्रदाय के साहित्य पर सामान्य दृष्टि—

कृष्ण संप्रदाय की कविता का बहुतर भाग कृष्ण की रासलीला के साथ संबन्ध रखता है। कृष्ण और राधा की केलिक्रीडा का वार बार वर्णन किया गया है। कवियों ने कृष्ण के श्रृङ्गार पर एक प्रकार के भावयोग का परदा डाल कर उस में धार्मिकता का आभास उत्पन्न कर दिया है। इनके मन में सृष्टि के आदि मूल कृष्ण हैं और उनकी लीला ही सृष्टि के रूप में मनुष्य के सामने नाचती है। ऐसी दशा में कृष्ण की उत्पादक प्रवृत्ति तथा लीलाओं पर अधिक बल देना स्वाभाविक है। राधा के सिवाय माया अन्य पदार्थ नहीं है, राधाकी सखियां ही भेदवाद का श्रेष्ठ रूप हैं, और माया तथा उससे उत्पन्न होने वाला भेद परमात्मरूप कृष्ण से भिन्न कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। लीलामय भगवान् की पूजा का सब से अच्छा साधन उनकी लीलाका कीर्तन करना है। ऐसी दशा में पूजा अथवा भक्ति शृङ्गाररस के विशुद्ध रूप के सिवाय और कुछ नहीं रह जाता। इस शृङ्गार में राधाका आत्मसमर्पण है, गोपियों का आत्म वलिदान है, परन्तु इस समर्पण में क्लेश नहीं, प्रेम की वह एकान्तता नहीं जो सीता के प्रेम में है। इस संप्रदाय में नर नारी लीलामय भगवान् की लीला का अथवा उसकी उत्पादिका शक्ति की पूजा करते हैं। यह पूजन जब तक समाज के श्रेष्ठ मनुष्यों में परिसीमित रहा तब तक उन्नति का साधन और जीवन समय में भी मोक्ष का प्रवर्तक बना रहा, परन्तु ज्यों ही इसका साधारण समाज में प्रचार हुआ त्यों ही इस में पतन का

आभास होने लगा। आत्मविस्तार (Expansion of self) के साथ ही उन्नति के लिये संकोचात्मक नियमों का होना आवश्यक है। प्रेम के विश्वजनीन हो जाने पर भी स्त्री के प्रेम का केन्द्र पुरुषविशेष में होना उचित है और पुरुष के प्रेम का केन्द्र अपनी पत्नी में होना आवश्यक है। क्योंकि केन्द्र ही में से विस्तृत प्रेम का यथार्थ-भास संभव है (कम से कम साधारण पुरुषों के लिये)। परन्तु इस बात का कृष्ण पूजक संप्रदाय में पीछे से आकर अभाव सा हो गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि जो बातें अब तक प्रतीक मात्र समझी जाती थीं, जिन बातों में प्रकृति तथा परमात्मा की अलौकिक केलि क्रीडा का वर्णन किया गया था, अब यथार्थ समझी जाने लगीं और नर नारियों के पारस्परिक प्रेम बंधन में एक प्रकार की शिथिलता आगई। कृष्ण संप्रदाय के पतन का मूल इसी बात में है।

उपर्युक्त कवियों में बहुतों की कविता उच्च कोटि की है। उसमें भाव के साथ ही भाषा पर भी बहुत अधिक ध्यान दिया गया है। इस अध्याय के प्रत्येक कवि की कृति में रीति प्रवाह का प्रभाव झलक रहा है। कृष्ण संप्रदाय का केन्द्र मथुरा वृन्दावन में है। यह स्थान मुगल सम्राटों की राजधानी दिल्ली के समीप है। कहा जाता है कि सूरदास का दरबार के साथ संबन्ध भी था। ऐसी दशा में मुगल कला तथा लालित्य का मथुरा के संप्रदाय पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। फलतः हम देखते हैं कि व्रजभाषा की कविता में लालित्य तथा कला दोनों पराकाष्ठा पर पहुँच गये हैं। भाषा और शैली दोनों परिपक्व हैं, भाव भी निखरे हुए हैं, और कविता (कम से कम अपने बाह्यांगों में) सब प्रकार से परिपूर्ण है। व्रजभाषा के काव्यों ने जनता को इतना मुग्ध किया कि हिन्दी कविता की एक मात्र भाषा व्रजभाषा समझी जाने लगी और इस समय के पश्चात् कृष्ण तथा रामावत दोनों संप्रदायों के कवि प्रायः व्रज भाषा ही में कविता करने लगे।

अध्याय १३

गाथा संबन्धी तथा अन्य इतिहास।
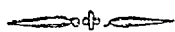
(१५५०-१८००)

मेवाड़ के चारण

चारणों की कुल परम्परा राजपूताने में तथा हिन्दुस्तान के अन्य प्रान्तों में अब तक किसी न किसी रूप में अपना काम करती चली आई है, परन्तु और सब स्थानों की अपेक्षा मेवाड़ में इन लोगों का अच्छा आदर होता था। मेवाड़ के राणा जगत्‌सिंह के समय का (जिनका राज्य काल ११२८ से ११५४ तक था) 'जगत् विलास" नाम का एक गाथाग्रन्थ मिलता है जिसके लेखक के विषय में अब तक कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ। जगत्‌सिंह के उत्तराधिकारी राणा राजसिंह, जो औरंगजेब के पक्के दुश्मन थे (१६५४-१६८१) चारणों की खूब आवभगत करते थे। इनके समय में लिखे गये 'राजप्रकाश' नामक गाथाग्रन्थ के कर्ता के विषय में भी हमें कुछ पता नहीं है। राणा राजसिंह के कहने पर उनके राज कवि मान ने (१६६०) 'राजदेव विलास' नाम का ग्रन्थ लिखा जिसमें औरंगजेब तथा राजसिंह के युद्धों का वर्णन है। कवि सदाशिव (१६६०) भी इन्हीं के दरबार में रहते थे और उन्होंने अपने आश्रयदाता के गुणकीर्तन में 'राजरत्नाकर' नाम की पुस्तक लिखी थी। राणा राजसिंह के उत्तराधिकारी राणा जयसिंह (१६८१-१७००) हुए। यह भी कवियों के आश्रयदाता थे। इन्होंने अपने दरबार में रहने वाले कवियों से 'जयदेव विलास' नामक ग्रन्थ लिखवाया जिसमें अनेक राजाओं के साथ होने वाले उनके अपने युद्धों का वर्णन है। रणछोड़ ने भी, जिसका काल

अभी तक अनिश्चित है, 'राजपत्तना' नाम का एक गाथाग्रन्थ लिखा है।

मारवाड़ के चारण

मारवाड़ में भी चारणों का अच्छा आदर होता आया है। कहा जाता है कि महाराजा सूरसिंह ने एक बार एक ही दिन में अपने दरबार के ६ कवियों को ६ लाख रुपये पारितोषिक रूप में दे डाले थे। इनके पुत्र गजसिंह कवियों को मानते थे, और इनके पोते अमरसिंह भी उनका आदर करते थे। किसी बात पर अमरसिंह का अपने पिता के साथ झगड़ा होगया और उन्हें मारवाड़ छोड़ना पड़ा। वे सम्राट् शाहजहां के दरबार में पहुँचे, और वहां (बादशाह द्वारा किये गये) अपने अपमान का बदला लेने के लिये वे बादशाह का वध किया ही चाहते थे कि दरबारियों ने उन्हें घेर लिया और उनका वध कर डाला। अमरसिंह के दरबारी कवियों में एक बनवारीलाल थे। इन्होंने अपने आश्रयदाता की स्तुति में अनेक कविताएं रचीं। और दूसरे थे रघुनाथराय इन दोनों का काल १६३४ के लगभग बताया जाता है। मारवाड़वर्ती जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह ने (१६८१--१७२४) अपने कवियों से 'राजरूपकाख्यात' नाम का ग्रन्थ लिखवाया जिसमें सूर्यवंश के आरंम्भ से लेकर १७.४ तक का (उनके अपने वंश का) इतिहास दिया हुआ है। करण नाम के चारण कवि (जोधपुर के) अजीतसिंह के पुत्र महाराज अभयसिंह के ज़माने में हुए (१७२४-१७५०)। इन्होंने अपने 'सूर्य प्रकाश' नामक ग्रन्थ में ७५०० पंक्तियों में १६३८ से १७३१ तक का इतिहास लिखा था। महाराजा विजयसिंह, जिसने १७५३ से १७८४ तक जोधपुर में राज्य किया था स्वयं कवि थे और उन्हों ने अपने दरबारी कवियों से 'विजय विलास' नाम का ग्रन्थ लिखवाया, जिसके १००००० दोहों में विजयसिंह तथा उसके समीप सम्बन्धी रामसिंह के पारस्परिक युद्धों का वर्णन है।

और दरबारों में भी चारणों को आश्रय मिलता था। म्होव के राजा जगत्सिंह के द्वारा शाहजहां के विरुद्ध किये गये राजविप्लव का गंभीरराय ने (१६५०) अच्छा वर्णन किया है। राजा उदयसिंह के पड़पोते रावरतन (१६५०) की स्तुति में किसी चारण कवि ने (जिसके नाम धाम का कुछ पता नहीं) 'रावरतन रायसा' नाम का इतिहास ग्रन्थ लिखा था। जयपुर के सवाई जयसिंह जिन्होंने १६९९ से १७४३ तक राज्य किया, कवियों के आश्रयदाता ही नहीं थे, प्रत्युत स्वयं भी उत्कृष्ट कवि थे। इन्होंने 'जयसिंह कल्पद्रुम' नाम का अपना जीवनचरित अपने आप लिखा है। इनके साले, बूंदी के राजा बुधराव कवियों को मानते थे और स्वयं भी अत्यन्त उत्कृष्ट तथा सरस कविता करते थे। जोधराय (१७२८) ब्राह्मण थे, इन्होंने नीमराणा के महाराजा के कहने पर 'हम्मीर काव्य' लिखा जिसमें उन्हीं बातों पर फिर प्रकाश डाला गया है, जो १४वीं सदी में होने वाले कवि शार्ङ्गधर ने लिखी थीं। घनश्यामशुक्ल (१६८०) रीवां के राजदरबार में रहते थे और राजा की स्तुति में कविता करते थे। वे बनारस के राज-दरबार में भी रहे थे। इनकी कविता उच्चकोटि की मानी जाती है।

अन्य दरबारों के चारण कवि

हरिकेश १७२१

पन्ना के राजा छत्रसाल के दरबार में रहते थे। यह वीररस में अच्छी कविता करते थे।

सूदन १७५०

जाति के ब्राह्मण थे, भरतपुर के महाराजा के पुत्रों में से एक के, जिनका नाम सूरजमल था, दरबार में रहते थे। इन्होंने अपने लिखे सुजानचरित, में उन युद्धों का वर्णन किया है जिनमें सूरजमल ने भाग लिया था। सूदन का वर्णन अच्छा है, और वह वीररस को खूब निबाहते हैं। युद्ध की तैयारियों के वर्णन में वह

लालकवि के समान थे परन्तु युद्ध के वर्णन में लालकवि इनसे कहीं बढ़कर थे। सूदन के युद्ध वर्णन का नमूना देखिये—

गरदगुबार में अपार तरवारधार
मानों, नीहार में किरनि भीर भानु की।
कहरि लहरि प्रलै सिन्धु में अधीर मीन,
मानों धुरवान में तमक तड़ितान की॥
दावानल ज्वाल है कि दावा को अचल चल,
ऐसी जंग देखी तहां प्रवल पठान की।
भृकुटी भयान की भुजान की उभय सान,
मंगल समान भई मूरति सुजान की॥

इस वर्णन को पढ किसका चित्त वीररस के समुद्र में हिलोरे न लेने लगेगा? सुजान के युद्ध से अशेष प्रकृति में खलबली मच गई है। ध्रुव प्रदेशों में विजली चमक रही है और नीहार के आवरण में सूरज की किरणें नाच रही हैं। प्रलय के समुद्र में तूफान आ रहे हैं, धूलि का अपार समुद्र खौल रहा है और उसमें नरमत्स्य विकल हो उछल कूद रहे हैं। सुन्दर वर्णन है, अभिप्रेत रस में विश्व को रंग देना ही कवि की विशेषता है।

लालझा १७८०

लालझा चारणथे, इन्होंने विहारी भाषाके मैथिली उपभेद में कविता की थी। यह मिथिला के सर्वश्रेष्ठ कवियों में गिने जाते हैं। इन्होंने अपनी 'कनरपी घाट लड़ाई' नामक कविता में, दरभङ्गा के महाराजा नरेन्द्रसिंह को विजयी वताते हुए, कनरपी घाट की लड़ाई का अच्छा वर्णन किया हैं।

लालकवि

बुन्देलखण्डवर्ती पन्ना के महाराजा छत्रसाल (१६४६-१७३१) अपने दरबार में कवियों को आश्रय देते थे। इनके दरवारी कवियों में लालकवि सब से अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका पूरा नाम

गोरेलाल पुरोहित है। प्रेमियों के विषय में इनकी कविता मार्के की है। इनका रचा छत्रप्रकाश प्रसिद्ध है। यह ब्रजभाषा का कवितात्मक ग्रन्थ है। इसमें बुन्देलखण्ड के प्राचीन राजाओं की कुलपरंपरा का और उनके पिता के जीवन चरित्र का विस्तार के साथ वर्णन है। वर्णनात्मक कविता में लालकवि सिद्धहस्त हैं, और युद्ध के वर्णन में तो वह बहुत ही बढ़े चढ़े हैं।

इस युग का शेष साहित्य—

उपर्युक्त गाथासाहित्य के लेखकों तथा पहले अध्यायों में वर्णित साहित्य के रचयिताओं के सिवाय इस युग में और भी अनेक लेखक हुए, जिन्हों ने भांति भांति के विषयों पर कविता की। इन दिनों वेदान्त, जैनधर्म, नीति शास्त्र, हास्यरस तथा अन्य भी अनेक विषयों पर कविता की गई। राजनीति, कृषिविद्या, ज्योतिष तथा पशु विज्ञान पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। कोष, व्याकरण तथा न्याय, सांख्य आदि शास्त्रों पर भी अच्छा काम किया गया। मुख्य मुख्य लेखकों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है—

नाथ कवि १५८४ — ब्रजमें रहते थे, ऋतु और तत्संबंधी विषयों पर कविता करते थे।

मुबारक अली १५८३ — हरदोई जिलेके बिलग्राम नामक स्थान में रहते थे, इन्हों ने छोटी छोटी अनेक कविताएं रची थीं, जिनका अब भी प्रचार है।

नाभिर १६०० — आगरा में रहते थे, निष्णात कवि थे। इन की कविता को आदर के साथ पढ़ा जाता है और प्रमाणरूपेण पेश किया जाता है।

बनारसी दास १५८६ — जैनधर्म के अनुयायी थे, जौनपुर में रहते थे। इसकी मृत्यु १६४१ के लगभग हुई थी। इनकी कविता धार्मिक है और कविता

की दृष्टि से अच्छी है। अपनी श्रेष्ठ कविता में उन्हों ने अपने जीवन-चरित का वर्णन किया है।

श्रीधर १६२२ — राजपूताना के थे, इन्हों ने अपने 'भवानी-छन्द' नामक ग्रन्थ में दुर्गा की स्तुति की है।

घासी राम १६२३ — ने प्रेम, नीति तथा आचार पर अच्छी कविता की है।

पुहकर १६३४ — जाति के कायस्थ थे, जहांगीरने किसो अपराध पर इन्हें कैद कर दिया था, परन्तु जब उसने कारागार में लिखी गई इनकी 'रसरतन' नामक कविता की स्तुति सुनी तब इन्हें क्षमा कर दिया। कविता एक कथा के रूप में है।

दामोदरदास १६६० — दादूपन्थी संप्रदाय के मानने वाले थे। इन्हों ने मार्कण्डेय पुराण का राजस्थानी में अनुवाद किया था। यह ग्रंथ गद्य में लिखा होने के कारण महत्त्वशाली है।

छत्र १७०० — ग्वालियर रियासत के अंटेर नामक गांव में रहते थे और जाति के कायस्थ थे। इन्हों ने 'विजय-मुक्तावली' नामक ग्रन्थ लिखा था। यह महाभारत के एक अंश का हिन्दी कवितात्मक अनुवाद है।

सबलसिंह १६७० — एक राजघराने में उत्पन्न हुए थे। इन्हों ने महाभारत का २४००० दोहों में संक्षिप्त अनुवाद किया था।

बैताल १६७७ — विक्रमसाहि के दरबार में रहते थे। यह नीति पर कविता करते थे। इनकी फुटकर कविता स्तुत्य है।

देवीदास १६८९ — करौली के राजा रतनपालसिंह के दरबार

में रहते थे। इनका 'प्रेम रत्नाकर' नीति के विषय में प्रसिद्ध है।

मोतीराम १६८३ — इन्हों ने 'माधोनल' नाम की कथा को ब्रजभाषा में लिखा था। लल्लूजी लाल ने इसका उर्दू में अनुवाद किया है।

भूधरदास १७२४ — जैनी थे, इन्हों ने जैनधर्म पर 'जैनशतक' तथा 'पार्श्व पुराण' नामक ग्रन्थ अच्छे लिखे हैं। कविता की दृष्टि से इनका स्थान उच्च है।

घाघ १६९६ — कन्नौज के रहने वाले थे, कृषिविद्या पर इन्हों ने अच्छा लिखा था। इनकी कहावतें उत्तर भारत में प्रसिद्ध हैं।

गंगापति १७१९ — ने हिन्दुओं के दर्शनों से संबन्ध रखने वाली कविता की थी। इनके 'विज्ञान विलास' में गुरु और शिष्य के प्रश्नोत्तरों द्वारा दार्शनिक रहस्य समझाए गये हैं। मनुष्य को वेदान्ती के समान उदासीन जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया गया है।

कृपाराम १७२० — जयपुर के राजा सवाई जयसिंह के दरबार में ज्योतिषी का काम करते थे। इन्हों ने हिन्दी में ज्योतिष विषय पर एक ग्रन्थ लिखा था।

गिरिधर १७१३ — दोआबा के रहने वाले थे, इनकी बनाई आचार विषयक कुण्डलियां प्रसिद्ध हैं। गिरिधर कुण्डलियों के आचार्य थे, इनकी कविता कहावतों की खान है। इनकी कुण्डलियों का एक नमूना यहां दिया जाता है—

सोना लावन पिउ गये, सूना करि गये देश।
सोना मिले न पिउ मिले, रूपा ह्वै गये केश॥

रूपा ह्वै गये केश रोय रंग रूप गंवाया ।
सेजन को बिसराम, पिया बिन कबहुँ न पाया ॥
कह गिरिधर कविराय, लोन बिन सबै अलोना ।
बहुरि पिया घर आव, कहा करिहौं ले सोना ॥

कृष्णगढ (राजपूताना) के महाराजा थे । उनका यथार्थ नाम सावत सिंह था । यह तलवार और लेखनी दोनों में निष्णात थे । इनके प्रकृति वर्णन में जान है । इनकी दृष्टि अत्यन्त विस्तृत है । यह पाठक और प्रकृति दोनों को अभिप्रेत रस में मग्न करने की शक्ति रखते हैं । इनकी कविता का नमूना देखिये—

श्रीनागरीदास १७२३

उज्ज्वल पख की रैन चैन उज्ज्वल रस दैनी ।
उदित भयो उडुराज अरुनद्युति मन हर लैनी ॥
महा कुपित ह्वै काम ब्रह्म अस्त्रहि छोड्यो मनु ।
प्राची दिसि ते प्रजुलित आवत अगिनि उठी जनु ॥
दहन मानपुर भये मिलन को मन हुलसावत ।
छावत छपा अमन्द चन्द ज्यों त्यों नभ आवत ॥
सेत रजत की रैन चैन चित मैन उमहनी ।
तैसी मन्द सुगन्ध पौन दिन मनि दुख दहनी ॥

उपर्युक्त कविता में प्रकृति का सुन्दर तथा सरस वर्णन है ।

नूर मुहम्मद १७४३ — ने 'इन्द्रावती' नामक कविता लिखी थी । यह जायसी के पद्मावत के समान एक प्रेम गाथा है ।

मनबोध झा १७५० — इनका नाम भोलनझापी था । यह दरभंगा के रहने वाले थे और मैथिल भाषा के विख्यात कवि थे । इनके लिखे हरिवंश के अब केवल १० अध्याय उपलब्ध हैं ।

निधान १७५१ — पशुशल्यशास्त्र में निष्णात थे

आपने पशुशल्यशास्त्र पर शालिहोत्र नाम का ग्रन्थ लिखा था। निधान के रचे हुए ग्रन्थ का नाम भी शालिहोत्र ही है.।

दयानिधि १७९४

रामचन्द्र

जाति के ब्राह्मण थे, १८वीं सदी के अंतिम वर्षों में हुए थे। इन्हों ने पार्वती की स्तुति में 'चरण चन्द्रिका' नाम का ग्रन्थ लिखा था। कवित्व की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अच्छा आदर है।

अध्याय १४

नवीनयुग का सिंहावलोकन
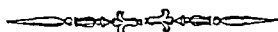
आधुनिक साहित्य

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापित होने के पश्चात् बना हुआ हिन्दी साहित्य प्राचीन हिन्दी साहित्य से बहुत सी बातों में भिन्न है। यह समुज्ज्वल है, विविध प्रकार का है, और मुख्यतः भौतिक जीवन के साथ संबन्ध रखने वाला है। इसका विकास बड़ी तेजी और सुन्दरताके साथ हो रहा है। भांति भांति के विषयों पर अच्छी अच्छी पुस्तकें लिखी जा रही हैं। धार्मिक कविता की यद्यपि अब भी कमी नहीं तथापि जनता का ध्यान अब धार्मिक कविता की ओर उतना नहीं जितना कि पहले था। पद्य की अपेक्षा आजकल गद्य का अधिक आदर हो रहा है। साधारणतया पठित समुदाय का ध्यान भाषा पर उतना नहीं जितना भावों पर।

वर्तमान हिन्दी साहित्य भारत में अंग्रेजों के आने से पहिले के हिन्दी साहित्य से भिन्न है

संक्षेप में कहा जा सकता है कि वर्तमान युग में राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण भारत का साहित्य भी बहुत कुछ बदल गया है। हरिश्चन्द्र की कविता को तुलसी की कविता से मिलाइये, आकाश-पाताल का भेद दीख पड़ेगा। प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्राचीन उपन्यासों के साथ तुलना कीजिये प्रबल अन्तर दीख पड़ेगा। वर्तमान कवियों की कविता तथा गद्य में राजनीति, समाज शास्त्र तथा जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाली अन्य भौतिक बातों का व्याख्यान है तो

प्रा चन कवियों की (पद्यमय) कविता में एकान्ततः धार्मिक तत्त्वों की अथवा शृङ्गाररस की विवेचना है। आधुनिक लेखक का प्रधान उद्देश्य भारत की विभिन्न जातियों को जातीयता के एक सूत्र में संगठित करना है तो प्राचीन लेखकों का प्रमुख ध्येय जनता को सांसारिक कष्टों से उपेक्षा दिला कर अथवा उन्हें शृङ्गाररस की बहती हुई प्रसन्न सरिता में निमग्न करके संसार से विमुख करना है। व्यापक राष्ट्रीय जीवन के उदय से पहले साहित्य का एक-मात्र ध्येय हो भी यही सकता था। इस ध्येय की पूर्ति में हिन्दी के प्राचीन कवियों ने कमाल हासिल किया था।

विभाजक रेखा

हिन्दी के प्राचीन तथा नवीन साहित्य के बीच सीधी विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। विचारों तथा विचारों के प्रकाशन के ऊपर किसी व्यक्ति, *देश अथवा युग विशेष का एकान्त स्वत्व नहीं होता। सामान्यतया हिन्दी का वर्तमान युग भारत में अंग्रेजों के साम्राज्य की स्थापना के साथ प्रारंभ होता है। परन्तु साम्राज्य की स्थापना और पाश्चात्य विचारों के प्रचार में १७५७ से १८५७ तक की पूरी एक सदी आ जाती है। इन १०० सालों की एक विभाजक रेखा मानने से वर्तमान युग की विशेष विचार धाराओं के स्वाध्याय में यथेष्ट सहायता नहीं मिल सकती। इसलिये किन्हीं

---

*Neither reigns nor years, nor centuries, nor any arbitrary measure of time in the gradual evolution of thought can be exactly applied, or have any formative influance. A period of many years, having some wellkown name by which it can be labelled, is a mere artifice of classification.' Frederic Harrisson Studies in Early Victorian Literature. P. 2

वर्ष विशेषों के रूप में विभाजक रेखा की कल्पना करना आवश्यक प्रतीत होता है।

१८०० को विभाजक रेखा माना जा सकता है

आधुनिक साहित्य को प्राचीन साहित्य से विभक्त करने वाली यह विभाजक रेखा १८०० में मिल जाती है। हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक विकास पर ध्यान देते हुए कहा जा सकता है कि सन् १८०० के साथ * जहां भारत की अन्य भाषाओं के साहित्य में भारी परिवर्तन आता है, वहां हिन्दी में भी नवीन जीवन का संचार होता है।

परन्तु १९ वीं सदी के साहित्य की विचार धाराओं पर विचार करने से पहले १८ वीं सदी की साहित्यिक अवस्थाओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है

परन्तु १८०० में होने वाली घटनाओं के समुचित स्वाध्याय के लिये १८ वीं सदी का और विशेषतः १७५० से १८०० तक के युग का सिंहावलोकन करना आवश्यक है। प्रत्यक्षतः इस युग में कोई अच्छी कविता नहीं बनी और न साहित्य का और ही किसी प्रकार विशेष से विकास हुआ। प्लासी के युद्ध के पश्चात् भारत में और विशेषतः बंगाल में राजनैतिक और सामाजिक उथल पुथल मचती रही। भारत के साहित्यिक जीवन पर इनका प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। यद्यपि अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भी भारत में जातीय जीवन को संगठित करने वाले अनेक अवसर आए थे तथापि अत्यन्त प्राचीन काल से राजनीति को उपेक्षा की दृष्टि से देखने वाली भावुक हिन्दू जाति पर उनका प्रभाव नहीं के

---

* बंगला के विषय में देखिये S. K. De रचित Bengali Literature in the Nineteenth Century. अथवा दिनेश चन्द्र सेन रचित History of Bengali Language and literature.

तुल्य पड़ा था। परन्तु नवोदित मुसलमानों के भारत में बस जाने और भारतीय शासन सूत्र के मुसलमान नवाबों के हाथ से निकल कर एकान्ततः विजातीय तथा विधर्मी अंग्रेजों के हाथमें चले जाने के कारण यह दशा एकान्ततः बदल गई। मुसलमानों को राज्य का यह परिवर्तन बहुत अखरा। मराठों के जातीय अभिमान को भी इस बात से गहरी ठेस पहुँची। बंगाल में भी कंपनी के अत्याचारों ने एक प्रकार का युगान्तर उपस्थित कर दिया। इन सब घटनाओं के गर्भ से १९ वीं सदी और जातीयता के आधुनिक युग का जन्म हुआ है इसलिये इनके विषय में दो चार शब्द लिखना अनुचित न होगा।

१७६१ में भारत का शासन मुगलों के हाथ से अंग्रेजों के हाथ में आया

१७५७ में क्लाइव ने प्लासी युद्ध में विजय प्राप्त करके बंगाल पर एक एकाधिपत्य प्राप्त किया। १७६४ में होनेवाले बक्सर के युद्ध से अंग्रेजों की सैनिक शक्ति बढ़ी। १६६५ में अंग्रेजों को बंगाल की दीवानी मिली। १७६१ में पानीपत का युद्ध हुआ। इसी साल पांडिचेरी के पतन के साथ फरांसीसियों का पतन हुआ। इसी वर्ष मैसोर में हैदरअली का राज्य स्थापित हुआ। १६६४ में लाहौर पर सिक्खों का अधिकार हुआ। संक्षेप में १६६१ में प्राचीन युग के अन्त के साथ नवीन युग का आरम्भ होता है।

१६६४ में होनेवाले युद्ध में मीर कासम और अवध के नवाब की पराजय हुई और अवध तथा प्रयाग तक का इलाका अंग्रेजों के हाथ आगया। पलासी और बक्सर के युद्धों में प्राप्त हुई विजय के उपरान्त अंग्रेज लोग एक प्रकार से बङ्गाल और बिहार के शासक बन गए। १७६५ में अंग्रेजों को दीवानी का अधिकार मिला और बङ्गाल, बिहार तथा अवध में उभयशासन-प्रणाली का सूत्रपात हुआ। बिहारी के कथनानुसार—

दुसह दुराज प्रजानि को, क्यों न बढ़ै अति दंद ।
अधिक अंधेरो जग करै, मिलि मावस रवि चंद ॥

प्रजा पर दो ओर से *अत्याचार होने लगे । बङ्गाल, बिहार, गाज़ीपुर, बनारस, उड़ीसा, आदि प्रान्तों की जनता सूबेदारों और अंग्रेजों के नृशंस व्यवहारों से तङ्ग आगई । १७६९ और ७० में भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा । जमींदार और कृषक दोनों की पीठ पहले टूट चुकी थी । रही सही कमी इस दुर्भिक्ष ने पूरी कर दी । दुर्भिक्ष के दिनों में भी कम्पनी के नौकर जनता पर अत्याचार कर रहे थे ।

---

* 'The sources of tyranny and oppression, which have been opened by the European agents acting under the authority of company's servants, and the numberless black agents and subagents, acting also under them will, I fear, be a lasting reproach to the English name in this country.'

Clive का पत्र ३० सितम्बर १७६५ (रिपोर्ट तीसरो परिशिष्ट पृष्ठ ३९१.

'His commercial cupidity, under a system of monopoly and coersion, deprived the couuntry of those sources of wealth of those rights of free production and free barter which they had enjoyed under good and bad government alike'

R. C. Dutt.

Economic History of India. पृष्ठ २७

'The interval of five years between the departure of Clive in 1767 and the appointment

इस प्रकार १७६७ से ७२ तक बंगाल से लेकर अवध तक सारे देश में अत्याचारों का राज्य रहा। १७७३ में प्रयाग और केरा अवध के नवाब वज़ीर को ५५ लाख रुपये के बदले में सौंप दिये गये। १७७४ में रुहेल खण्ड पर विजय प्राप्त करके उसे अवध में मिलाया गया। इसी वर्ष हैस्टिङ्ग्स भारत में आया। १७७५ में बनारस के राजा चेतसिंह का मामला आरंभ हुआ। उससे भारी भारी रकमें मांगी गई और उसे तरह तरह के कष्ट पहुँचाए गए। १७८२ में अवध की बेगमों को लूट कर उनसे ७६ लाख रुपया* वसूल किया गया। १७८६ में कार्नवालिस का आगमन हुआ। १७९३ में कार्नवालिस ने बंगाल और बिहार में इस्तमरारी बन्दोबस्त (Permanent Settlement) किया। इससे जमींदारों को लाभ हुआ और किसानों को हानि। १७९३ में सर जोहन शोर के हाथ में भारत की बागडोर आई। १७९८ में लार्ड वेल्ज़्ली गवर्नर जनरल हुए। उन्हों ने आततायिता के साम्राज्य को प्रवीणता के साम्राज्य में परिणत करते हुए १८०० में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की।

ईस्ट इण्डिया कंपनी ने भारतीय राजाओं के अज्ञान तथा पारस्परिक विद्रोहों का सहारा ले भारत में अपने पैर जमाए

---

of Warren Hastings as governor of Bengal in 1772 was marked by shocking misgovernment, due to the division of authority, the rapacity of the companys officials when freed from the strong controlling hand, and general demoralisation. Oxford Students History of India पृष्ठ २५८।

* देखो Roberts रचित History of British India का १८ वां अध्याय।

कंपनी विद्याप्रचार का विरोध करती थी

थे। इनका काम था विरोधी भारतीय शक्तियों को आपस में लड़ाना और अपना काम बनाना। अज्ञान की आधार शिला पर स्थापित हुए साम्राज्य को कंपनी भविष्य में भी अज्ञान के सहारे कायम रखना चाहती थी। इसलिये कंपनी के नौकरों ने स्वातन्त्र्य और विद्या प्रचार का भरसक विरोध किया। प्राचीन काल से चली आने वाली बंगाल की शिक्षा प्रणाली को यत्न पूर्वक नष्ट किया गया। समाज और धर्म के नेता ब्राह्मणों का अपमान किया गया। वैश्यों को तथा देश के आधार भूत वस्त्र व्यापार को ढूंढ ढूंढ कर नष्ट किया गया। प्राचीन काल से चले आने वाले प्रतिष्ठित घरानों को तंग किया गया और निरीह किसानों की रोटी छीन उन्हें जीवन से बेज़ार बनाया गया। ऐसी अवस्था में, जब कि समाज की प्रत्येक श्रेणी को पेट के लाले पड़ रहे थे-साहित्य तथा कला कौशल का विकास हो ही कैसे सकता था? मुसलमानों का राज्य कैसा भी बुरा क्यों न रहा हो उसमें भारतीयों को स्वतंत्रता थी और उन्हें भरपेट खाने को मिलता था। परन्तु कंपनी के पैशाचिक यंत्र ने निरीह भारत की रोटी छीनी और उसके साथ ही उनके सामाजिक 'धार्मिक' तथा साहित्यिक विकास को ध्वस्त कर दिया।

वेल्ज़ली की नीतिमत्ता

अज्ञान की इस निशा में किसी भी राज्य का बने रहना असंभव था। भारत जैसे विशाल देश पर गिने चुने अंग्रेजों के लिये शासन करना असंभव था।

वेल्ज़ली ने भारतीयों के द्वारा भारतीयों पर शासन कराने में नीतिमत्ता का काम किया। उसने समाज के प्रमुख आदमियों के लिये जमींदारी आदि के अनेक प्रलोभन उपस्थित कर उन्हें अपने वश में कर लिया और उनके द्वारा भारत पर शासन करने की प्रथा का सूत्रपात किया। उसने 'Godlike bounty to

bestow expansion of intellect' की घोषणा करते हुए कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की।

१८०० से १८२५ तक का समय

१८०० से लेकर १८२५ तक के युग में आधुनिक हिन्दी साहित्य के लिये मार्ग तैयार हुआ। कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज ने पौरस्त्य वेष में पाश्चात्य विचारों का भारत में प्रचार किया। भारत की व्यापारिक तथा राजनैतिक विजय के लिये उस पर धार्मिक विजय का प्राप्त करना आवश्यक समझा गया। इस काम के लिये इंगलैण्ड से योग्य पादरी बुलाए गए और उन्हें भारत की देशी भाषाओं के द्वारा देश में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिये नियत किया गया। विलियम केरी ने इस क्षेत्र में बहुत अधिक काम किया। उसने बाइबिल का बंगाल में अनुवाद किया और अन्य देशी भाषाओं में करवाया। मार्शमान, वार्ड तथा केरी के प्रयत्नों से सिरामपुर में मिशन की स्थापना हुई और भारत में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ। साथ ही देशी भाषाओं का आदर हुआ और उनके साहित्य में वृद्धि होने लगी १८०१ में प्रेस का आगमन हुआ, उससे भी भारतीय भाषाओं के प्रचार में भारी सहायता मिली।

१८२५ से १८५० तक का समय

१८२८ में लार्ड विलियम Bentick गवर्नर जनरल बने। इनके समयसे पहले भारतीयोंको ऊंचे ओहदों पर नहीं रक्खा जाता था। Bentick ने नीतिमत्ता से काम लेते हुए भारतीयों को दफ्तरों के काम में लेना प्रारंभ कर दिया। व्यवस्था के छोटे छोटे अधिकारों पर भी भारतीयों की नियुक्ति होने लगी। वास्तव में Bentick को कंपनी की आर्थिक अवस्था सुधारनी थी और छोटे छोटे कामों के लिये इंगलैण्ड से अंग्रेज़ों को बुलाना जहां असुविधाजनक था वहां साथ ही आर्थिक

हृष्ट्या बहुत अधिक महंगा भी पड़ता था।

भारत के साथ साहित्यिक तथा राजनैतिक संबन्ध को परिपक्व करने के लिये, और देश में इंगलिश जाति की उन्नति के लिये प्रत्येक प्रकार की सुविधा उत्पन्न करने के लिये Bentick ने Macalay आदि विद्वानों की अनुमति से अंग्रेजी को भारत की शिक्षा का माध्यम बनाया। वार्रन हेस्टिङ्ग्स तथा वेल्ज़ली आदि की दृष्टि में अंग्रेज कर्मचारी के लिये भारत की देशी भाषाओं का जानना तो आवश्यक था परन्तु उन्होंने भारत के शासन को भारतीयों द्वारा ही न कराते हुए अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने के सिद्धान्त को नहीं अपनाया था।

मैकाले द्वारा सोची गई और Bentick द्वारा कार्यरूप में परिणत की गई यह व्यवस्था आशा से कहीं अधिक फलीभूत हुई। अधिकार के लिप्सु भारतवासी वृत्ति के निमित्त धड़ाधड़ अंग्रेजी पढ़ने लगे और अंग्रेजी वेश भूषा तथा रस्मोरिवाज को अपनाने लगे। नई रोशनी के पुजारी अपने देश की वस्तुओं को ओछी नजर से देखने लगे। जिस प्रकार शरीर का नेता मस्तिष्क है उसी प्रकार देश का नेता पठित समाज है। भारत का पठित समाज नई रोशनी से चकाचौंध हो जातीयता को भूलने लगा और अपने प्राचीन इतिहास तथा पुराण को संशय की दृष्टि से देखने लगा। जीवन की सब बातों में उसका आदर्श हो गई अंग्रेजी, उसका हर प्रकार से अनुकरण करना ही इस समाज का ध्येय होगया था। यदि यह अवस्था कुछ दिनों तक और रहती तो भारत की भारतीयता ही नष्ट हो जाती। 'पर परमात्मा को यह कदापि स्वीकृत नहीं था। उसकी इच्छा थी कि पाश्चात्य और पौरस्त्य सभ्यताओं के संघर्ष से पुराण भारत फिर जाग उठे, उसमें नई शक्ति का संचार हो जाय और वह नये भावों से पूर्ण हो संसार की उन्नत जातियों में अपना महत्त्व स्थापित करे। संसार में जब जब ऐसे महत्त्वशाली परिवर्तन

होने को होते हैं तब तब शक्ति संपन्न आत्माओं का अवतार होता है। ब्रह्म समाज ने बंगाल को ईसाई होने से बचा लिया। उत्तर भारत में स्वामी दयानन्द ने आर्य धर्म की ऐसी बलवती धारा बहाई, जिसके सम्मुख ईसाइयों की एक न चली और उत्तर भारत से उनके पैर उखड़ गए।'

१८५० में होने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी प्रकृष्ट हिन्दी कविता के द्वारा भारत के कान खोले और उसे नवीन सभ्यता के भयावह परिणामों से सजग कर दिया। उत्तर भारत अंग्रेजी की गिटपिट में पड़ हिन्दी को भुला रहा था। किसी देश को सर्वांशेन दासता की शृङ्खला में कसना हो तो उसके साहित्य तथा प्राचीन इतिहास को नष्ट कर देना चाहिये। यही काम अंग्रेज शासक वर्ग भारत के विषय में कर रहा था। हरिश्चन्द्र ने मातृभाषा के प्रति भारतीयों के हृदय में प्रेम उत्पन्न कर फिर से उन्हें कल्याण मार्ग का पथिक बनाया।

१८५० के पश्चात् का साहित्य

'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से हिन्दी साहित्य का नवीन युग आरंभ होता है। इन्होंने जिस अवस्था में हिन्दी को पाया वह विलक्षण थी। पद्य में जायसी, सूर, तुलसी आदि के आख्यान काव्यों का समय एक प्रकार से बीत चुका था। केशव के चलाए हुए नायिका भेद, रस, अलंकार आदि को लक्ष्य करती हुई स्फुट कविताओं के छींटे उड़ रहे थे। गद्य प्रेम-सागर, सिंहासन बत्तीसी और बैताल पचीसी से ही संतोष किये बैठा था।'

'यद्यपि देश में नये नये भावों का संचार होगया था पर हिन्दी भाषा उनसे दूर थी। लोगों की अभिरुचि बदल चुकी थी पर हिन्दी के साहित्य पर उसका प्रभाव नहीं पड़ा था। शिक्षित लोगों के विचारों और व्यापारों ने दूसरा मार्ग तो पकड़ लिया था, पर

उनका साहित्य उसी पुराने मार्ग पर था। ये लोग समय के साथ स्वयं तो कुछ आगे बढ़ आये थे पर अपने साहित्य को साथ न ले सके थे। कारण इस बात का यह था कि जिन लोगों के हृदय में नई शिक्षा के प्रभाव से नए विचार उत्पन्न होरहे थे, जो अपनी आंखों से देशकाल का परिवर्तन देख रहे थे, उनमें अधिकांश तो ऐसे थे जिनका कई कारणों से हिन्दी साहित्य से लगाव छूट गया था, और शेष ऐसे थे जिन्हें हिन्दी साहित्य का मण्डल बहुत ही बद्ध और परिसीमित दिखाई देता था। उस समय एक ऐसे साहसी और प्रतिभा संपन्न पुरुष की आवश्यकता थी जो कौशल से इन बढ़ते हुए विचारों का मेल देश के परंपरागत साहित्य से करा देता। बाबू हरिश्चन्द्र का आविर्भाव ठीक ऐसे ही समय में हुआ और वे यह कार्य करने में समर्थ हुए।*

१८५७ का राज विद्रोह

राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक कारणों से १८५७ में भारत में राजविद्रोह उठ खड़ा हुआ। मेरठ, कानपुर, लखनऊ आदि नगरों में भयंकर हत्याकाण्ड हुए। ६ दिसम्बर १८५७ के दिन सर Colin ने झांसी की रानी तथा तांतिया टोपी पर विजय प्राप्त की और शनैः शनैः विद्रोह शान्त होगया। राजविद्रोह के कुछ भी कारण रहे हों इसमें संदेह नहीं कि इनमें प्रधान था भारतीय जनता की प्राचीनता का यूरोपीय नवीनता के साथ सांमुख्य। लार्ड डलहौजी की अवधविषयक दुर्नीति तो जनता के विरोध को भड़काने में निमित्तमात्र बन गई थी। १८५७ के राजविद्रोह से और उसके पश्चात् होनेवाली अनेक राजनैतिक घटनाओं से प्रत्यक्ष है कि यदि भारत में नवीन सभ्यता के पुजारियों की संख्या प्रति दिन वृद्धि पर रही है तो साथ ही प्राचीन प्रथा के पुजारियों का अत्यन्ताभाव भी कभी नहीं हुआ है। देशभक्ति और आत्मबलि-

---

* नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १४ संख्या १०

तुल्य पड़ा था। परन्तु नवोदित मुसलमानों के भारत में बस जाने और भारतीय शासन सूत्र के मुसलमान नवाबों के हाथ से निकल कर एकान्ततः विजातीय तथा विधर्मी अंग्रेजों के हाथ में चले जाने के कारण यह दशा एकान्ततः बदल गई। मुसलमानों को राज्य का यह परिवर्तन बहुत अखरा। मराठों के जातीय अभिमान को भी इस बात से गहरी ठेस पहुँची। बंगाल में भी कंपनी के अत्याचारों ने एक प्रकार का युगान्तर उपस्थित कर दिया। इन सब घटनाओं के गर्भ से १९ वीं सदी और जातीयता के आधुनिक युग का जन्म हुआ है इसलिये इनके विषय में दो चार शब्द लिखना अनुचित न होगा।

१७६१ में भारत का शासन मुगलों के हाथ से अंग्रेजों के हाथ में आया

१७५७ में क्लाइव ने प्लासी युद्ध में विजय प्राप्त करके बंगाल पर एक एकाधिपत्य प्राप्त किया। १७६४ में होनेवाले बक्सर के युद्ध से अंग्रेजों की सैनिक शक्ति बढ़ी। १६६५ में अंग्रेजों को बंगाल की दीवानी मिली। १७६१ में पानीपत का युद्ध हुआ। इसी साल पांडिचेरी के पतन के साथ फरांसीसियों का पतन हुआ। इसी वर्ष मैसोर में हैदरअली का राज्य स्थापित हुआ। १६६४ में लाहौर पर सिक्खों का अधिकार हुआ। संक्षेप में १६६१ में प्राचीन युग के अन्त के साथ नवीन युग का आरम्भ होता है।

१६६४ में होनेवाले युद्ध में मीर कासम और अवध के नवाब की पराजय हुई और अवध तथा प्रयाग तक का इलाका अंग्रेजों के हाथ आगया। पलासी और बक्सर के युद्धों में प्राप्त हुई विजय के उपरान्त अंग्रेज लोग एक प्रकार से बङ्गाल और विहार के शासक बन गए। १७६५ में अंग्रेजों को दीवानी का अधिकार मिला और बङ्गाल, विहार तथा अवध में उभयशासन-प्रणाली का सन्नपात हुआ। बिहारी के कथनानुसार—

१८९९ तक देश और विदेशों में अनेक महत्त्वशाली घटनाएं हुईं, परन्तु प्रत्यक्षरूप से हिन्दी साहित्य पर उनका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। १८९९ में लार्ड कर्जन भारत के अधिष्ठाता चुने गए। इन्हों ने अपनी कुशाग्र बुद्धि के बल से भारत की शासन व्यवस्था में अनेक सुधार किये और भारत पर इंगलैण्ड की व्यापक सत्ता को प्रतिष्ठित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। १९०० में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा जिसकी शान्ति के लिये कर्जन ने स्तुत्य प्रयत्न किए। सरकार की आर्थिक दशा और भारत की शिक्षा पर उसने विशेष-रूप से ध्यान दिया १९०४ में उसने बंगाल का विभाजन किया, जिससे स्वदेशी के प्रसिद्ध आन्दोलन का जन्म हुआ। स्वदेशी आन्दोलन से बंगला-साहित्य के विकास में और उसके साहचर्य से हिन्दी साहित्य के विकास में भारी सहायता प्राप्त हुई। देश-प्रेम के गीतों की धारा बह निकली और जनता का राजनीति तथा जातीयता की ओर प्रबलता के साथ ध्यान आकृष्ट हुआ। १९११ में होने वाले दिल्ली दरबार ने बंगाल प्रान्त को फिर से मिला जनता की उत्तेजना को शान्त किया।

१९१४ में विश्व व्यापी युद्ध छिड़ा। इससे भी भारत की देशी भाषाओं के विकास में समुचित सहायता मिली।

१९१९ में होने वाले खिलाफत तथा स्वराज्य आन्दोलन ने भारत को एक कोने से दूसरे कोने तक हिला दिया। जातीय प्रेम, देश भक्ति तथा आत्म बलिदान के भावों की सरिता बह निकली। इस युग में देश प्रेम के साथ संबन्ध रखने वाली कविता का उत्कृष्ट विकास हुआ। राजनीति, अर्थ शास्त्र तथा इतिहास आदि विषयों पर अच्छे अच्छे ग्रन्थ लिखे गए।

अभी स्वराज्य का आन्दोलन वेग के साथ चल रहा है। आशा है यह शीघ्र ही सफल होगा और भारत की भाषा, सभ्यता, और इतिहास का पूर्णरूप से पुनरुद्धार होगा।

उपसंहार—

अठारहवीं सदी के पश्चात् से भारत के इतिहास में युगान्तर का सूत्रपात होता है। वास्तव में इस समय नवीन युग का आगमन भारत ही में नहीं प्रत्युत यूरोप और अमेरिका में भी हुआ।

गद्य की बहुलता

नवीनता का प्रभाव राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थिति पर ही नहीं प्रत्युत साहित्य पर भी यथेष्ट पड़ा। लार्ड वेल्ज़ली के पश्चात से भारत में अंगरेजी राज्य की जड़ जम गई। रही सही कमी १८१८ ईसवी तक पूरी हो गई। यों तो अब भी इधर उधर छोटी मोटी लड़ाइयां होती रहीं किन्तु उनका देश के समष्टि जीवन पर विशेष प्रभाव न पड़ा। देश की शान्त परिस्थिति को देख सरकार ने १८१३ में एक लाख रुपया शिक्षा प्रचार में प्रदान किया। १८-५४ में भारतीय भाषाओं की उन्नति के लिये तथा ग्राम्य पाठशालाओं के जीर्णोद्धार के लिये व्यवस्था की गई और अन्त में १८५७ ईसवी में कलकत्ता, मद्रास और बंबई के विश्वविद्यालय खोले गए। इन बातों से भारत की प्रमुख भाषा हिन्दी के गद्य का प्रचार हुआ, क्यों कि आरंभिक शिक्षा साधारणतया गद्य ही में दी जाती है।

भारत में पादरियों का आगमन हुआ। यों तो मुगल साम्राज्य में भी पादरियों ने अपने धर्म का प्रचार किया था, किन्तु उस प्रचार का देश पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। परन्तु अब देश की सरकार ईसाई धर्म को मानती

हिन्दी के लिये पादरियों का कार्य

थी इसलिये पादरियों का प्रभाव बढ़ गया और वे अपनी पुस्तकों का हिन्दी आदि भाषाओं में अनुवाद कर अपने धर्म का लोक-साधारण में प्रचार करने लगे। देश के शिक्षित वर्ग को ईसाइयत का मन्त्र पढाने के लिये इन्हों ने जगह जगह पाठशाला और

महाविद्यालय खोले। इन सब बातों से हिन्दी के प्रचार में सहायता मिली और उसमें भिन्न भिन्न विषयों पर सामयिक रचनाएं होने लगीं।

आर्यसमाज ने ईसाइयत को रोक दिया

ईसाइयों ने हिन्दी के द्वारा धर्म प्रचार करने की परिपाटी डाल अत्यन्त दूर दर्शिता का काम किया था और उनकी यह दूरदर्शिता, कबीरपन्थ आदि संप्रदायों की भांति, जिन्हों ने कि अपने प्रचार के लिये पठितवृन्द की भाषा संस्कृत को छोड़ देश की साधारण भाषा हिन्दी का सहारा लिया था, पूर्ण रूप से फलीभूत भी शीघ्र ही हो जाती यदि उत्तर भारत में स्वामी दयानन्द और हरिश्चन्द्र ने और बंगाल में ब्रह्मसमाज के प्रवर्तकों ने ईसाइयों की उपकारक बातों को अपना उनकी घातक बातों का खण्डन करके देश को अपनी प्राचीन सभ्यता तथा शिक्षा की ओर न चलाया होता।

साहित्य में व्यावहारिक विषयों का प्राधान्य

ब्रिटिश राज्य की स्थापना तथा पश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से देश में यातायात के साधनों का परिष्कार हुआ। प्रेसका आविर्भाव हुआ। पुस्तकों और पत्रों का प्रकाशन आरंभ हुआ। सांसारिक विषयों पर रचनाएं आरम्भ हुईं पद्य के स्थान में गद्य का विकास हुआ।

यथार्थ कविता की न्यूनता

गद्य की वृद्धि और सांसारिक विषयों पर होने वाली रचनाओं के आधिक्य से काव्य पक्ष दुर्बल हो गया। कविता की कोई नवीन धारा नहीं निकली। प्राचीन धाराओं का ह्रास होता गया। देश में प्रतिभा की न्यूनता हो गई। सरकार द्वारा बलात् स्थापित की गई शान्ति में आत्मा का विकास न था, प्रतिभा का चमत्कार न था। इस मोहमयी शान्ति से ब्राह्मणों का

मस्तक भ्रष्ट हो गया, क्षत्रियों की भुजाएं निर्वीर्य हो गईं, वैश्यों का उदर आततायी बन गया और शूद्रों में अनुचित स्वच्छन्दता का संचार हो गया। देश की राष्ट्रीयता लुप्त हो गई, जन्मभूमि का प्रेम फीका पड़ गया और वीर रसात्मक कविता का तिरोधान हो गया। फलत: उच्च कोटि के साहित्य की न्यूनता हो गई। १८५७ में राज विद्रोह हुआ, उसके पश्चात् सरकार ने देश का शासन कंपनी से छीन सीधा अपने हाथ में ले लिया। तब से भारत की दशा में विचारणीय परिवर्तन हुए। विश्वविद्यालयों ने अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार किया। हाई कोर्टों ने अंग्रेजी ढंग का शासन फैलाया और भारतवासी अधिक संख्या में इङ्गलैण्ड तथा अन्य विदेशों को जाने लगे, जिसका एक प्रभाव यह हुआ कि पठितवर्ग में स्वतन्त्रता का विचार प्रबल होने लगा और वे विधेयात्मक उपायों से स्वराज्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने लगे। धार्मिक क्षेत्र में जागृति हुई, आर्य समाज ने पाश्चात्य सभ्यता की श्रेयस्कर बातों को अपनाया, उसकी घातक प्रवृत्तियों को रोक दिया और देश की भिन्न भिन्न जातियों को—

पाश्चात्य तथा पौरस्त्य संस्कृतियों का संकलन

'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य:'

इत्यादि मंत्रों द्वारा समता का उपदेश दे धार्मिक तथा सामाजिक स्वातंत्र्य की दीक्षा दी। इस प्रकार पाश्चात्य तथा पौरस्त्य सभ्यताओं के संकलन से देश में आदर्श परिस्थिति का अभ्युदय हुआ, जिसके फल स्वरूप महात्मा गांधी और कवि सम्राट् रवीन्द्र आज भारत को और उसके द्वारा संसार को—

यदाभूतपृथगभावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुण: परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।

ज्ञान और विज्ञान दोनों दृष्टियों से आत्मतत्त्व की एकता तथा निष्काम भाव से किये गए कर्ममात्र की पवित्रता का उपदेश दे मनुष्य समाज को उसके ऐहिक ध्येय अभ्युदय तथा चरम ध्येय निःश्रेयस की ओर ले जा रहे हैं।

१९वीं सदी के पहले ६० वर्षों की साहित्यिक परिस्थिति

इस काल में गद्य की उन्नति हुई। प्राचीन गद्य प्रधानतया ब्रजभाषा में था। अब खड़ी बोली का सिक्का जमने लगा और लोग निःशङ्क हो खड़ी बोली में विचार प्रकाशन करने लगे। शनैः शनैः पद्य भी खड़ी बोली में लिखा जाने लगा, किन्तु कुछ लोग अब भी कविता एकान्ततः ब्रजभाषा ही में करते रहे। 'शृङ्गाररस की कविता कम होने लगी, प्रासङ्गिक कथा कविता की चाल धीमी हुई' काव्य कला शिथिल पड़ गई, और कविता का उत्कर्ष घट गया। कवि भावों को छोड़ भाषा को सजाने में लगे रहे। 'युगों के परिवर्तन काल में जीवन के प्रत्येक रूप में एक विचित्र दृश्य दिखलाई देता है। एक ओर पुरानी बातों से ध्यान हटने लगता है, और दूसरी ओर नवीन युग की बातों से पूरा पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। ऐसा समय बेढब होता है और जितनी ही जल्दी इसका अन्त हो जाय उतना ही अच्छा, परन्तु भारत में परिवर्तन का यह काल बहुत दिनों तक बना रहा। १९वीं, सदी के पहले ६० वर्षों में अच्छे कवियों की संख्या न्यून रही।

स्वामी दयानन्द तथा भारतेन्दु के साथ मौलिकता का

१८६० के पश्चात् स्वामी दयानन्द तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ यह दशा बदल जाती है और हिन्दी के, विशेषतः खड़ी बोली के अच्छे नक्षत्र उदित होते हैं। 'एक ओर नवीन धर्मप्रचारक, दूसरी ओर प्रेस और पत्र पत्रिकाओं

प्रादुर्भाव

की पूरी शक्ति, तीसरी ओर सभा संमेलनों का कार्य, और चौथी ओर नाटक की वृद्धि और कवियों का सहारा इन सब ने मिलकर प्रस्तुत वैज्ञानिक काल में अपना प्रभाव दिखलाया और चारों ओर खड़ी बोली के हिन्दी गद्य का प्रचार कर दिया।'

स्वराज्य आन्दोलन का हिन्दी पर प्रभाव

स्वराज्य आन्दोलन की अभिवृद्धि के साथ नवीन प्रकार की कविता का अभ्युदय हुआ और देश में पाश्चात्य तथा पौरस्त्य कविताओं के संकलन से उत्पन्न हुई नवीन विचार धारा के अनुरूप उत्कृष्ट कविता होने लगी।

आगामी अध्याय में आधुनिक युग के प्रमुख लेखकों तथा कवियों की कृतियों पर विचार किया जायगा।

अध्याय १५

आधुनिक युग

(१८०० से)

१९वीं सदी के आरंभ में पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से हिन्दी साहित्य पर नवीन प्रभाव पड़ा। १८वीं सदी में मौलिकता का अभाव था और यथार्थ कवित्व की न्यूनता थी। अब नवीन युग का आरंभ हुआ और उसके साथ नवीन विचारों की धारा वही। ईस्ट इण्डिया कंपनी जो पहले पहल भारत में व्यापारिक संघ के रूप में आई थी देश की अधिष्ठात्री बन बैठी। उसने अपनी व्यापारिक तथा राजनैतिक सुविधाओं के लिये देशियों की शिक्षा का प्रबन्ध किया। पार्लियामेण्ट के सदस्य कंपनी पर अपने उत्तर-दायित्व को पूर्ण करने के लिये जोर डाल रहे थे। इसी बीच प्रेस का आगमन हुआ, यातायात के साधनों में परिष्कार हुए। विद्या का प्रचार बढ़ा, मातृभाषाओं के साहित्य में अभिवृद्धि हुई। अंग्रेजी भाषा का प्रचार हुआ, देशियों के रहन सहन में परिवर्तन हुए। जिस प्रकार यूरोप में विद्या के पुनर्जीवित होने पर ग्रीक तथा लैटिन के अध्ययन से प्राचीनता के जीर्णोद्धार के साथ साथ वहां की देशी भाषाओं के साहित्य में वृद्धि हुई थी इसी प्रकार भारत में अंग्रेजी के प्रचार से मातृभाषाओं की अभिवृद्धि में विशेष प्रकार की सहायता प्राप्त हुई। ब्रिटिश राज्य के अभ्युदय के साथ देश में शान्ति की स्थापना हुई, और प्रजा को साहित्यानुशीलन का अव-सर प्राप्त हुआ। इस अवसर से हिन्दी ने पूरा पूरा लाभ उठाया। हिन्दी के नवीन रूप का आविर्भाव हुआ और खड़ी बोली के गद्य में सामयिक पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं।

फोर्ट विलियम कालेज और लल्लूजी लाल

१९वीं सदी के आरंभ में स्थापित हुए फोर्ट विलियम कालेज के आचार्य डाक्टर गिलक्रिस्ट थे। उन्होंने कैप्टन अब्राहम लौकट, प्रोफेसर जे डब्ल्यू टेलर, तथा डाक्टर हंटर के साथ मिल कर देशी भाषाओं की उन्नति के लिये स्तुत्य प्रयत्न किये। अंग्रेज अफसरों की सुविधा के लिये देशी भाषाओं में समयोपयोगी पाठावलियां तैयार की गईं। लल्लूजी लाल तथा सदल मिश्र ने, जो उक्त कालेज में हिन्दी के अध्यापक थे, प्राचीन हिन्दी में समयोचित कांट छांट करके खड़ी बोली को विकसित किया।

लल्लूजीलाल जाति के ब्राह्मण थे, यह अपने आदिम निवासस्थान गुजरात से आकर उत्तर भारत (आगरा) में बस गए थे। इन्होंने डाक्टर Gilchirst की देख रेख में रहते हुए खड़ी बोली का सूत्रपात किया। उन दिनों सभ्यसमाज का वह भाग जो फारसी से अपरिचित था, अपना काम उर्दू से चलाता था। परन्तु उर्दू में फारसी तथा अरबी शब्दों की भरमार थी जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्षतः मुसलमानों के साथ था। फलतः हिन्दी के ऐसे साहित्यिक रूप की आवश्यकता दिनों दिन अनुभव होने लगी जिसमें हिन्दूपना हो और जो सामान्यतया हिन्दूमात्र का मनोरंजन कर सके। यह प्रयोजन उर्दू में आने वाले अरबी तथा फारसी के शब्दों को निकाल उनके स्थान में संस्कृत तथा हिन्दी के शब्द रख देने से पूर्ण हो गया। साधारणतया 'खड़ी बोली' शब्द का प्रयोग दिल्ली तथा मेरठ के क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा के लिये (जिससे कि आगे चल कर उर्दू बनी) और सांप्रतिक साहित्यिक हिन्दी, दोनों के लिये किया जाता है। इससे यह परिणाम निकलेगा कि लल्लूजी लाल दिल्ली तथा मेरठ के क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा को उसके मौलिक रूप में परिवर्तित कर उसका नवीन साहित्य में उप-

योग कर रहे थे। परन्तु बात वास्तव में यह नहीं थी, क्योंकि यद्यपि मौलिकरूपेण उर्दू हिन्दी के इसी उपभेद से उत्पन्न हुई थी तथापि इस समय वह पंजाबी, राजस्थानी, अरबी तथा फारसी के अगणित शब्दों को अपने भीतर खपा चुकी थी। लल्लूजीलाल की हिन्दी वास्तव में एक नई साहित्यिक भाषा थी। कुछ भी हो, इनके द्वारा प्रवर्तित अथवा परिशोधित की गई खड़ी बोली को खूब सफलता प्राप्त हुई। आज उत्तर भारत के अधिकतर नरनारियों का साहित्य इसी भाषा में लिखा जा रहा है। परन्तु कविता अब भी ब्रजभाषा, अवधी तथा हिन्दी के अन्य प्राचीन उपभेदों में हो रही है, क्योंकि जनता के विचार में कविता के लिये खड़ी बोली की अपेक्षा ब्रजभाषा अधिक उपयुक्त है। परन्तु जहां इस युग से पूर्व हिन्दी में लिखे गद्य ग्रन्थ अंगुलियों पर गिने जाते थे वहां अब गद्य में सैकड़ों ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं।

खड़ी बोली का पहला गद्य ग्रन्थ, जिसे अब भी भाषा तथा शैली की दृष्टि से अनुकरणीय समझा जाता है, लल्लूजीलाल का रचा प्रेम सागर है। यह भागवतपुराण के दशम स्कन्ध का हिन्दी अनुवाद है। यह अनुवाद चतुर्भुज द्वारा किये गये (भागवत-पुराण के) ब्रजभाषानुवाद के आधार पर लिखा गया है। लल्लूजी-लाल ने १८०४ में इसे आरम्भ किया था और १८१० में समाप्त किया। भाषा की दृष्टि से इनकी लिखी 'राजनीति' (१८०९) का आदर किया जाता है। यह ब्रजभाषा में लिखी गई है और हितोप-देश तथा पंचतन्त्र का स्वतन्त्र अनुवाद है। 'सिंहासनबतीसी' तथा 'बैतालबतीसी' में कहानियों का संग्रह है। दोनों पुस्तकों में हिन्दी तथा उर्दू मिली हुई हैं। इन्हों ने और भी अनेक ग्रन्थ लिखे थे जिनमें बिहारीलाल की सतसई पर लिखी हुई इनकी लालचन्द्रिका नाम की टीका प्रसिद्ध है। इनके 'सभाविलास' में हिन्दी तथा ब्रजभाषा की कविताओं का संग्रह है।

लल्लूजी लाल का गद्य इस प्रकार का होता था—

'कहो उद्धव जी हरि हम बिन वहां कैसे इतने दिन रहे और क्या संदेशा भेजा है, कब आ दर्शन देंगे।' 'तहां ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इन तीनों देवताओं ने आ उससे पूछा कि तू किस लिये इतनी कठिन तपस्या करती है।'

'जद श्री कृष्ण ने नंद जसोदा समेत सब ब्रजवासी अति दुखित देखे तद तृनावर्त को फिराय आंगन में ला सिला पर पटका कि तिसका जी देह से निकल सटका। आंधी थम गई, उजाला हुआ, सब भूले भटके घर आए। देखें तो राक्षस आङ्गन में पड़ा है। श्री कृष्ण छाती पर खेल रहे हैं। आते ही जसोदा ने उठाय कण्ठ से लगा लिया और बहुत सा दान ब्राह्मणों को दिया'।

सदल मिश्र

सदलमिश्र भी लल्लूजीलाल के साथ फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी पढ़ाते थे। लल्लूजी लाल की अपेक्षा इनकी रचना में खड़ी बोली अधिक है। इनका रचा 'नासिकेतोपाख्यान' प्रसिद्ध है। यह मुख्यतः गद्य ग्रन्थ है, परन्तु कहीं कहीं इसमें पद्यों का भी प्रयोग हुआ है। इनका गद्य इस प्रकार का होता था—

'कमल के फूलों पर भौंरें गूंज रहे थे' 'जिनके चरणकमल स्मरण किये से विघ्न दूर होता है।'

सदल मिश्र की भाषा में मुहावरों का अच्छा प्रयोग है। जैसे-

'इतनी कह ऋषि के चरण पर गिर पड़े। अति प्रसन्न हो मुनि उठा पीठ ठोंक आशीष दे बोले कि धन्य हो राजा रघु, क्यों न हो, मुंह पर कहां तक बड़ाई करें।'

'सखी सहेली और जात भाइयों की स्त्री सब दौड़ी हुई आईं। समाचार सुनि जुड़ाईं, मगन हो हो नाचने, गाने, बजाने लगीं।'

*हिन्दी के पुनरुत्थान प्रकरण में उस काम के विषय में कुछ कह देना उचित प्रतीत होता है जो इन दिनों

सिरामपुर

विलियम (Carey) केरी तथा उनके मित्र वार्ड और मार्शमान (Marshman) ने सिरामपुर में किया था। इन्हों ने ईसाइयों की धर्म पुस्तकों का संसार की अन्य भाषाओं में अनुवाद करने कराने के साथ उत्तरीय भारत की भाषाओं में भी इनका अनुवाद प्रकाशित किया था। हिन्दी का अनुवाद तो केरी महाशय ने अपने आप किया था। उनके द्वारा किये गये New Testament के हिन्दी अनुवाद का प्रथम भाग पहले पहल १८०९ में प्रकाशित हुआ, और १८१८ में बाइबिल का संपूर्ण अनुवाद प्रकाशित हो गया। धर्म पुस्तकों के अनुवाद के अतिरिक्त केरी ने भाषा की अन्य पुस्तकें भी छापीं जिनमें रामायण का नाम उल्लेखयोग्य है। इन पुस्तकों का बहुतर भाग १८१२ में होने वाले सिरामपुर प्रेस के अग्निकाण्ड में नष्ट हो गया। १८१८ में केरी ने बंगला में एक समाचार पत्र का प्रकाशन आरंभ किया जिसे प्राच्य भाषाओं में सब से पहला समाचारपत्र कहा जा सकता है। उसकी देखा देखी भाषाओं में अनेक समाचार पत्र निकलने लगे। महाशय केरी तथा उनके मित्रों के स्तुत्य कामों से भाषा की उन्नति में भारी सहायता मिली।

राजा शिवप्रसाद १८२३ १८९५

खड़ी बोली के जिस रूप का लल्लूजीलाल ने सूत्रपात किया था उसकी आगे चल कर समालोचना हुई। लल्लूजीलाल का गद्य संस्कृतनुमा होता था। उसे केवल पठित जन समझ सकते थे। हिन्दी में संस्कृत के शब्द भरने की प्रथा में

---

* इस विषय में एस के दे रचित Bengali Literature in the Nineteenth Century पढ़ने योग्य है।

उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई और हिन्दी का स्वारसिक विकास रुकता प्रतीत होने लगा। दूसरी ओर उर्दू में अरबी और फारसी के शब्दों की भरमार हो रही थी। राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी की इस प्रवृत्ति को रोक उसे फारसीनुमा उर्दू और संस्कृतनुमा हिन्दी के बीच मार्ग पर चलाया।

शिवप्रसाद बनारस के रहने वाले थे और जैनमत के अनुयायी थे। इनको सरकार ने राजा और सी० आई० ई० की उपाधियों से सुभूषित किया था, क्योंकि इन्होंने सरकार की उस समय सहायता की थी जब कि अंग्रेजों और सिक्खों का युद्ध हो रहा था। युवावस्था में यह महाराज भरतपुर के वकील थे। उसके पश्चात् यह सरकारी शिक्षा विभाग में इन्स्पेक्टर हो गए। इनको सितारे हिन्द की पदवी भी मिली थी।

राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी का बड़ा उपकार किया और वह भी अनेक प्रकार से। एक तो इन्होंने हिन्दी को शिक्षाविभाग में बनाए रक्खा। दूसरे इन्हों ने कई ग्रन्थों की रचना की। इन्हों ने गद्य अधिक लिखा। भाषा को समयोचित मार्ग पर चलाया। इनकी भाषा में न तो फारसी अधिक है और नाही संस्कृत। इनकी भाषा बोलचाल की स्वारसिक भाषा है। इन्होंने विविध विषयों पर पुस्तकें लिखीं, और समयोचित पाठावलियां तैयार कीं। इनके रचे ग्रन्थों में से कुछ के नाम यह हैं—वर्णमाला, अंग्रेजी अक्षरों के सीखने का उपाय, हिन्दी व्याकरण, बालबोध, इतिहासतिमिरनाशक, भूगोल हस्तामलक, राजा भोज का सपना, मानवधर्मसार आदि। इनकी रचनाओं में अङ्गरेजी का प्रभाव स्पष्ट है। इनके गद्य का उदाहरण देखिये—

'बाबा तुलसीदास ब्राह्मण थे, पंडित थे, गोसाईं थे, अकबर बादशाह के वक्त में थे, उनकी रामायन अपने किस्म की अद्वितीय है'।

यह हिन्दी उर्दू मिली भाषा लिखते थे और फारसी के शब्दों के प्रयोग से नहीं चूकते थे। इनकी इतिहास सम्बन्धी रचनाएं प्रसिद्ध हैं। इनके रचे इतिहासतिमिरनाशक का यथेष्ट प्रचार हुआ। इसमें मरहटों के संबन्ध में आप लिखते हैं कि ये—

'अंगरखा जांघिया एक पेंची पगड़ी पहने, कमर कसे, हाथ में भाला लिये, दक्खिनी घोड़ों पर सवार, तीस कोस तो हवा खाने को घूम आते थे, न थकते थे, न मांदे होते थे, जौं बाजरे की रोटी प्याज के साथ उनका खाना था और घोड़े की जीन तकिया, जमीन बिछौना और आसमान शामियाना था'।

छापेखाने—

हिन्दी साहित्य के आधुनिक विकास का मुख्य पहलू गद्य ग्रंथों की बहुलता है। इस काम में सब से अधिक सहायता छापेखानों से मिली है। सब से पहले हिन्दी पुस्तकें फोर्ट विलियम कालेज के छापेखाने में छपी थीं। मूल्य की अधिकता और टाइप के भद्देपन ने हिन्दी के विकास को रोकना चाहा। १८३७ में दिल्ली में एक (Lithographic) छापाखाना खोला गया जिसमें अच्छी सफलता हुई। तब से हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशन का काम दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। पाषाण लेखन (Lithography) का प्रबंध होते ही हिन्दी के समाचार पत्र निकलने लगे और अब इनकी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। प्रत्येक विषय की पुस्तकें निकल रही हैं, इंगलिश तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं की अच्छी अच्छी पुस्तकों के अनुवाद छप रहे हैं, धर्म और समाजशास्त्र पर निबन्ध निकल रहे हैं, उपन्यास, कविता, शालोपयोगी पाठावलियां तथा अन्य सभी प्रकार के साहित्य पर पुस्तकें लिखी जा रही हैं। इनमें से कितनी पुस्तकें, यथार्थ साहित्य में गिनी जाने योग्य हैं इस बात का निर्णय भविष्य पर अवलंबित है। अभी हिन्दी साहित्य का परिवर्तन काल है। इसमें शीघ्रता के साथ

परिवर्तन हो रहे हैं, पाश्चात्य सभ्यता तथा विद्याओं से मिलने वाले विचारों को इतनी शीघ्रता से लेखबद्ध किया जा रहा है कि लेखकों का भाषा तथा शैली पर ध्यान ही नहीं जाता। अभी तो वे जहां से जो कुछ मिलता है उसे जैसी तैसी भाषा में लपेट कर रख रहे हैं। उनको क्रमशः लगाने और चुन कर रखने के लिये अवकाश चाहिये और उसका इस समय नितान्त अभाव है।

स्वामी दयानन्द स० १८८१ वि० में जन्म

भारतीय विद्रोह की शान्ति के पश्चात्, महाराणी विक्टोरिया की घोषणा के अनुसार भारत का शासन-सूत्र ईस्ट इण्डिया कंपनी के हाथ से निकल सीधा सरकार के हाथ में आ गया। सरकार ने नैतिक हानि लाभों को सोच प्रजा के धार्मिक मन्तव्यों में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष अन्तराय उपस्थित न करके, भारत में अपनी नैतिक सत्ता को स्थायी बनाने के लिये इस देश में ईसाइयत के प्रचार को आवश्यक समझते हुए प्रत्यक्षा प्रत्यक्ष रूप से ईसाई पादरियों को सब प्रकार की सहायता देनी आरंभ कर दी। निष्प्राण यन्त्र की भांति कानून के पीछे चलने वाली, और इसी लिये आत्मा के व्यक्तित्व को पीस देने वाली नवोदित शासन प्रणाली से विमनस्क होकर, पाश्चात्य सभ्यता की बाह्य टीपटाप से चकाचौंध हुआ हिन्दू युवक आगा पीछा सोचे बिना ईसाइयों के 'अपटूडेट सूट शोभित' चर्च का, जिसमें कि सातवें दिन गौराङ्ग और गौराङ्गना एक साथ बैठ कर गाते हुए परमात्मा की पूजा करते थे, पुजारी बन गया। उसने पाश्चात्य सभ्यता के चटकीले सूट और मटकीली स्त्रैण आंखों पर भारत की सरल सभ्यता तथा आत्मिक संयम को न्यौछावर कर दिया। भारतीय युवक की इस आत्मघाती कुप्रवृत्ति को रोक उसे फिर से आत्मिक सभ्यता तथा आदर्श ब्रह्मचर्य का उपदेश दे यथार्थ स्वराज्य तथा स्वाराज्य की ओर ले जाने वाले भारतीय नेताओं में स्वामी दयानन्द का स्थान सर्वोच्च है।

संक्षिप्त परिचय

स्वामी जी काठियावाड़ के ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १८८१ विक्रमी में हुआ था। वह तुच्छ सी घटना, जिसने कि इस ब्राह्मण को पाखण्डवाद से हटा यथार्थ ज्ञान की ओर चलाया एक चूहे का शिवलिङ्ग पर चढ़ भोग को खा लेना था। पिता के हजार समझाने पर भी प्रभावान् मूलशङ्कर को पत्थर के उस निर्जीव गोल में, जिसे, परमात्मा की सर्वोत्कृष्ट प्रतिमा मनुष्य को भुला, चैतन्य का प्रतीक मान दिन रात पूजा जाता है, किसी ऐश्वर्य विशेष के दर्शन न हो सके। मूलशङ्कर कहता था कि विज्ञान की दृष्टि से यद्यपि मृत् से ले कर जीवन्मुक्त तक सब के सब तत्त्व एक ही मूल चिति के भिन्न भिन्न रूप हैं, तथापि मृत् की अपेक्षा, जिसने कि चिदानन्द रूप की ओर चलने में अभी पहला ही पग बढ़ाया है, मनुष्य की, जो कि विकास की उस श्रेणी पर पहुंच चुका है जहां पहुँच आत्मसात् होने के लिये केवल अन्तिम प्रयत्न करना शेष रह जाता है, पूजा करना कहीं अधिक उचित तथा श्रेयस्कर है। निदान, अपने इस पावन ध्येय की पूर्ति के लिये मूलशङ्कर ने बाल्यकाल ही में संसार के ऐश्वर्यों को लात मार संन्यास धारण कर लिया। संन्यासी दयानन्द आत्मिक-ज्ञान के लिये भारत के कोने कोने में, पर्वतों की गुफाओं में, और पवित्र नदियों के तटों पर मारा मारा फिरा। इन निर्जन यात्राओं में, वह कौन से कष्ट थे जो आत्मा की पूजा करने वाले इस युवक पर न पड़े हों? उसे लगातार कई दिनों तक उपवासी रहना पड़ता था, गभीर वनकुञ्जों में रक्त-पिपासु हिंस्र जीवों की आखों का सामना करना पड़ता था। परन्तु विपत्ति में धैर्य और अभ्युदय में क्षमा महापुरुषों का प्रधान लक्षण है। युवक ने सब आपत्तियां झेलीं। सौभाग्य से पूर्णानन्द सरस्वती मिले और उन्हों ने युवक के कष्टों का निवारण

किया । कुछ दिन पश्चात् मथुरा में श्री विरजानन्द सरस्वती के दर्शन हुए । उन्हों ने, युवक को आत्मज्ञान का उपदेश दिया और बिदाई के समय, जब कि निर्धन बटुक गुरु दक्षिणा चुकाने के लिये कहीं से एक मुट्ठी लौंग की मांग कर गुरु के संमुख प्रस्तुत करने लगा, तो जीवन्मुक्त विरजानन्द ने समाजोद्धार के निमित्त बटुक का सारा जीवन ही गुरु दक्षिणा के रूप में मांग लिया । बटुक ने अपना जीवन दे दिया । हर्ष के साथ अन्धगुरु के चरणों में सौंप दिया !! भारत के सर्वाङ्गीण स्वराज्य के लिये अपना 'स्वाराज्य' अगले जन्म पर छोड़ दिया !!!

उक्त गुरु दक्षिणा ने दयानन्द की आत्मिक शान्ति छीन उसे समाज में प्रचलित हुए पाखण्डजात का खण्डन करने के लिये अशान्त बना दिया । परंपरागत रूढिवाद से अन्धा हुआ और पाश्चात्य सभ्यता की नवीनता से चौंधियाया हुआ भारतीय युवक मातृभूमि की जराजीर्ण वक्षःस्थली को एक अज्ञात वेदना के साथ रौंद रहा था । इस दृश्य ने यति को जीवन के द्विविध कर्तव्य के लिये सजग कर दिया । दयानन्द को अपने छोटे से जीवन में एक साथ दो काम करने थे । उसे भारत के उन प्राचीन धर्मध्वजियों के, जो काल्पनिक पवित्रता के दर्पावसिक्त शिखर पर चढ़ समाज को 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' 'पद्युर्वायं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम', इत्यादि का उपदेश करते थे, गढ तोड़ने थे, और पाश्चात्य सभ्यता को, जिसने भारत में पदार्पण करते ही, जरा-जीर्ण माता के *नमकीन रक्त को चूसने के लिये 'निर्धन किसान पर नमक तथा पौन टूटी आदि' के नये कर लगा दिये थे, मानवीयता की शिक्षा दे कल्याणमार्ग की ओर चलाना था । उसने इन दोनों कामों को पूरा किया, और आशातीत सफलता के साथ पूरा किया।

---

*देखो प्राचीन सत्यार्थ प्रकाश का नमक प्रकरण ।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसने अनेक ग्रन्थ रचे, अनेक शास्त्रार्थ किये, और भारत में जगह जगह आर्य समाजों की स्थापना की। उसने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' नामक प्रख्यात ग्रन्थ में भारत की सर्वाङ्गीण सभ्यता तथा राजनीति का विदेशियों की एकदेशीय सभ्यता और राजनीति के साथ अनूठा सांमुख्य उपस्थित करके एक की श्रेष्ठता और दूसरे की कदर्यता का मार्मिक वर्णन किया है। सत्यार्थप्रकाश ने भारत में फिर से वैदिक धर्म की स्थापना की और देशकाल की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये तत्तद्देश तथा तत्तत्काल में महात्मा ईसा तथा कर्मयोगी मुहम्मद द्वारा प्रवर्तित किये गये ईसाई तथा इस्लाम धर्म की एकदेशीयता को सिद्ध करते हुए भारत के लिये उनकी सदा के लिये अनुपयुक्तता सिद्ध कर दी। ऋषि ने वैदिकधर्म के क्रियात्मक प्रचार के लिये गुरुकुल आदि अनेक प्रकार की संस्थाएं खोलीं और खुलवाईं। उसने भारत की नैसर्गिक धर्मप्राणता को परख समाज तथा नैतिक व्यवस्था की आधार-शिला धर्म पर रक्खी और इस प्रकार अत्यन्त दूरदर्शिता के साथ कर्मयोगी मुहम्मद की भांति, नवीन सभ्यता के युग में भी धर्म तथा राजनीति का पारस्परिक सामञ्जस्य स्थापित कर दिखाया।

ब्रह्मचर्य का वह कल्पनातीत आदर्श, जो भारत के बड़े से बड़े महाराजाओं को वेश्या की पालकी में कन्धा देते देख 'कुत्ता' के नाम से संबोधित कर सकता था पता नहीं भारत में और उसके द्वारा संसार में कौन सा युगान्तर उपस्थित कर देता यदि कहीं कुटिल दुराचार नारकीय प्रतिहिंसा के लिये ऋषि को दूध में घुला कंच पिलाने से कुछ दिन और रुका रहता ? परन्तु—

मृगमीनसज्जनानां तृणजलपरोपकारवृत्तीनाम्।
लुब्धकधीवरपिशुना, निष्कारणवैरिणो जगति॥

के अनुसार कृतघ्नता ने सज्जनों को चैन से कब जीने दिया है ?

निदान ५९ वर्ष तक भारत के सामाजिक गगन में प्रखर भास्कर की भांति तपकर आधुनिक युग का सब से बड़ा सुधारक स्वामी दयानन्द सं० १९४७ विक्रमी में सदा के लिये अस्त होगया।

दयानन्द की अनुकम्पा से धर्म कर्म की दीक्षा पा आज भारत के सुधारक उसकी खण्डनात्मक वृत्ति पर आक्षेप करते हैं। ठीक है, इसमें हम भी सहमत हैं। परन्तु अपने आप को एकान्त विरोधी समझनेवाली विभिन्न जातियों के आरोपित ऐक्य के पक्षपातियो! क्या कभी निशीथ के घनान्धकार का ध्वंस किये बिना भी भास्कर ने व्योममण्डल को प्रकाशित किया है? क्या कभी तृणपुञ्ज को रेणुसात् किये बिना भी अग्निदेव ने संसार में प्रकाश का विस्तार किया है? नहीं! कदापि नहीं!! विश्व के अनन्त चित्रपट पर पड़े हुए अपरूप चिह्नों को भावना की कूंची से दूर किये बिना उस पर व्यक्त्यात्मा तथा विश्वात्मा के ऐक्य का मनोरम चित्र नहीं उतारा जा सकता। विभिन्न धर्मों की अगणित सरिताओं के मध्य में आने वाले पतले पतले भूखण्डों को काटे बिना विश्वजनीन धर्म की महासरिता का निर्माण होना असंभव है। ऋषि दयानन्द ने धर्मजात की एकता को प्रत्यक्ष कराने के लिये उसको आवृत करने वाले प्रकार तथा पाखण्ड के आटोप का खण्डन किया, और इस प्रकार स्वार्थी धर्मध्वजियों द्वारा धर्म के पीपूष वदन पर लगाये गये अपचिन्हों को हटा उसके विशुद्ध तथा रुचिर वदन को संसार के संमुख रक्खा।

ऋषि का हिन्दी साहित्य पर उपकार

यद्यपि स्वामी दयानन्द काठियावाड़ के रहनेवाले भारी पण्डित और संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् थे, तथापि इन्हों ने भारत की भावी एकता का सूत्रपात करने के लिये हिन्दी की ओर विशेष ध्यान दिया और अपने प्रायः सभी ग्रन्थ हिन्दी में लिखे। उन्हों ने वेदों का हिन्दी में सरल भाष्य बना उन्हें

साधारण जनता तक पहुँचाया और वेदाङ्गों के स्वाध्याय तथा पठन पाठन का एक नवीन तथा सरल मार्ग बता उन का जनता में प्रचार किया। आज उत्तर भारत में जगह जगह ऋषि की महती अनुकम्पाओं के स्मारक खुले हुए हैं, जिनमें प्राचीन प्रणाली से वेदादि सच्छास्त्रों का पठन पाठन होता है और विश्वविद्यालयों के भिन्न भिन्न विषयों को हिन्दी के माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाती है। कहना नहीं होगा कि गुरुकुल कांगड़ी, महाविद्यालय ज्वालापुर, गुरुकुल वृन्दावन, डी. ए. वी कालिज लाहौर, जलन्धर, कानपूर तथा ऐसी ही अन्य अगणित संस्थाएं भारत के स्वराज्य तथा स्वाराज्य के लिये दिनरात दृढ उद्योग कर रही हैं।

ऋषि का हिन्दी गद्य

ऋषि ने प्रायः सभी ग्रन्थ हिन्दी गद्य में लिखे हैं। आप की भाषा अत्यन्त ललित तथा मंजीकसी होती है। उपासनाविज्ञान के विषय में आप लिखते हैं—

'श्रीभगवान् रस के सागर हैं। इसी रससिन्धु से विन्दु विन्दु लेकर जीव जगत् में अनन्त रसों का विकाश हुआ है। पिता के चित्त में जो पुत्र के लिये वात्सल्य रस, पुत्र के हृदय में जो पिता के लिये श्रद्धारूप रस, पति के चित्त में जो पत्नी के लिये प्रेमरस, पत्नी के हृदय में जो पति के लिये मधुररस, माता के चित्त में जो पुत्र के लिये स्नेहरस, मित्र के चित्त में जो मित्र के लिये एकप्राणतारूप रस, शिष्य के चित्त में जो गुरु के लिये शुद्ध श्रद्धारूप रस, भक्त के चित्त में जो भगवान् के लिये भक्तिरस, ये सभी रस, रसरूप आनन्द कन्द सच्चिदानन्द श्री भगवान् की आनन्द धारा से उत्पन्न हुए हैं'। साधनचन्द्रिका।

उपर्युक्त सन्दर्भ हिन्दी गद्य का आदर्श कहा जा सकता है। प्रत्येक रस के लिये भिन्न भिन्न तथा समुचित शब्दों का उपयोग किया गया है, और शब्दों तथा भावों की काट छांट कर उन्हें

ऐसा कस दिया गया है, कि सन्दर्भ में नाममात्र भी परिवर्तन करना उसके सौन्दर्य को नष्ट करना है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
१८५०—१८८५

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वामी दयानन्द के समकालीन थे, किन्तु इन्हों ने असार संसार में केवल ३४ वर्ष की अवस्था पाई थी। इनका जन्म काशी में संवत् १९०७ विक्रमी में हुआ था और इनकी मृत्यु स्वामी जी की मृत्यु के दूसरे ही वर्ष अर्थात् १९४१ में हुई थी। ये जाति के अग्रवाल वैश्य थे और प्रसिद्ध कवि गिरिधरदास के सुपुत्र थे जिनका वास्तविक नाम गोपालचन्द्र था। यह गोपालचन्द्र बंगाल के सेठ अमीचन्द्र के वंशज थे जिनका वर्णन क्लाइव के समय के भारतीय इतिहास में आता है।

जीवन वृत्तान्त

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म संवत् १९०७, भाद्रपद शुक्ला सप्तमी को हुआ था। अभी ये पांच वर्ष की अवस्था के भी न हुए थे कि इनकी माता का देहान्त हो गया, और १० वर्ष की आयु होने के पूर्व ही इनके पिता भी स्वर्गवासी हो गए। पिता की मृत्यु के उपरान्त इनकी शिक्षा में अनेक बाधाएं आईं। क्वींस कालेज में इनका जैसा तैसा शिक्षण हुआ। १५ वर्ष की अवस्था में इन्हों ने सकुटुम्ब जगदीशपुरी की यात्रा की और इसी के साथ इनकी शिक्षा भी समाप्त हो गई।

१९२२ में ये सकुटुम्ब जगन्नाथ जी गए। उस समय सिपाही-विद्रोह शान्त हो चुका था और बंगाल में अंग्रेजी सरकार की धूम थी। बंगाली लोग शिक्षण से लाभ उठा देश और नीति की बातों में आगे बढ़ रहे थे। बंगाल की यात्रा ने हरिश्चन्द्र के जीवन पर भारी प्रभाव डाला। इस यात्रा से इन्हें बंग साहित्य के अध्ययन का और बंगला नाटकों के देखने

का अवसर प्राप्त हुआ। इनका पहला नाटक 'विद्यासुन्दर' जो संवत् १९२५ में प्रकाशित हुआ एक बंगला नाटक का अनुवाद है। इसके अतिरिक्त विधवा विवाह आदि समाज सुधार की बातों से भी ये पहले पहल यहीं परिचित हुए। इस यात्रा के आरंभ में एक अत्यन्त साधारण घटना हुई जिसने इनके जीवन में भारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। चलते समय एक महाशय ने इन्हें चुपचाप २ अशर्फियां देकर कहा कि यदि विमाता के कारण आप को किसी प्रकार का कष्ट हो और आप मनचाही वस्तु न ले सकें, तो यह अशर्फियां आपके काम आयंगी। इन्हीं दो अशर्फियों ने इनमें ऋण लेकर मनचाही बात पूरा करने की बान उत्पन्न की, जिससे इनके जीवन का अन्तिम भाग बड़ी कठिनाई में गुजरा। अस्तु! भारतेन्दुजी को देश के भिन्न भिन्न भागों में यात्रा करने से वहां की रीति नीति जानने, भिन्न भिन्न लोगों के भावों तथा विचारों से परिचित होने और देश की साधारण स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने में भारी सहायता मिली। १९३९ में ये महाराणा सज्जनसिंह के निमंत्रण पर तथा श्रीनाथद्वारे के दर्शन की इच्छा से मेवाड़ गए। वहां से लौटने पर ये बीमार पड़े पर अच्छे हो गए। संवत् १९४१ में ये बलिया गए। यह इनकी अंतिम यात्रा थी। इसके पश्चात् ये कहीं न जा सके और संवत् १९४२ में इस असार संसार को छोड़ स्वर्गवासी होगए। इन्हों ने कुल ३५ वर्ष की आयु पाई और १७–१८ वर्ष तक सार्वजनिक कामों में भाग ले देश और मातृभाषा की वह सेवा की जो इनकी स्मृति को सदा बनाए रक्खेगी।

जगदीश-यात्रा से लौटने पर विद्या सुन्दर के अनुवाद के साथ इनका सार्वजनिक जीवन आरम्भ होता है। संवत् १९२४ में इन्हों ने चौखम्भा स्कूल (वर्तमान नाम हरिश्चन्द्र हाईस्कूल) की स्थापना की। संवत् १९२७ में 'कविता वर्द्धिनी सभा' की स्थापना हुई। १९३० में 'पेनी रीडिङ्ग क्लब' खोला गया। पिछली दोनों संस्थाएं शीघ्र ही बन्द हो गईं।

साहित्यिक जीवन में इन्हों ने सब से पहले १९२५ में विद्या-सुन्दर नाम का नाटक रचा। इसी वर्ष इन्हों ने 'कविवचनसुधा' नाम का मासिक पत्र निकाला जो इनकी मृत्यु के पीछे तक प्रकाशित होता रहा। १९३० में 'हरिश्चन्द्र मेगजीन' प्रकाशित किया, जो उनकी मृत्यु के उपरान्त बन्द हो गया। १९३१ में स्त्रियों के लिये 'बाला-बोधिनी' नाम का पत्र निकाला, यह भी कुछ दिनों पश्चात् बन्द हो गया।

हरिश्चन्द्र का देशप्रेम

हरिश्चन्द्र स्वभावत: देशप्रेमी थे और मानवचरित्र के धुरंधर ज्ञाता थे। इनकी पद्यात्मक और गद्यात्मक दोनों प्रकार की रचनाओं में देशप्रेम का भाव व्याप्त हो रहा है। चाहे जैसा अवसर हो, चाहे जिस प्रकार की रचना की आवश्यकता हो, भारतेन्दु जी अपने देश को नहीं भूलते, घूम फिर कर इन्हें उसके पूर्व गौरव, वर्तमान हीन अवस्था, और भविष्य का ध्यान आ ही जाता है और ये अपने गंभीर विचारों को रोक नहीं सकते। भारतदुर्दशा, नीलदेवी, अंधेरनगरी आदि रचनाओं में देश हितैषिता के भाव कूट कूट कर भरे हैं। भारत दुर्दशा के आरंभ में आप लिखते हैं—

रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा। भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
सब के पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सब के पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सब के पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सब के पहिले विद्या फल जिन गहि लीनो॥
अब सब के पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

इसी नाटक के छठे अंक में वे भारत भाग्य से कहलाते हैं—

सोअत निसि वैस गंवाई, जागो जागो रे भाई।
निसि की कौन कहे दिन वीत्यो काल राति चलि आई॥

देख परत नहीं हित अनहित कछु परे वैरि वस जाई।
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई॥
अब हूं चेति पकरि राखो किन जो कछु बची बड़ाई।
फिरि पछिताए कछु नहिं ह्वैहै रहि जैहो मुंह बाई॥

इसके आगे भारत के प्राचीन गौरव का ऐसा सुन्दर चित्र खींचा गया है जिसे पढते ही रोमांच हो आता है और हृदय देशाभिमान से पूर्ण हो जाता है। और अन्त में उसकी वर्तमान अवस्था देख कर कवि का यह कहना 'सोइ भारत की आज यह भई दुरदसा हाय' उसके क्षोभ, उसकी निराशा, और उसकी उद्विग्नता को सूचित करता है। इसी प्रकार 'नीलदेवी' के सातवें अंक में 'सब भांति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा' आदि पंक्तियों में उन्हों ने भारत के अतीत और भविष्य का अत्यन्त मार्मिक चित्र खींचा है। नीलदेवी के आठवें अंक की प्रार्थना को सुन पत्थर भी पिघल सकता है—

कहां करुनानिधि केसव सोए।
जागत नेक न यदपि बहुत विधि भारतवासी रोए॥
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारत हित बिसराए।
इन के पसु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए॥

इत्यादि पंक्तियों में भारतेन्दु का आत्मा बह रहा है। सारांश यह है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हृदय में सब अवसरों, सब अवस्थाओं, और सब कालों पर अपने देश की स्मृति जागृत हो उठती थी और वे उसी की भलाई की कामना में तत्पर हो जाते थे। उनके जीवन का ध्येय था स्वातन्त्र्य और उनका प्रधान धर्म था देशप्रेम। वे उच्च कोटि के कवि थे। उन्हों ने हिन्दी में नवजीवन का संचार किया था, उन्हों ने हिन्दी नाटक की आधार शिला रक्खी थी। यह सभी काम उनके नाम को अमर बनाए रखने के लिये पर्याप्त थे। किन्तु इन सब गुणों से भी कहीं

श्रेष्ठतम गुण था उनका देश प्रेम, जिस ने उनको सचमुच भारत का इन्दु बना दिया था।

हरिश्चन्द्र का कवित्व

संक्षेप में काव्य कला को तीन भागों में बाँट सकते हैं। भाव भाषा और शैली। प्रतिपादित विषय, विचार, भावना, तथा कल्पना भाव में संमिलित हैं। व्रजभाषा, अवधी, खड़ी बोली, और आगे चल कर खड़ी बोली के अन्तर्गत शुद्ध हिन्दी और बोलचाल की हिन्दी भाषा में संमिलित हैं। छन्द तथा अलंकारादि शैली के अन्तर्गत हैं।

भाव के विषय में ऊपर बहुत कुछ कहा जा चुका है। भारतेन्दु का व्यापक भाव उनका देश प्रेम था। शृङ्गार की दृष्टि से भी उनका स्थान अत्यन्त ऊंचा है। इनकी कविता में प्रेम की सरिता का प्रसन्न प्रवाह है। कुछ ग्रंथों के नाम ही प्रेम के साथ हैं यथा प्रेमफुलवारी प्रेम माधुरी और प्रेम तरंग इत्यादि। इन्हों ने ईश्वरीय और लौकिक दोनों प्रकार के प्रेम का श्रेष्ठ वर्णन किया है। आप लिखते हैं—

प्यारो पैये केवल प्रेम में।
नहीं ज्ञान में नहीं ध्यान में नहीं करम कुल नेम में।
नहिं मन्दिर में नहिं पूजा में नहिं घण्टा की घोर में।
हरीचन्द वह बांध्यो डोलै एक प्रेम की डोर में॥
इन अंखियान को न सुख सपनेहू मिल्यो,
यों ही सदा व्याकुल विकल अकुलाइहैं।
प्यारे हरिचन्द जूकी बीती जानि औध जो पै,
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समाइहैं॥
देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोंहि याते,
जौन जौन लोक जैहैं ताहीं पछिताइहैं।
विना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय,
देखि लीजो आँखें ये खुली ही रहि जाइहैं॥

इनका शृङ्गार पढ़ने योग्य है—

तू केहि चितवत चकित मृगी सी।
केहि ढूंढति तेरो कहा खोयो,
क्यों अकुलाति लखाति ठगी सी॥
तन सुधि करु उघरत री आंचर,
कौन खयाल तू रहती खगी सी॥
उतर न देत जकीसी बैठी,
मद पियकै रैन जगी सी॥
चौंकि चौंकि चितवति चारहु दिसि,
सपने पिय देखति उमगी सी॥ इत्यादि

हास्यरस की कविता में भी इन्हों ने कमाल किया है। चूरन की कविता इस दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है—

चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर जाते॥
चूरन खाते लाला लोग। जिनको अकिल अजीरन रोग॥
चूरन खावैं एडिटर जात। जिनके पेट पचै नहिं बात॥
चूरन साहब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता॥
चूरन पूलिस वाले खाते। सब कानून हजम कर जाते॥
ले चूरन का ढेर, बेचा टके सेर॥ इत्यादि

इतिहास में भी इन्हों ने 'काश्मीरकुसुम' तथा चरितावली जिसमें भारत तथा यूरोपीय महापुरुषों के जीवन चरित्र हैं) नाम के २ उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखे हैं।

शैली

भारतेन्दु बाबू ने शैली में नवीनता का प्रदर्शन किया है। उनसे पहिले कवियों ने कृत्रिमता की पराकाष्ठा कर दी थी। कवित्त, घनाक्षरी और सवैया में ही प्रायः कविता हुआ करती थी। कभी कभी दोहे और कुण्डलियों का भी विरल उपयोग हो जाता था। भारतेन्दु ने विविध प्रकार के राग और रागिनियों का उपयोग

किया। इन्हों ने अनेक पद उर्दू की बहरों में लिखे। सब से बड़ी बात जो शैली के विषय में उन्होंने नई चलाई वह व्यापक विषयों के प्रतिपादन को काव्य रचना का मुख्य उद्देश्य बनाना था। अपने पूर्ववर्ती कवियों की भांति अलंकार प्रदर्शन के लिये कविता रचना उन्हों ने पसन्द नहीं किया। इतने पर भी इनकी कविता में अलंकारों की अनायास छटा आ ही गई है। इनके यमुना वर्णन में उत्प्रेक्षा की छटा देखते ही बनती है—

परत चन्द्र प्रतिबिम्ब कहूँ जलमधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोइ मन भायो॥
मनु हरि दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिये सोभित छवि छायो॥
कै रासरमन में हरि मुकुट आभा जल दिखरात है।
कै जलउर हरिमूरति बसति वा प्रतिबिम्ब लखात है॥

वायुवेग से चलायमान हुई यमुना की लहरों में डोलते हुए चन्द्रमा पर भारतेन्दु की उत्प्रेक्षाएं सुनिये—

मनु ससि भरि अनुराग जमुनजल लोटत डोलै।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत कलोलै।
कै बालगुडी नभ में उड़ी सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोउ ब्रजरमनी आवती।

चन्द्रमा के इस स्वाभाविक वर्णन को पद्माकर के एक कवित्त से मिलाइये जो चन्द्रमा ही की छटा पर कहा गया है—

तालन पै ताल पै तमालन पै मालन पै।
वृन्दावन बीथिन विहार बंसीवट पै॥
कहै पदमाकर अखण्ड रास मण्डल पै।
मंडित उमण्डी महाकालिन्दी के तट पै॥
छिति पर छान पर छाजन छतान पर।
ललित लतान पर लाडिली के लट पै॥

आई भले छाई यह सरद जुन्हाई जिहि ।
पाई छवि आजु ही कन्हाई के मुकुट पै ॥

अनुप्रास के अतिरिक्त इस पद्य में और कोई भी विशेषता दृष्टिगत नहीं होती। दूसरी ओर भारतेन्दु के वर्णन में यथार्थ कविता की छटा खिल रही है।

भाषा

भारतेन्दु की कविता विशेषतः ब्रजभाषा में और गद्य खड़ी बोली में हुआ करता था। किंतु इन्हों ने अनेक भाषाओं के शब्दों का उपयोग किया है, जैसे पंजाबी, अवधी, बंगला और उर्दू इत्यादि। लल्लूजीलाल ने जिस भाषा को नया रूप दिया, लक्ष्मण-सिंह ने जिसे सुधारा, उसको परिमार्जित करने और सुन्दर सांचे में ढालने का श्रेय भारतेन्दु जी को है। उनके समय में इस बात का झगड़ा चल रहा था कि हिन्दी उर्दू मिश्रित हो या नहीं। राजा शिवप्रसादजी उर्दू मिश्रित भाषा के पक्षपाती थे। इसके विरुद्ध भारतेन्दु ने शुद्ध हिन्दी का पक्ष लिया और उसको नये सांचे में ढाल कर एक नवीन शैली की स्थापना की। उनकी भाषा में माधुर्य गुण का प्राचुर्य है और वह प्रौढ़ता तथा प्रांजलता गुण से संपन्न है। उन्हों ने स्वयं भी लिखा है कि 'हरिश्चन्द्र मेगजीन' के उदय के साथ संवत् १९३० में हिन्दी नये सांचे में ढली।'

'उन्हों ने देखा कि बहुत से शब्द जिन्हें बोल चाल से उठे कई सौ वर्ष हो गए थे कवित्त और सवैयों में बराबर खपाए जाते हैं, जिससे जन साधारण का ध्यान उसकी ओर से फिरता जाता है। चक्कवै, अमेजे, ठायो, करसायल, ईठ, दीह, ऊनो, लोइ आदि के कारण बहुत से लोग हिन्दी कविता से किनारा करने लगे हैं। दूसरा दोष जो बढ़ते बढ़ते बहुत बुरी सीमा को पहुँच गया था वह शब्दों का तोड़ मरोड़ और गढ़े हुए मनमाने शब्दों का प्रयोग था। जैसे 'कवियों का स्वभाव रूख तोड़ना' गोस्वामी तुलसीदास

जी ने लिखा है वैसे ही इन कवियों का स्वभाव शब्द तोड़ना हो चला था ।' बाबू हरिश्चन्द्र ने इन बातों का संशोधन करते हुए ब्रज-भाषा की फुटकर कविताओं के लिये मनोरम मार्ग दिखाया । उनकी भाषा बोल चाल की भाषा से मिलती हुई भी अत्यन्त परिष्कृत तथा परिमार्जित है । जैसे—

आजु लौं जो न मिले तो कहो,
हम तो तुम्हरे सब भांति कहावैं ।
मेरे उराहनो है कछु नाहिं,
सबै फल आपने भाग को पावैं ॥
जो हरिचन्द भई सो भई,
अब प्रान चलै चाहैं तासौं सुनावैं ।
प्यारे जू है जग की यह रीति,
बिदा के समय सब कण्ठ लगावैं ॥

यही कारण है कि इनकी कविता का इतनी शीघ्रता के साथ प्रचार हुआ । इनके सवैयों ने स्त्रियों तक के मन में घर कर लिया । इन्होंने मनुष्य के मनोवेगों को बड़ी सीधी सादी भाषा में परि-पूर्णता के साथ दिखाया है । क्षुण्ण पद्धति पर चलने वालों की प्राचीन प्रथा को इन्होंने खूब काटा छांटा । इनके सीधेसादे शब्दों में भाव की सरिता बह रही है ।

हरिश्चन्द्र के विश्वचित्रण की अपूर्णता

बाह्य तथा आन्तरिक प्रकृति का यथार्थ चित्रण करते हुए जीवन की विशुद्ध व्याख्या करना ही कविता का प्रधान ध्येय है । अन्तरात्मा के सर्वाङ्गीण विकास के लिये आवश्यक है कि वह बाह्य प्रकृति तथा अन्तर्जगत् के सूक्ष्म स्पंदन में परमात्मा की लीला को देखे । इस दर्शन के स्थायी बन चुकने पर वह पाशविक वृत्तियों से मुक्त हो जाता है और—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ गीता

के अनुसार आत्मा और जगत् की एकता का अनुभव करता हुआ स्वयं ब्रह्मरूप बन जाता है। वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास के विश्व-वर्णन में यही बात दीखती है। ये लोग चेतन और अचेतन जगत् को एक ही परमात्मा की दो विभूति मानते हैं और दोनों विभूतियों का समानरूप से व्याख्यान करते है। उनकी दृष्टि में तात्त्विक जगत् के सम्यक् निरीक्षण के लिये भौतिक जगत् का निरीक्षण आवश्यक है, और इसीलिये वे दोनों के परीक्षण में अपनी कविताशक्ति का चमत्कार दिखाते हैं। वाल्मीकि का वर्षावर्णन पढ़िये, रोम रोम में अलौकिक आल्हाद की वास बस जाती है। आप कहते हैं—

क्वचित् प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति ।
क्वचित् क्वचित् पर्वत संनिरुद्धं रूपं यथा शान्त महार्णवस्य ॥
व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पैर्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम् ।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥

इत्यादि ॥

उपर्युक्त वर्णन में पाठकों को प्रकृति के सूक्ष्मतम स्पन्दन का अलौकिक दर्शन होता है और वह प्रकृति के साथ स्थापित हुए रागात्मक संबन्ध के द्वारा परमात्मा की व्यापक विभूति का अनुभव करने लगता है। यही बात कालिदास के हिमालयवर्णन, वनवर्णन, (मेघदूतान्तर्गत) मेघमार्गवर्णन, और भवभूति के वन वर्णन के संबन्ध में कही जा सकती है। तुलसी की रामायण में ऐसे वर्णन अनेक स्थानों पर मिलते हैं।

परन्तु धीरे धीरे कवि लोग कविता के इस प्रमुख उद्देश्य को भूलने लगे और उनका चित्त कृत्रिम हावभावों के वर्णन में अधिक लगने लगा। प्राकृतिक स्पन्दन स्वतन्त्र है इस लिये उसमें मन की वृत्तियों का विकास होता है। दूसरी ओर हावभावों में बंधन है इस लिये इन में कविता के यथार्थ विकास के लिये न्यून

अवकाश है। प्राकृतिक स्पन्दन की व्याख्या के छोड़ने के साथ ही भारतीय साहित्य का पतन आरम्भ होता है और वह शनैः शनैः शृङ्गार तथा अलंकार प्रदर्शन तक परिसीमित रह जाता है। तुलसी, कबीर तथा सूर ने हिन्दी के साहित्य को मानव समाज के उच्चतम ध्येय की व्याख्या में लगाते हुए उसको उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचाया था परन्तु केशव तथा बिहारी आदि 'ऐन्द्रिय' कवियों ने उसको उन्नति के शिखर से घसीट कर बंधनों के कारागार में ढकेल दिया।

१९वीं सदी के आरम्भ तक कविता इसी कारावास में पड़ी रही और विषय वासना अथवा वाह्याडंबरों की अनेक यातनाओं को सहती रही। भारतेन्दु बाबू ने यद्यपि समयानुकूल प्रसंगों पर ध्यान देते हुए नये नये भावों का प्रादुर्भाव किया परन्तु वे भी हिन्दी कविता में विश्वरूपता का प्रतिफलन न कर सके। वे मनुष्य के अन्तर्जगत् की व्याख्या में सिद्ध हस्त हैं परन्तु प्रकृति के स्पन्दन को देखने की उन में शक्ति नहीं है। उनके जीवन वृत्तान्त को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि वे प्रकृति के उपासक नहीं थे। उन्हें नदी, जङ्गल, पर्वत आदि के देखने का शौक नहीं था। उन्हों ने कभी भी Wordsworthके इस गीत में—

'O Nature where are thy charms that sages have seen in thy face'

कभी हां नहीं मिलाई थी। वे अपने जैसे दस आदमियों के साथ उठ बैठ कर अपने भावों को जगाया करते थे। इसी से मनुष्य के गुण स्वभाव को यथार्थतः अंकित करने में वे अद्वितीय रहे हैं।

उनकी रचनाओं में विशुद्ध प्राकृतिक वर्णनों का प्रायः अभाव पाया जाता है। वस्तु वर्णन में उन्हों ने मनुष्य की कृति ही की ओर अधिक रुचि दिखाई है। सत्य हरिश्चन्द्र के गंगा वर्णन को देखिये—

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरत बूंद मध्य मुक्ता मनु पोहति ॥
लोल लहर लहिं पवन एक पैं इक इमि आवत।
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत।
कासी कहं प्रिय जानि ललकि भेट्यौं उठि धाई।
सपने हूं नहि तजी, रही अंकम लपटाई ॥

इत्यादि

गंगा जैसी पवित्र सरिता के वर्णन में भी हरिश्चन्द्र अपनी सांसारिकता को नहीं भूलते। उनका मन प्रकृति की ओर से भागता सा दृष्टिगत होता है। 'चन्द्रावली नाटिका' में आने वाला यमुना तट वर्णन भी इसी बात को द्योतित करता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मानवस्वभाव के वर्णन में भारतेन्दु अद्वितीय हैं। अन्तर्जगत् के ऐन्द्रिय स्पन्दन के वे श्रेष्ठ निरीक्षक हैं। मानव-स्वभाव के वे चतुर चितेरे हैं। परन्तु प्रकृति की ओर से उनका मन उचटता है। प्राकृतिक स्पन्दन की ओर उनकी आंख नहीं जाती। विश्व की विभूति के मूक भाग में उन्हें कोई गीत नहीं सुन पड़ता। प्रशान्त नदी नालों का कलरव उनके लिये नीरस है। मानव जीवन की यथार्थ व्याख्या करने के कारण वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से एक हैं परन्तु वाल्मीकि, कालिदास, और तुलसीदास आदि विश्व कवियों में उनकी गणना नहीं हो सकती।

हरिश्चन्द्र के नाटक

कहने को तो हिन्दी में कवि देवकृत देवप्रपंचमाया नाटक, नेवाज कवि कृत शकुन्तला नाटक, हृदयरामकृत हनुमन्नाटक, तथा व्रजवासी दास कृत प्रबोधचन्द्रोदय आदि अनेक नाटक कई सौ वर्ष से वर्तमान थे, पर वास्तव में नाट्य कला की दृष्टि से उन्हें नाटक नहीं कहा जा सकता। हां प्रभावती, आनन्दरघुनन्दन आदि कुछ नाटक अवश्य ऐसे हैं जो किसी प्रकार नाटक कहे

जा सकते हैं। भारतेन्दु का कहना है कि हिन्दी का प्रथम नाटक उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र उपनाम गिरिधरदास कृत नहुषनाटक है। इसके पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह ने शकुन्तला नाटक का अनुवाद किया। यह भी एक अनुवाद मात्र है। हिन्दी में मौलिक नाटकों का आरंभ हरिश्चन्द्र की कृतियों के साथ होता है। इनके रचे १४ नाटक हैं जिनमें ५ अनुवादित, ७ मौलिक, और २ अपूर्ण हैं। अनुवादित नाटकों में विद्यासुन्दर, पाखण्ड विडम्बन, धनंजय-विजय, कर्पूरमंजरी, और मुद्राराक्षस हैं। पहला बंगला से अनुवादित है और शेष चारों संस्कृत या प्राकृत से। इन अनुवादों में मौलिकता का आनन्द आता है।

मौलिक नाटकों में सब से पहला 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' है। इस प्रहसन में मांस तथा मदिरा सेवन करने वालों की मजाक उड़ाई गई है। इस में उस समय के समाज सुधारकों, धर्म प्रचारकों, विधवा विवाह के पक्षपातियों, और पंडितों की दिल्लगी उड़ाई गई है।

भारतेन्दु जी का सब से प्रसिद्ध मौलिक नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' है। कुछ लोगों के मत में यह क्षेमीश्वर के 'चण्डकौशिक' नाटक का छायानुवाद है। पर दोनों नाटकों में पर्याप्त अन्तर है। इस में हरिश्चन्द्र की सत्यात्मता का उत्कृष्ट अभिनय है। 'नाट्य-शास्त्र में नाटक लिखने या अभिनय करने के लिये, जिन नियमों का निर्धारण किया गया है उनसे भारतेन्दु जी पूर्णतया परिचित नहीं जान पड़ते। वे न तो भारतीय नाट्य शास्त्र से पूर्णतया परिचित थे और न यूरोपीय नाट्य शास्त्र का उनको व्यावहारिक या शास्त्रीय ज्ञान था। सत्य हरिश्चन्द्र में न तो हमें अर्थ प्रकृतियों का पता चलता है, न अवस्थाओं का, और न संधियों का। फिर भी इस में दो विरोधी भावों का संघर्षण स्पष्ट दीख पड़ता है। राजा हरिश्चन्द्र सत्य पर अटल हैं और विश्वामित्र उनको

उस से पतित करना चाहते हैं। इस संघर्षण के अभिनय में आवश्यकता से अधिक करुणा रस का प्रदर्शन किया गया है।'

'अभिनय की दृष्टि से इस नाटक में कई दोष हैं। अभिनयार्थ रचे गए नाटकों में यह नियम सा होता है कि क्रमशः ज्यों ज्यों अभिनय होता चलता है त्यों त्यों अंक छोटे होते जाते हैं। परन्तु इस नियम का इस नाटक में उल्लंघन किया गया है।'

'भारतेन्दु जी की चन्द्रावली नाटिका अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस की भाषा बड़ी मधुर और परिमार्जित है और इस में पीयूष वाही प्रेम का मंजुल चित्र खींचा गया है। इस प्रेम में भक्तिभाव और धार्मिक जीवन की प्रतिच्छाया है। चन्द्रावली श्री कृष्ण के प्रेम में मग्न है। विरह के कारण उस की हृत्तन्त्री तमतमा उठी है। प्रेम और औत्सुक्य का इस नाटक में अच्छा सामंजस्य है'।

'विषस्यविषमौषधम्' में गायकवाड़नरेश के कुत्सित आचार पर कटाक्ष किये गए हैं। इस नाटक के आदि में यह दोहा है—

परतियरत रावन वध्यो, परधनरत तिमि कंस।
राम कृष्ण जय सूर ससि, करत मोह अघध्वंस॥

इस में कवि ने भाण्डाचार्य के मुंह से सब कुछ कहलाया है। इस नाटक में भारतेन्दु जी स्वत्व से गिर गए हैं। प्रशस्ति के यह शब्द—

'अंगरेजन को राज ईस इत चिर करि थापै'

प्रत्येक पाठक को अखरते हैं। उन के स्वभाव में, उनकी रुचि में, उनके देशाभिमान में, उनकी देश हितैषिता में भारी परिवर्तन देख पड़ता है।

भारतदुर्दशा और नीलदेवी में भारतेन्दु जी बहुत सफल हुए हैं। दोनों नाटकों में भारत की दशा का मार्मिक चित्र खींचा गया है। भारत दुर्दशा के अन्त में कुछ कुछ निराशा का भाव प्रबल हो जाता है। नील देवी की रचना भारतीय स्त्रियों के सुधार

के लिये की गई है। देशहितैषिता के भाव इस में भी कूट कूट कर भरे गए हैं।

अंधेरनगरी एक प्रसिद्ध प्रहसन है और ६ अंकों में समाप्त किया गया है। देश की वर्तमान स्थिति के चित्र इस में भी स्थान स्थान पर आते हैं। इस प्रहसन का दूसरा अंक अत्यन्त रोचक तथा शिक्षाप्रद है।

भारतेन्दु के अपूर्ण नाटकों में प्रेमजोगिनी की बड़ी प्रशंसा की जाती है। इस के प्रथम अंक के केवल चार गर्भाङ्क लिखे गये थे। नहीं कहा जा सकता कि यह नाटक कितने अंकों में समाप्त होता और इस का वस्तुविन्यास किस प्रकार का होगा।

'उपर्युक्त नाटकों के परीक्षण से परिणाम निकलता है कि भारतेन्दु ने अपने नाटकों में न तो भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है और न यूरोपीय पद्धति का। दोनों की रुचती बातें ले ली गई हैं और पारसी नाटककंपनियों तथा बंगलानाटकों के अनुकरण पर उन का उपयोग किया गया है। नाट्यकला की दृष्टि से इन नाटकों में अनेक दोष हैं पर साथ ही याद रखना चाहिये कि हिन्दी में नाटक का विकास ही भारतेन्दु के साथ आरंभ हुआ है। ऐसी अवस्था में इन के नाटकों को सूक्ष्म विवेचना की कसौटी पर कसना इनके साथ अन्याय करना है। भारतेन्दु जी ने हिन्दी में अनेक नाटक लिख कर हिन्दी साहित्य के एक प्रधान अंग की पूर्ति की और लोगों को दृश्य काव्य लिखने का मार्ग दिखाया।' इस के लिये उनकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

भारतेन्दु का चरित्र

भारतेन्दु जी स्वभावतः अत्यधिक उदार तथा दानी थे। सत्कवियों की पूजा के लिये वे अपनी संपत्ति को पानी की तरह बहा देते थे। परन्तु साथ ही वे चरित्र हीन और अपव्ययी भी थे। धन की ओर अत्यधिक उपेक्षा रखने के कारण उन्हें जीवन की संध्या में अनेक कष्ट उठाने पड़े थे।

१९२७ में वे आनरेरी मैजिस्ट्रेट चुने गये। उस समय गवर्नमेण्ट की उन पर विशेष दया थी। परन्तु पीछे से इन के देशप्रेम संबन्धी विचारों से गवर्नमेंण्ट चिढ़ गई और इन्हें १९३१ में आनरेरी मजिस्ट्रेटी से त्यागपत्र देना पड़ा।

भारतेन्दु की उपाधि

२७ सितम्बर १८८० के 'सार सुधानिधि' पत्र में भारतेन्दु जी के परम सुहृद् रामशंकर व्यास ने यह प्रस्ताव किया कि बाबू हरिश्चन्द्र जी की सेवाओं के उपलक्ष में उन्हें भारतेन्दु की उपाधि दी जाय। हिन्दी जगत् ने इस प्रस्ताव का जोर के साथ समर्थन किया। इसी समय से सब लोग इन के नाम के साथ 'भारतेन्दु' शब्द का प्रयोग करने लगे। आगे चल कर यह उपाधि इतनी अधिक सर्वमान्य हुई कि गवर्नमेण्ट ने भी इसे स्वीकार कर लिया।

इस उपाधि के मिलने के ४ वर्ष पश्चात् भारतेन्दु जी ३५ वर्ष की अवस्था में इस विनाशी संसार को छोड़ कर ६ जनवरी सन् १८८५ को गोलोकवासी हो गए।

उपसंहार

'भारतेन्दु जी ने ३४ वर्ष और ४ मास की आयु पाई और १६ वर्ष की आयु में उनके सार्वजनिक जीवन का आरंभ हुआ। इस हिसाब से वे लगभग १८ वर्ष तक अपने देश की सेवा करते रहे। इस अल्प काल ही में उन्हों ने जो कुछ कर दिखाया वह उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाये रखने के लिये पर्याप्त है। उत्तर भारत पाश्चात्य सभ्यता और पाश्चात्य शिक्षा के प्रवाह में बह चला था, उसमें यह इतना निमग्न हो चला था कि उसे अपने वास्तविक रूप का ज्ञान ही न रह गया था। इस प्रवाह में उस का पुराना साहित्य पीछे छूट गया था और एक प्रकार से देश की साधारण स्थिति से उस का संपर्क कम होता जाता था

और उस की भाषा नए नए भावों और विचारों को प्रकट करने में असमर्थ हो रही थी। ऐसी स्थिति में साहित्य के प्रवाह को देशकाल के अनुकूल बहा कर तथा भाषा को नया रूप देकर अपने देश की, अपने साहित्य की, और अपनी भाषा की हरिश्चन्द्र ने रक्षा कर ली। यद्यपि भारतेन्दु जी की साहित्यिक सेवा अमूल्य थी पर उनका महत्त्व उस के कारण इतना नहीं है जितना हिन्दी भाषा को संजीवनी शक्ति देकर उसे देश काल के अनुकूल सामर्थ्य युक्त बनाने और देश हितैषिता के भावों को अपने देशवासियों के हृदयों में उत्पन्न करने में है। लल्लूजी लाल ने जिस भाषा को नया रूप दिया, लक्ष्मणसिंह ने जिसे सुधारा, उस को परिमार्जित और सुन्दर सांचे में ढालने का श्रेय भारतेन्दु जी को प्राप्त है। उन के समय में भी इस बात का झगड़ा चल रहा था कि हिन्दी उर्दू मिश्रित हो या नहीं। राजा शिवप्रसादजी उर्दू मिश्रित भाषा के पक्षपाती और उर्दू शैली के पृष्ठपोषक थे। भारतेन्दु जी ने इस के विरुद्ध शुद्ध हिन्दी का पक्ष लिया और उसको नये सांचे में ढाल कर एक नवीन शैली की स्थापना की। उनकी भाषा में माधुर्य गुण की प्रचुरता है और वह प्रौढता तथा परिमार्जितता से संपन्न है। उन्हों ने स्वयं लिखा हैं कि हरिश्चन्द्र मैगजीन के उदय के साथ संवत १९३० में हिन्दी नए सांचे में ढली।*

---

* श्रीयुत श्याम सुन्दरदास द्वारा संपादित भारतेन्दु नाटकावली की प्रस्तावना पृष्ठ ८९।

अध्याय १६

आधुनिक युग—नाटककार तथा अन्य लेखक।
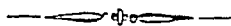
हिन्दी तथा विहारी नाटक—

हिन्दी में नाटक का जन्म अभी हुआ है। कुछ नाटक प्राचीन काल के भी हैं। देव ने (१७००) देवमायाप्रपंच नाम का नाटक लिखा था। नेवाभ्क ने (१७००) शकुन्तला और व्रजवासीदास ने (१७७०) प्रवोध चन्द्रोदय तथा अन्य कवियों ने कुछ और भी नाटक रचे थे। परन्तु इन सब में न्यूनताएं थीं। हिन्दी में पहला यथार्थ नाटक नहुप नाटक है जिसे गोपालचन्द्र (उपनाम गिरिधरदास) ने १८५७ में लिखा था। इस में नहुप के द्वारा इन्द्र के राजगद्दी से उतारे जाने और फिर प्रतिष्ठित होने का सुन्दर चित्र खींचा गया है। दूसरा नंवर है राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६–१८९९) के शकुन्तला नाटक का, जो सचमुच एक सुन्दर नाटक है। वा० हरिश्चन्द्र ने भी अनेक नाटक लिखे जिनमें पहले का नाम विद्या सुन्दर है। हरिश्चन्द्र ने सब मिला कर १८ नाटक लिखे हैं। श्रीनिवास, तोताराम, गोपालराम, काशीनाथ खत्री, पुरोहित गोपीनाथ, लाला सीताराम तथा अन्य महाशयों ने हिन्दी में अच्छे नाटक लिखे हैं। सब से पहला हिन्दी का नाटक १८६८ में खेला गया था।

विहार में नाटक का जन्म वहुत प्राचीन वताया जाता है। विद्यापति ठाकुर ने जो १५वीं सदी के मध्य में उत्पन्न हुए थे, दो नाटक लिखे थे। लालभ्का (१७८०) ने गौरीप्रणय नामका नाटक लिखा था। १९वीं सदी के प्रारंभिक दिनों में भानुनाथ ने 'प्रभावती हरण' तथा कुछ दिन पश्चात् हर्पनाथ भ्का ने 'उपाहरण' नाम का नाटक लिखा। हिन्दी तथा विहारी नाटकों में वड़ा भेद यह

है कि बिहारी के नाटकों में पात्रों की भाषा या तो संस्कृत है अथवा प्राकृत। मैथिल भाषा में केवल गीत गाये जाते हैं।

काव्य संग्रह

हिन्दी साहित्य की ओर जन साधारण की रुचि बढ़ने के साथ उस में अनेक काव्य संग्रह भी रचे जाने लगे।

लल्लूजी लाल और बाबू हरिश्चन्द्र के रचे काव्यसंग्रहों के अतिरिक्त और भी अनेक संग्रह बनाए गये जिनका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है—

राग सागरोद्भव राग कल्पद्रुम — में २०० से अधिक कवियों की सूक्तियों का संग्रह है। इस महान् ग्रंथ को कृष्णानन्द व्यासदेव ने १८४३ में रचा था।

रस चन्द्रोदय — इस में २४२ कवियों की सूक्तियों का संग्रह है। इसे ठाकुरप्रसाद त्रिपाठी ने १८६३ में बनाया था।

दिग् विजय भूषण — को गोण्डा जिला के बलिरामपुर नामक स्थान के निवासी गोकुलप्रसाद कायस्थ ने १८६९ में रचा था। इस में १९२ कवियों की सूक्तियों का संग्रह है।

शिवसिंह सरोज — इस ग्रंथ को शिवसिंह सेङ्गर ने प्राचीन संग्रहों के आधार पर रचा है। इस बहुमूल्य ग्रंथ की द्वितीयावृत्ति १८८३ में प्रकाशित हुई थी।

गोकुलनाथ

महाभारत का हिन्दी अनुवाद

इन्हीं दिनों महाभारत का हिन्दी में अनुवाद छपा। बनारस के राजा उदित नारायण के कहने पर बनारस के गोकुलनाथ ने (१८२०) इसे प्रारंभ किया था। गोकुलनाथ ने और भी अनेक ग्रंथ रचे थे जिन में

'गोविन्दसुखद विहार' तथा चेत चन्द्रिका जिस में उनके आश्रयदाता बनारस के राजा चेतसिंह के वंश का इतिहास है, प्रसिद्ध हैं। परन्तु इनका सब से अधिक महत्त्वशाली प्रयत्न महाभारत का हिन्दी में अनुवाद करना है। इस काम में इन के पुत्र गोपीनाथ तथा शिष्य मणिदेव ने इन की प्रशंसनीय सहायता की थी।

दरबारों का आश्रय–

आधुनिक सभ्यता का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर एक दम नहीं व्यापा। बहुत से स्थानों पर अब भी प्राचीन दशा चलती रही। छापेखानों के लाभ सब स्थानों पर एक दम कैसे पहुँच सकते थे? फलतः बहुत से स्थानों में कवि लोगों को अब भी आश्रय के लिये राजाओं का मुंह ताकना पड़ता था। बुन्देलखण्ड-वर्ती पन्ना, चरखारी, नागपुर, बनारस, अयोध्या तथा अन्य अनेक रियासतों के दरबारों में कवि लोगों का अब भी अच्छा स्वागत होता रहा। इन रियासतों के राजाओं में से बहुत से स्वयं भी कवि थे। जोधपुर के महाराजा मानसिंह ने (१८१०) राजस्थानी भाषा में अनेक ग्रन्थ रचे थे। चन्द्रशेखर वाजपेई (१७६८-१८७५) ने जो दरभंगा, पटियाला तथा जोधपुर के दरबारों में रहा था शृङ्गार तथा वीररस की अच्छी कविता की थी। उसका रचा 'हम्मीर हठ, प्रसिद्ध है। पन्ना के महाराजा हिन्दू पति ने मोहनदत्त, रूपसाहि तथा करण को अपने दरबार में आश्रय दे रक्खा था। इनमें से करण (१८००) ने कविता के नियमों तथा अलंकारों पर अच्छी कविता की है। मोहनभट्ट अन्य दरबारों में भी रहे थे। इनके पुत्र पद्माकर भट्ट प्रसिद्ध कवि हुए और अनेक दरबारों में रहे। चरखारी के राजा खुमानसिंह, विक्रमसिंह तथा रतनसिंह कवियों को आश्रय देने के लिये प्रसिद्ध थे। विक्रमसिंह (१७८५-१८२८) स्वयं भी चोखी कविता करते थे। इन्होंने बिहारीलाल की सतसई को आदर्श रख दूसरी सतसई रची थी। इनके दरबारी कवियों में

वैताल, मान तथा बालदेव (१८२०) प्रसिद्ध हैं। विहारीलाल, अवधेस, रावराणा, गोपाल तथा रामदीन त्रिपाठी (१८४०) राजा रतनसिंह के दरबार में रहते थे। सूर्यमल्ल (१८४०) बूंदी के दरबार में रहते थे। इन्होंने 'वंशभास्कर' नाम के महान् ग्रन्थ में बूंदी राज्य की वंशपरंपरा का (उदाहरणों द्वारा) इतिहास लिखा था। बुन्देलखण्ड की रीवां रियासत के दरबार में कवियों की प्रतिष्ठा की जाती थी। इस विषय में वहां के महाराजा जयसिंह (१७६४-१८३४) और उनके पुत्र विश्वनाथसिंह प्रसिद्ध हैं। यह दोनों स्वयं भी कविता करते थे। विश्वनाथसिंह संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में अच्छा लिखते थे। कबीर के बीजक तथा तुलसीदास की विनयपत्रिका पर रची इनकी टीका स्तुत्य है। 'रामचन्द्र की सवारी' नामका इनका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी है। विश्वनाथसिंह के पुत्र राजा रघुराजसिंह ने (१८२३-१८७९) जो १८५८ में राजगद्दी पर बैठे थे, अपनी कुलक्रमागत औदार्यवृत्ति तथा कविताप्रवृत्ति को बनाए रक्खा। इनका रचा 'भागवतपुराण' और 'सुन्दरशतक' का हिन्दी अनुवाद अच्छा है। अयोध्या के महाराजा मानसिंह (१८९०) भी कवियों के आश्रयदाता थे और स्वयं कविता करते थे।

कवित्वकला—

प्राचीनकाल से दरबारों में रहनेवाले कवियों का ध्यान कवित्वकला की ओर रहता चला आया है। गुरुदीन पांडे ने (१८०३) केशवदास की कविप्रिया के समान कवित्वकला पर एक सुन्दर ग्रन्थ रचा। वेणी प्रवीण वाजपेई (१८१७) जो लखनऊ के ब्राह्मण थे, और जिनकी कविता में जहां तहां यथार्थ कवित्व की चमक है, कवित्वकला के धुरंधर विद्वान् थे। इन्होंने अलंकारादि विषयों पर अनेक ग्रन्थ रचे हैं।

पद्माकर भट्ट १७९३

इस युग के कवियों में मोहनलाल भट्ट के पुत्र श्री पद्माकर भट्ट अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

शृङ्गार वीर तथा भक्ति रस के आचार्य थे

इनका जन्म सं० १७५३ ईसवी में बांदा में हुआ था। ये १८३३ ई० तक जीवित रहे। विद्वान् पिता के यह विद्वान् पुत्र थे। आपने लिखा भी है—

'संस्कृत प्राकृत पढौ जु गुनग्रामा हौं'

पद्माकर की कविता का उनके जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। ये अनेक दरबारों में घूमे और सर्वत्र संमानित हुए। आपने लिखा है—

हय रथ पालकी गयन्द गृह ग्राम चारु,
आखर लगाय लेत लाखन की सामा हौं॥

इनको कविता से अच्छी कमाई थी। फलतः इनका जीवन आनन्द में बीता था। पद्माकर शृङ्गारिक प्रकृति के पुरुष थे। 'इन्हों ने किसी अन्य स्त्री को प्रेमिका बना कर घर में रख लिया था। इस जीवन का उनकी शृङ्गाररसात्मक कविता से सम्बन्ध होना प्रत्यक्ष है।' पद्माकर कुछ दिनों तक हिम्मतबहादुर के यहां रहे थे। हिम्मत बहादुर गुसाईं अनूपगिरि का दूसरा नाम था। हिम्मत बहादुर सचमुच बहादुर योद्धा थे। इनकी एक लड़ाई में पद्माकर भी उपस्थित थे। इन दिनों आपने वीररस की उत्कृष्ट कविता रची। कहा जाता है कि जीवन के अन्तिम दिनों में आप कुष्ठरोग से पीडित हो गए थे। उस समय अतीत जीवन पर पश्चात्ताप करते हुए आपने भक्तिरस का एक छोटा सा परन्तु उत्कृष्ट ग्रन्थ 'प्रबोध-पचासा' बनाया। ईश्वर की कृपा से आपका रोग अच्छा हो गया और आप कानपुर रह परमात्मा का भजन करने लगे। वहां आपने 'गंगालहरी' नाम का उत्कृष्ट ग्रन्थ रचा।

पद्माकर ने शृङ्गार, वीर और भक्तिरस की कविता की है। इनका सब से अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'जगद्विनोद' है जो जयपुर के महाराजा जगत्सिंह की आज्ञा से बनाया गया था। यह शृङ्गार

रस का अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें रसभेद का मनोरम व्याख्यान है। पद्माकर ने 'हिम्मतबहादुरविरुदावली' नामक वीर रस का उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ की ब्रजभाषा में प्राकृत का मिश्रण है। इनका रचा 'प्रबोधपचासा' भक्तिरस के ग्रन्थों में आदर्श गिना जाता है। पद्माकर श्रीराम के भक्त थे। आप लिखते हैं—

भाषत क्यों न भयो पद्माकर रामहि राम रसायन बानी।

पद्माकर की भाषा ओजस्विनी है और अनुप्रास के लिये प्रसिद्ध है। आप 'गंगालहरी' में लिखते हैं—

एरे दगादार मेरे पातक अपार, तोहिं
गङ्गा की कछार मैं पछारि छार करिहौं।

इनके रचे हुए ईश्वर पचीसी, हितोपदेशभाषा और आलीजा प्रकाश नामक ग्रन्थों का पता मिला है। आलीजाप्रकाश इन्होंने ग्वालियर के सींधिया महाराज के यहां रह कर उन्हीं के नाम पर बनाया था। अलंकार विषय पर इनका रचा 'पद्माभरण' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ दोहा और चौपाइयों में लिखा गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार 'रामरसायन' नाम का ग्रन्थ भी पद्माकर ही ने रचा था। एक प्रकार से यह ग्रन्थ 'वाल्मीकीय रामायण' का हिन्दी अनुवाद है।

पद्माकर उत्कृष्ट कवि थे और कभी कभी प्रतिभान के आवेश में आ अच्छी बातें लिख जाते थे। आपकी रची शृङ्गार, भक्ति, तथा वीररस की कविता अति उत्तम है। आपके वर्णन कहीं कहीं बड़े सच्चे और अनूठे हैं। आपकी भाषा अत्यन्त ललित उत्तम, तथा, प्रभावपूर्ण होती थी। अलंकारों में आपने अनुप्रास और यमक का अत्यधिक प्रयोग किया है। आपका अनुप्रास साधारणतया अच्छा होता था परन्तु कहीं कहीं अलंकारों की सनक में आ आप भावों को भूल जाते थे। जैसे—

कहै पदमाकर फराकत फरसबन्द,

फहरि फुहारिन की फरस फबी है फाव ॥

किसी मनुष्य की दानशीलता का वर्णन करते हुए आप लिखते हैं—

दीन्हें गज बकस महीप रघुनाथराय,
याहि गज धोखे कहूं काहू देई डारै ना।
या ही डर गिरिजा गजानन को गोइ रहो,
गिरितें गरेतें निज गोदतें उतारै ना ॥

भक्ति में मस्त हो आप एक स्थान पर लिखते हैं—

रामसों कहत पद्माकर पुकारि तुम,
मेरे महापापन को पारहू न पाओगे ॥
झूठो ही कलङ्क सुनि सीता ऐसी सती तजी,
हों तो सांचो ही कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे॥

ग्वाल

पद्माकर भट्ट के समकालीन प्रतिद्वन्द्वी कवियों में मथुरा-निवासी ग्वाल कवि का स्थान बहुत ऊंचा है। इनके बनाए अनेक ग्रन्थों का पता मिलता है। इन्होंने रसों पर कविता लिखी है, और षड्ऋतु तथा 'नखशिख' भी लिखे हैं। इनकी रची 'यमुना-लहरी' प्रसिद्ध है। इसमें यमुना की प्रशंसा की गई है और षड्ऋतु तथा रसों का वर्णन किया गया है। भक्तिरस के विषय में इनका 'भक्ति भावन' नामक ग्रन्थ अच्छा है। ग्वाल कवि की भाषा खरी होती थी। पद्माकर की भाँति यह भी अनुप्रास और यमक का भरसक प्रयोग करते थे। एक गोपी कृष्ण से अप्रसन्न हो उनकी इस प्रकार निन्दा करती है—

त्यौं कवि ग्वाल बिरंचि बिचारि कै,
जोरी मिलाय दई अति खासी।
जैसोइ नन्द को पालकु कान्हसु,
तैसि यें कूबरि कंस की दासी ॥

शरद् ऋतु के वर्णन में आप लिखते हैं--

ग्वाल कवि चित में चकोरन के चैन भये,
पंथिन की दूर भई दूखन दरद की ।
जल पर थल पर महल अचल पर,
चांदी सी चमक रहि चांदनी सरद की ॥

पजनेस पन्ना के रहने वाले थे । आलङ्कारिक विषयों पर अच्छी कविता करते थे । इनकी कविता में अनुप्रास का आधिक्य होता था । ये फारसी के विद्वान् थे और अपनी कविता में फारसी शब्दों का खूब प्रयोग करते थे । जैसे--

पजनेज १८४३

फैली दीप दीप दीपति दिपति जाकी,
दीपमालिका की रही दीपति दबक सो ।
परत न ताब लखि मुख महताव जब,
निकसी सिताब आफताब के भभक सी ॥

प्रताप अच्छे कवि थे । इन्होंने कई ढंग की कविता की है । इनकी प्रतिभा का प्रधान क्षेत्र रीति प्रवाह था । इनका रचा 'काव्य विलास' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है । इसमें काव्य लक्षण, रस, भाव, दोष, गुण आदि पर मार्मिक विवेचन किया गया है । इन विपयों के अतिरिक्त प्रताप ने व्यंगों का बहुत अच्छा वर्णन 'व्यंगार्थ कौमुदी' नामक ग्रन्थ में किया है ।

प्रतापसाही १८२८

प्रतापकवि श्रीराम के भक्त थे । इन्होंने राम की स्तुति में अनेक उद्भट छन्द रचे हैं । उनके नखशिख का भी सुन्दर वर्णन किया है । राम के नयनों का वर्णन करते हुए आप लिखते हैं--

जनक सुता के मुखचन्द्र के चकोर किधौं,
वरने न जात अति उपमा अतूले हैं ।
राजै राम लोचन मनोज अति ओज भरे,

सोभा के सरोवर सरोज जुग फूले हैं ॥

इनकी भाषा उत्कृष्ट तथा चित्ताकर्षक है। इनका पदविन्यास सुन्दर तथा मनोहर है। इन्होंने अनुप्रास का चामत्कारिक प्रयोग किया है। आप लिखते हैं--

कौन सुभाव री तेरो परो वर पूजत काहे हिये सकुचाति है।
चंचला चपल चारु चमकत चारों ओर,
भूमि भूमि धुरवा धरनि परसत है।
घन ये नभ मण्डल में छहरैं घहरैं कहूं जाय कहूं ठहरैं ॥

इत्यादि

प्रताप टीकाकार भी थे। इन्होंने रसराज और सतसई की टीकाएं लिखी हैं। सतसई की टीका 'रत्न चन्द्रिका' नाम से प्रसिद्ध है। इन्हों ने चार पांच ग्रन्थ और लिखे हैं।

गिरिधरदास १८४२

गिरिधरदास काशी के रईस थे। इनका असली नाम गोपालचन्द्र था। इनका उपनाम गिरिधरदास के अतिरिक्त गिरिधारी और गिरिधारिन भी था। इन्हों ने लगभग ४० ग्रन्थों की रचना की है। इनमें से कुछ के नाम यों हैं-जरासन्ध वध, नहुषनाटक, दशावतार, षड्ऋतु, नीति इत्यादि। इनकी कविता सरस होती थी। इन्हों ने यमक और श्लेष का बहुत ही अधिक और उत्कृष्ट उपयोग किया है। आप लिखते हैं--

आनन की उपमा जो आनन को चाहे तऊ,
आनन मिलेगी चतुरानन विचारे को।

इनका 'जरासन्ध वध' महा काव्य प्रसिद्ध है। इसका एक छन्द देखिये--

भयो भूरि भार धरा चलत जरा कुमार,
करत चिकार दिग्गज सहित सोग।
गिरिधरदास भूमिमण्डल मरमरात,

अति घबरात से परात हैं दिसन लोग ।।

इनका रचा नहुष नाटक भी प्रसिद्ध है । यों तो हिन्दी में नाममात्र के अनेक नाटक लिखे जा चुके थे, किन्तु उनमें नाटकीय अभिनय की और भावों के आनुक्रमिक उत्थान और पतन की न्यूनता थी । नहुष नाटक ने नाटक के इस लक्ष्य को किसी सीमा तक पूरा किया । नहुष नाटक में नहुष और इन्द्र की कथा का वर्णन है । यह नाटक सन् १८५७ ईसवी में लिखा गया था । पिता के द्वारा प्रवृत्त की गई नाटक लेखन की इस परिपाटी को गिरिधरदास के सुपुत्र भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने परिष्कृत कर उन्नत किया ।

बिहारीलाल त्रिपाठी- (१८४०) — मतिराम त्रिपाठी के वंश में उत्पन्न हुए थे।

नवीन-१८४२ — ने कवित्वकला के विषय में अनेक सुन्दर ग्रन्थ लिखे थे ।

गणेशप्रसाद फर्रुखाबादी (१८४७-१८७७) — फर्रुखाबाद के कायस्थ थे । नखशिख के पर इनकी कविता प्रसिद्ध है ।

सरदार (१८४५-१८८२) — बनारस के रहने वाले थे, अलङ्कारों के प्रकाण्ड पंडित थे। इन्होंने केशव, बिहारी, तथा सूरदास के ग्रंथों पर टीका की है । इनके रचे 'शृङ्गार संग्रह' में अलङ्कारों का सुन्दर निरूपण है ।

नारायणराय — सरदार के शिष्य थे। आप अलंकारों के। पण्डित थे ।

मंसाराम — इनका रचा रघुनाथरूपक (१९वीं सदी के आरम्भ में लिखा गया) मारवाड़ी भाषा में श्रेष्ठ ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ में अलंकारों की व्याख्या के साथ साथ रामचन्द्र जी की कथा भी लिखी गई है ।

विहार के कवि—

१८वीं सदी में होनेवाले विहारी कवियों की रचनाएं मैथिल भाषा में हैं। भानुनाथ झा (१८५०) और हर्षनाथ झा (१८४७ में उत्पन्न) दोनों महाराज दरभङ्गा के दरवार में रहते थे। भानुनाथ झा के ग्रन्थों में 'प्रभावतीहरण' सवसे अधिक प्रसिद्ध है। हर्षनाथ झा ने अनेक गीत तथा नाटक रचे थे। इन्हीं दिनों तिरहुत के कायस्थ फतूरीलाल ने अपने 'कवित्त अकाली' नामक ग्रन्थ में १८७३-१८७४ के अकाल का मार्मिक चित्र खींचा था। १९वीं सदी के अन्तिम चरण में होने वाले कवि चन्द्र झा ने मैथिल भाषा में रामायण लिखी जिसका विहार में खूव प्रचार हुआ।

धार्मिक कविता—

यों तो उपर्युक्त सभी ग्रन्थों का किसी न किसी दृष्टि से धर्म के साथ संवन्ध है, परन्तु यथार्थ धार्मिक ग्रन्थों का, इस युग में (१८वीं सदी में) प्रायः अभाव सा रहा। पाश्चात्य जगत् के साथ हुए संवन्ध ने भारतीयों के धार्मिक दृष्टि कोण में परिवर्तन उत्पन्न कर दिया। सांप्रदायिकता का स्थान धार्मिक सुधार ने ले लिया। सव संप्रदाय धर्म के यथार्थ रहस्य की ओर चलने लगे। धार्मिक प्रचार में गद्यमय साहित्य का समाचार पत्रों और ट्रैक्टों के रूप में खूव उपयोग हुआ जिससे हिन्दी गद्य के विकास में भारी सहायता मिली। सव कुछ होने पर भी संप्रदायविषयक साहित्य का सर्वथा अभाव न हुआ और १८०६ में जयपुरनिवासी जयचन्द ने 'स्वामीकार्तिककेयानुप्रेक्ष' नाम का ग्रन्थ संस्कृत में और जैनधर्म-विषयक एक ग्रन्थ हिन्दी में लिखा। वनारस के प्रसिद्ध वृन्दावनजी (लगभग १७९१-१८५८) ने भी साहित्यद्वारा जैनधर्म की अच्छी सेवा की। हाथरस के साधु वख्तावर ने (१८१७) 'सूनीसार' नाम की एक पुस्तक रची जिसमें आत्मा तथा परमात्मा का खण्डन करके शून्यवाद का प्रचार किया। रामावत संप्रदाय पर भी अच्छे

अच्छे ग्रन्थ निकलते रहे । मून ने (१८०२) 'रामरावण युद्ध' नामक ग्रन्थ में रामचन्द्र की कथा लिखी। लखनऊ जिले के ललकदास ने (१८३१) 'सत्योपाख्यान' नामक ग्रन्थ में बचपन से लेकर विवाह तक की रामचन्द्रजी की कथा लिखी। चन्द्रझा द्वारा मैथिल भाषा में रची गई रामायण का उल्लेख पहले हो चुका है। सीतापुर जिले में रहनेवाले सहजराम ने (१८०४ में उत्पन्न) भी एक रामायण लिखी जो एक प्रकार से रघुवंश तथा हनुमन्नाटक का अनुवाद है। १८वीं सदी के अन्तिम भाग में अयोध्या के रघुनाथदास ने रामकी स्तुति में हजारों गीत रचे। इन्हीं दिनों रायबरेली के जानकीप्रसाद ने रामचन्द्रजी की पद्यमय कथा लिखी जो कविता की दृष्टि से उत्कृष्ट समझी जाती है। तुलसीदास आदि कवियों के ग्रन्थों पर टीकाएं भी रची गईं। बनारस के बन्दनपाठक ने रामायण पर 'मानस शंकावली' नाम की, और शिवप्रकाशसिंह ने विनयपत्रिका पर 'रामतत्त्व बोधिनी' नाम की टीकाएं लिखीं। यह दोनों टीकाएं १९वीं सदी के अन्तिम भाग में लिखी गई थीं। कृष्णावत संप्रदाय पर लिखने वालों में रसिकगोविन्द (१८०१) और ललितकिशोरी (१८६०-१८७३) प्रसिद्ध हैं।

ईसाई धर्म के प्रचार के साथ साथ ईसाई धर्म पर भी हिन्दी भाषा में सहस्रों गीत बने। इनमें से अधिकांश निरी तुकबन्दी हैं। जोहन क्रिश्चियन (१८८३ के लगभग मृत) ने ईसा के विषय में अनेक हिन्दी गीत रचे हैं। इनका रचा 'मुक्तिमुक्तावली' नामक ईसा का जीवनचरित प्रसिद्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां १८वीं सदी में हिन्दी के गद्य का उद्बोधन हुआ और पाश्चात्य जगत् के साथ सम्बन्ध होने से प्राप्त हुए नवीन विषयों पर उसमें अनेक ग्रन्थ लिखे गये, वहां प्राचीन विषयों पर भी समय समय पर अच्छे अच्छे ग्रन्थ लिखे जाते रहे और धर्म के ऊपर नवीन दृष्टिकोण से विचार होता रहा।

संक्षेप में इस युग को परिवर्तन का युग कहा जा सकता है। इस में प्राचीन प्रणाली तथा नवीन प्रणाली दोनों का आरंभिक संमिलन है। भारतीय सभ्यता तथा पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क से उत्पन्न होने वाले साहित्य की अभी आभामात्र दीखी है। वह आभा सुन्दर है और उन्नत सूर्योदय की आशा दिलाती है। आधुनिक युग के लेखकों में अनेक अब भी जीवित हैं। उनकी रचनाओं में यथार्थ कविता का अंश कितना है इस बात का निर्णय समय ही कर सकेगा।

अध्याय १७

वर्तमान कवि

भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र के समकालीन पंडित नाथूराम शङ्कर, पण्डित बद्रीनारायण चौधरी, श्रीयुत विनायक-राव, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पण्डित अंबिकादत्त व्यास, बाबू जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने भी कविताएं कीं परन्तु इनमें पण्डित नाथूराम शंकर शर्मा को छोड़ और किसी ने भी कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं की। यह महानुभाव प्रायः व्रजभाषा में ही कविता करते रहे। एकाध कविता जो इन्हों ने खड़ी बोली में लिखी विशेष उल्लेख योग्य नहीं है।

नाथूरामशंकर १८४९ में जन्म

पण्डित नाथूराम शंकर प्रसिद्ध कवि हैं। आप अलीगढ़ जिले के हरदुआगंज नामक स्थान के रहने वाले हैं। आप मिलनसार तथा भावुक वृद्ध आर्य हैं। आपका सौजन्य तथा सहज स्नेह प्रत्येक मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। लेखक को भी शर्मा जी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आपको, आपकी सहज विद्वत्ता तथा सरस कविता के लिये उत्तर भारत के प्रमुख संस्कृत विद्यालय महाविद्यालय ज्वालापुर ने 'कविता कामिनी कान्त, की उच्च उपाधि से सुभूषित किया है।

शङ्कर जी की कविता

शङ्कर जी ने व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही में अत्यन्त मौलिक कविता की है। परन्तु आपकी खड़ी वोली में सदा व्रजभाषा की पुट लगी रहती है। आपके रचे अनुरागरत्न, शङ्कर सरोज, तथा वायस विजय आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। शङ्कर

का वर्णन करते हुए आप लिखते हैं—

शैल विशाल महीतल फोड़ बढ़े, तिनको तुम तोड़ कढ़े हौ।
लै लुढ़की जलधार धड़ाधड़ ते, वर गोल मटोल गढ़े हौ॥
प्राण विहीन कलेवर धार, विराज रहे न लिखे न पढ़े हौ।
हे जडदेव! शिला सुतशंकर!! भारत पै करि कोप चढ़े हो॥

अपढ़ जडदेव शिलासुत शंकर का कैसा अक्खड़ वर्णन है! महीतल को फोड़ ऊपर उभरने वाले हिमाचल को तोड़ कर निकलने वाला रुद्र भारत पर दया किस प्रकार कर सकता है? जिस शिव का जन्म हिमाचल की हृदयहीन शिलाओं में, और पालन धड़ाधड़ लुढकने वाले जल प्रपातों में हुआ हो वह भारत को और उसके द्वारा संसार को ऊपर से तरल दीखने वाली परन्तु भीतर से अत्यन्त कठोर तथा मर्मवेधी आधुनिक सभ्यता के शून्य जठराकाश में पहुँचाए बिना न रहेगा। वह स्वयं न तो लिखा है और न पढ़ा है, परन्तु संसार के श्रान्त आत्माओं को सततं निःसार बनाने के लिये विषयोन्मुख विद्या की ओर लुढकाता जा रहा है, उनके भौतिक शरीरों को गोलमटोल बनाने के लिये उनकी रुचिर प्रवृत्तियों का संहार करने में लगा हुआ है।

शङ्कर की कविता में कठोरता

आधुनिक सभ्यता की क्रूरता तथा आततायिता का कैसा अक्खड़ एवं अनोखा वर्णन है! वर्तमान परिस्थिति की प्रवंचकता तथा घातक छद्मवाद से शंकर का जराजीर्ण हृदय सन्तप्त हो उठा है। जिधर देखो धोखेबाजी का राज्य है, प्रतारणा का पसारा है, आततायिता तथा कृतघ्नता का साम्राज्य है। शंकरने इस विसंवादिनी सौम्यता के विरोध में अपना त्रिशूल धारण किया है। उसके प्रत्येक शब्द में आत्मिक प्रकोप तथा कठोरता स्पन्दित हो रही है। वृद्ध 'कविताकामिनीकान्त' ने अपनी प्रेयसी के क्षौमपरिधान को उतार उसे भी कठोरता की

शिक्षा दी है, उसे भी टवर्गों से अलंकृत कर अपने पाखण्ड खण्डन दिव्य होम में दीक्षित किया है।

सूर्यग्रहण का वर्णन

आज सूर्य ग्रहण का दिन है। पश्चिम ने पूरब को ग्रस लिया है। निरंकुश आततायिता ने सौम्य वृत्ति को आक्रान्त कर लिया है। आज पाटलवर्णा गोमाता पर हृदयहीन केसरी का पंजा लगा हुआ है! धनुर्धर शंकर इस दृश्य को देख चुपचाप कैसे रह सकता है? वह एकान्त विध्वंसी कण पिण्ड की आस्था न कर केसरी को ललकारता है—

जिसको पाय चमकता था तू, अधम उसी को रोक रहा।
धिक् पापिष्ठ कृतघ्न कलंकी, तेज त्याग तम पास किया॥

कृतघ्न केसरी को कैसा कठोर ताना है! जिसने अन्धकार की गभीर रजनी में स्तब्ध पड़े नीरव जगत् को प्रकाश का आलोक दे जीवनदान दिया था, पापी, कृतघ्न, कलंकी! तू आज दो दिन के वैभव में बौरा उस भारत को ग्रसना चाहता है, उसके शान्तरुधिर को चूस अपनी क्रव्यादता का परिचय देना चाहता है? धिक्कार है तेरे इस कठोर क्रूर जीवन को!

मन्द हुआ सुन्दर मुख तेरा, छिटकी छवि तारागण की।
अपने आप जाति में अपना, क्यों इतना उपहास किया॥
जुगनू जाग उठे जंगल में, दिये नगर में जलवाये।
मूंद महामहिमा महान् की, अणु का तुच्छ विकास किया॥
मंगल मान निशाचर सारे, चरते और विचरते हैं।
दिन को रूप दिया रजनी का, देवसमाज उदास किया॥
उष्ण प्रभा बिन बन पुष्पों से, सार सुगन्ध न कढ़ते हैं।
रोक चाल नैसर्गिक विधि की, दिव्य हवन का ह्रास किया॥

कैसी गूढ समालोचना है? ऐश्वर्य तथा आत्मिक शान्ति की उष्ण रश्मियों के बिना यथार्थ कविता का विकास असंभव है।

भारतीय मानव जगत् के नैसर्गिक विकास का प्रतिरोध कर ओ, क्रूर पश्चिम ! तूने प्रकृति के सर्वाङ्गीण विकास को बन्दी कर लिया है। प्रकृति, आत्मा, तथा परमात्मा का यह कल्पान्तस्थायी लोकोत्तर सत्र आज भग्न हो रहा है । इसके होता, अध्वर्यु, उद्-गाता, इसकी दिव्य दर्वी, इसका लोकोत्तर कुण्ड आज सब युगान्तर की प्रतीक्षा में आह भर रहे हैं । शंकर ! ओ जराजीर्ण, म्लानवदन शंकर ! तेरी आहों को संसार सुनेगा, भारत का स्फूर्तिमय नवजीवन सुनेगा ।

दिन में चुगने वाली चिड़ियां, हा ! अब कहीं न उड़ती हैं ।
सब के उद्यम हरने वाला, सिद्ध तामसिक त्रास किया ॥
नाम सुधाकर है पर तेरी, लघुता विष बरसाती है ।
विरहानल को भड़काने का, अतिनिन्दित अभ्यास किया ॥

पर राहु ! 'पतनान्ताः समुच्छ्रयाः' देख तेरे पतन का काल आ गया । वह देख नीरव अंबर में, प्रकृति के अहिंसात्मक प्रति-रोध से सत्य तथा कल्याण रूप प्रभाकर उदित हो रहे हैं—

छुटने लगी छूत अब तेरी, उकसी कोर प्रभाकर की ।
फिर दिनका दिन हो जावेगा, हट ! क्यों वृथा प्रयास किया ॥
दिव्य उजाला देकर तुझको, परसों फिर चमकावेगा ।
कह दे कब सविता स्वामी ने, श्रीहत अपना दास किया ॥

घोर कलियुग में भी भारत स्वराज्य प्राप्ति के उपरान्त आतता-यियों को अभयदान देगा ।

धन्य है शंकर ! धन्य तेरी क्षमातिक्रमिणी क्षमा ! यही पूर्वजों का आदर्श था, यही धर्मप्राण हिन्दू जाति का आदर्श था । इसी पर शिवि ने अपने भौतिक शरीर को छुरी से खुरच खुरच नृशंस बाज को सौंप दिया था । इसी पर हरिश्चन्द्र ने आत्मधनदारासुत सर्वस्व को बेच श्मशान में, हृदयशून्य काले अंबर के नीचे, बिजली की कौंध में, और जलासारों के झंझानिल में सांय सांय

करती हुई रजनियां काटी थीं । तूने आज फिर से उस पवित्र आदर्श का रागात्मक व्याख्यान किया है । तू धन्य है ! तेरी लेखनी भी धन्य है !!

शंकर की व्यापक दृष्टि

शङ्कर की कविता में कवि की दिगन्त व्यापिनी दृष्टि दीख रही है। वह जरा सी बात का व्यापक अभिनय करने के लिये संसार की विशाल शक्तियों को प्रतिभा के तागे में पिरो कविता कामिनी की कलधौत ग्रीवा में पहना देते हैं। मांग का वर्णन करते हुए आप लिखते हैं—

कज्जल के कूट पर दीप शिखा सोती है कि
　　श्यामघन मण्डल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि
　　राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है॥
शंकर कसौटी पर कञ्चन की लीक है कि
　　तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की मांग है कि
　　ढाल पर खांडा कामदेव की दुधारा है॥

मांग का ऐसा प्रतिभा संपन्न वर्णन किसी भी साहित्य में मिलेगा इस बात में सन्देह है । यहां शङ्कर ने मुग्ध रमणी के लज्जाभ मुखकी लोकोत्तर सुषमा को चमत्कृत करने के लिये कृष्ण और रक्त इन दो प्रतीपी रागों का संनिधिकृत सांमुख्य दिखाते हुए संसार की चराचर शक्तियों को हस्तामलक कर दिया है। इस बात में शङ्कर जी संसार के श्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में विराजने योग्य हैं। गौरवाला की नासिका का वर्णन करने में तो आप कवितापति सूरदास को भी पीछे छोड़ गये हैं—

आंख से न आंख लड़ जाय इसी कारण से
　　भिन्नता की भीत करतार ने लगाई है।

नाक में निवास करने को कुटी शंकर की
छवि ने छपाकर की छाती पै छवाई है ॥
कौन मान लेगा कीरतुण्ड की कठोरता में
कोमलता तिल के प्रसून की समाई है।
सैकड़ों नकीले कवि खोज खोज हारे पर
ऐसी नासिका की कहूं उपमा न पाई है ॥

रमणियों के चितेरे शंकर ! जहां सैकड़ों नकीले कवि मुंह की खागए हैं वहां तू ने शत प्रतिशत विजय प्राप्त करके बाला की विजय वैजयन्ती इस नासिका को कविता की सुधाधौत रश्मियों से छेद दिया है, उसमें नकेल डाल बाला से जी चाहा कराया है। तेरा जादू अमोघ है, तेरी विजय अविकल है, रमणियों के नख-शिख पर आज से तेरा एकच्छत्र सुनहरा साम्राज्य है।

शङ्कर ने अपने 'काव्यकानन' में, जिसकी गंभीर सुषमा को टवर्ग के हिंस्र जन्तु शतगुणा अधिक बना रहे हैं, पाश्चात्य सभ्यता के अन्धे पुजारियों से 'त्राहि त्राहि' बुलवा दी है । कोट, पटलून, सूट बूट की तो रेड़ ही मार दी है। आप लिखते हैं—

बूट पटलून कोट कालर वो टोपी डाट
जाकट की पाकट में वाच लटकायंगे।
ठूंसी ठकुराई ठेलि टोठुआ ठकुरिया में
वोना बजमारी बेट वाह्मन बनायो री ॥

टवर्गों की इस कठोर टाप में बूट सूट रौंदे जा रहे हैं और कुटिल पाश्चात्य सभ्यता पिसी जा रही है। कहीं कहीं तो इस टाप को सुन स्वयं शङ्कर भगवान् सहम जाते हैं और जल्दी से एक ओर को खिसक वेदान्त का मधुमय उपदेश देने लगते हैं—

कुछ नहीं कुछ में समाया कुछ नहीं।
... ...
कुछ न कुछ का भेद पाया कुछ नहीं।

कुछ न उलझा, कुछ नहीं से कुछ नहीं के जाल में।
कुछ नहीं बिगड़ा गँवाया कुछ नहीं ॥

इत्यादि।

वेदान्त के इस उपदेश में कवि कट्टर समाजी होता हुआ भी, ज्ञान के उस सूधापूत मेरुशिखिर पर पहुँच जाता है जहां पहुंच--

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं यतः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

--वासना पत्र झड़ जाते हैं, नाम और रूप की उपाधि दूर हो जाती है और आत्मनिमीलित शुद्ध सत्ता शेष रह जाती है। पारावारात्मक तीक्ष्णदर्शन की उस अग्नि में आवरण गल जाता है और सत्ता अपने चैतन्य तथा आनन्द रूपको आत्मसात् कर लेती है। उस पवित्र वातावरण में एकान्तशून्य के उस तुहिनावृत तुङ्ग पर पहुंच निष्ठात्मक मुद्रा में निमीलित हुआ शंकर एक प्रकार के दिव्य गान को सुनता है, उसके राग और ताल में तदात्म हो स्वयं भी--

भावयोगी शङ्कर

'बांके बिहारी की बाजी बंसुरिया'

(शंकर की कठोर शिक्षणाभिलाषा)

इत्यादि गीत गाने लगता है। इस लोकोत्तर परस्थिति में पहुँचा हुआ कवि व्यावहारिक सत्ता को ठुकरा आमोदमय चरमसत्ता में रम जाता है और उसे अपने शरीर की सुधबुध नहीं रहती। वह इस तन्द्रा में घण्टों पड़ा रहता है। परन्तु इस समाधि से जब भी वह जागता है तब फिर विक्षुब्ध संसार में उसी श्रान्त चेष्टा तथा वंचनात्मक व्यापार को पाता है जिसे वह सोते समय छोड़ गया था। क्षणिक सत्ता की इस कुंचित कठोरता को देख वह आवेश में आ धर्मध्वजियों को इस प्रकार जली कटी सुनाने लगता है

एक मैं ही सत्य हूँ असत्य मुझे भासता है,
ऐसी अवधारणा अवश्य भूल भारी है।
पूजते जड़ों को, गुण गाते हैं मरों के सदा,
कर्म अपनाए महाचेतना विसारी है॥
मानते हैं दिव्यदूत, पूत प्यारे शङ्कर के,
जानते हैं नित्य निराकार तनधारी है।
मिथ्यामत वालों को सचाई कब सूझती है,
ब्रह्म के मिलाप का विवेकी अधिकारी है॥

कल्पित ग्रन्थों को कहैं, सत्य सनातन वेद।
अन्ध जालिया जाति में, भरते हैं मतभेद॥
मान सच्चिदानन्द के, दूत पूत अवतार।
अन्ध जालिया जाति में, भरते हैं व्यभिचार॥

'इस अन्धेरे में रे लोगो ! अन्धी चालाकी चमका लो' इत्यादि

यहां शङ्कर खरी समालोचना में महात्मा कबीरदास को भी नीचा दिखा रहे हैं। ऐसे खरे, सच्चे, और दिल में तहलका मचाने वाले शब्द संसार के कुछ ही महात्माओं के मुंह से निकले हैं। इस प्रचण्ड तथा उद्दण्ड भर्त्सना की अन्तस्तली में कालपीत वार्धक्य का तन्द्राकारी स्नेह बह रहा है, जिसकी रुचिर तथा सन्तप्त वाष्प इस दिखावटी कठोरता के प्रस्फुरित अम्बर को, चिकना बना देती है, आंखों के लिये मञ्जुल बना देती है।

पाखण्डी शंकर

लोग कहते हैं 'शङ्कर पाखण्डी है, वह समाजी नहीं, वह सनातनी भी नहीं'। ठीक हैं, सवा सोलह आना ठीक है। हम मानते हैं कि शङ्कर परातीत पराकाष्ठा का पाखण्डी है, परन्तु ओ, संकुचित सत्ता के झूठे अधिकारियो ! देखो ! इस नील अंबर की ओर, अघटितघटनापटीयान् नटवर महादेव इसमें कैसा

उच्छृङ्खल, उद्दाम, तथा क्रान्तिकारी विवर्तनाटक* खेल रहे हैं! कितना कठोर पाखण्ड रच रहे हैं! इस नाटक में देखी है कभी सामाजिकता? सुनी है कभी सनातनिता? नहीं! यह विशाल है, व्यापक है, देशकालाबाध्य है! इसका यथार्थ व्याख्यान भी विशाल, व्यापक तथा देशकालाबाध्य होगा! इसका अभिनय करने वाली कविता भी विशाल, व्यापक, तथा देशकालाबाध्य होगी! कविता की इस दिव्य सर्चलाइट को श्रान्त जीवन की मरुस्थली पर फेंकने वाला कवि भी विशाल, व्यापक, तथा देश-कालाबाध्य होगा। वह तुम जैसे दाम्भिक धर्मध्वजियों के कटाक्षों से मुक्त होगा, बरी होगा।

व्यापक शंकर

शङ्कर समाजी नहीं! वह सनातनी भी नहीं!! वह तो व्यापक धर्म का, लोकोत्तर ज्योति का, अभेद्य, अच्छेद्य, अशोष्य तथा अहार्य आत्मतत्त्व का चितेरा है, व्याख्याता है। उसका व्याख्येय विषय अनन्त है, उसकी व्याख्यात्री कविता व्यापक है, वह स्वयं देश, काल, तथा कृत्रिम धर्मों के कल्पित बंधनों से स्वतंत्र है।

शंकर जी खड़ी बोली के आचार्य हैं। उन्हों ने खड़ी बोली में कविता करने का सूत्रपात किया है। भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र तथा उनकी मित्र मण्डली ने अधिकांश कविताएं ब्रजभाषा ही में लिखी थीं, और जो कुछ लिखा था, वह प्रायः फीका तथा बासी था। शंकर ने हिन्दू रमणी के फटे पुराने वस्त्र उतार उसे शुभ्रवसना सुन्दरी बना उसके हाथ में सरस्वती का अभिनव सितार दिया और उसे कई युगों के पश्चात् फिर से व्यापक जीवन के व्यापक गीत गाने सिखाए। इस दृष्टि से शंकर का स्थान हिन्दी साहित्य

---

* अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः।
सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः॥

में क्या, भारत के आधुनिक साहित्यमात्र में ऊंचा तथा आदर के योग्य है।

शोक है कि इनकी गूढ कविता के यथार्थ आशय को समझने वाले सहृदय लोग कम हैं और उनके बताए मार्ग पर चल कविता-कामिनी के पीयूष वदन की आरती उतारने वाले कविजन और भी कम हैं।

श्रीधर पाठक १८६० में जन्म

पण्डित श्रीधर पाठक उत्कृष्ट कवि थे। आपने व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में अच्छी कविता की है। आपने नाथूराम शंकर द्वारा प्रवर्तित खड़ी बोली में कविता करने की प्रथा को पुष्ट किया। आपकी भाषा शांकरी भाषा की अपेक्षा कहीं अधिक मधुर तथा मनोरम है। आपकी प्रतिभा का यथार्थ क्षेत्र मृदुल भाव हैं। मृदुलभावों को मधुर भाषा में व्यक्त करने में आप कमाल करते हैं। आपका रचा निम्नलिखित पद्य मधुरता तथा मार्दव में साक्षात् वीणा को भी मात कर रहा है—

कहीं पै स्वर्गीय कोइ बाला, सुमञ्जु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत कीसि कैसी, सुरीली गुंजार आ रही है॥
हर एक स्वर में नवीनता है हरेक पद में प्रवीनता है।
निराली लय है औ लीनता है, अलाप अद्भुत मिला रही है॥
सुनो तो सुनने की शक्ति वालो, सको तो जाकर के कुछ पता लो
है कौन जोगन को जो गगन में, कि इतनी चुलबुल मचा रही है॥

पाठक जी का प्रकृति वर्णन फड़काने वाला है। काश्मीर के वर्णन में आप लिखते हैं—

कै यह जादूभरी विश्व बाजीगर थैली।
खेलत में खुलि परी शैल के सिर पै फैली॥
पुरुष प्रकृति कौं किधौं जबै जोबनरस आयो।
प्रेमकेलि रसरेलि करन, रंग महल सजायो॥

खिली प्रकृति पटरानी के महलन फुलवारी।
खुली धरी कै भरी तासु सिंगार पिटारी ॥
प्रकृति यहां एकान्त बैठि निजरूप संवारति।
पलपल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति ॥
विमल अंबुसर मुकुरन मंह मुख बिम्ब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आप ही तन मन वारति ॥

पाठक जी ने बहुत से राष्ट्रीय गीत भी लिखे हैं। उनका एक सुप्रसिद्ध गीत यहां दिया जाता है—

जय जय प्यारा भारत देश।
जय जय प्यारा, जग से न्यारा ॥
शोभित सारा, देश हमारा।
जगतमुकुट, जगदीश दुलारा ॥
जय सौभाग्य सुदेश ॥
जय जय प्यारा भारतदेश ॥

जय, जय शुभ्र हिमाचल अंगा।
कलरव निरत कलोलनि गंगा ॥
भानु प्रताप चमत्कृति गंगा।
तेज पुंज तपवेश ॥
जय जय प्यारा भारतदेश ॥

पद्य के साथ ही पाठक जी ने गद्य भी उत्कृष्ट लिखा है। आपने अंग्रेजी तथा संस्कृत की अनेक पुस्तकों का सुन्दर अनुवाद किया है। 'अंग्रेजी का अनुवाद खड़ी बोली में और संस्कृत का व्रज-भाषा में हैं।' आपका किया गोल्डस्मिथ के तीन ग्रन्थों का अनुवाद सुन्दर तथा सरस है। पाठक जी ने प्राचीन प्रणाली को छोड़ अपनी रचना में सामान्य जीवन की बातों का विशद वर्णन किया है।

पाठक जी ने जी खोलकर खड़ी बोली में कविता की, उसके

अभ्युदय के लिये भरसक प्रयत्न किये, परन्तु वे व्रजभाषा के मोह को न छोड़ सके। वास्तव में उनका अन्तरात्मा इस बात की साक्षी देता था कि जहां जीवन के व्यापारिक तथा व्यावहारिक पहलू की यथार्थ व्याख्या करने के लिये खड़ी बोली का विस्तृत गद्य अधिक उपयोगी है, वहां भावुक जनों के आन्तरिक जगत् का, कल्पना-साम्राज्य का अभिलषित विस्तार तथा भावमय व्याख्यान करने के लिये संक्षिप्त, मधुर, तथा मंजीकसी व्रजभाषा अधिक उपयोगी तथा आवश्यक है। इसीलिये वे प्रकाशित रूप से, खड़ी बोली में कविता करते हुए भी एकान्ततः व्रजभाषा का प्रत्याख्यान न कर सके।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

खड़ी बोली का पक्षसमर्थन करके उसे उसका जन्मसिद्ध अधिकार दिलाने वालों में महावीर प्रसाद द्विवेदी का पहला नम्बर है। खड़ी बोली और व्रजभाषा के तुमुल संग्राम का आज कुछ और ही परिणाम दृष्टिगोचर होता यदि समालोचक शिरोमणि महावीर प्रसाद ठीक समय पर 'सरस्वती' के संपादन का भार अपने ऊपर ले खड़ी बोली को अपने प्रसन्न तथा विद्वत्तापूर्ण लेखों से पुष्ट कर उसे आधुनिक भाषाओं के युद्धक्षेत्र में अपने पैरों खड़ा होने योग्य न बनाते। आपने खड़ी बोली में चोखी कविता की और उसमें कविता करने वाले नवजात कवियों के अस्फुट तथा प्रस्खलित प्रयत्नों को अपनी सरस्वती में स्थान दे उनके उत्साह को बढ़ाते हुए खड़ी बोली को सार्वजनिक तथा साहित्यिक भाषा बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। आप हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक हैं और विविध विषयों के विचक्षण समालोचक हैं। आपकी कविता का नमूना यहां दिया जाता है—

नई वसन्ती ऋतु ने करके तिलकफूल को तिलक समान,
देकर मधुपमालिका रूपी, मृदुकज्जल शोभा की खान।

जैसा अरुण रंग होता है, लालसूर्य में प्रातःकाल,
तद्वत् नवल आम पल्लवमय, अपने अधर बनाए लाल ॥

द्विवेदी जी कविता की अपेक्षा गद्य अच्छा लिखते हैं। आपने अंग्रेजी तथा संस्कृत की अनेक पुस्तकों के सुन्दर अनुवाद किये हैं। आपकी रचनाओं में हिन्दी महाभारत, हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, संपत्ति शास्त्र, नैषध चरितावली, रघुवंश तथा कुमार-संभव प्रसिद्ध हैं।

आपकी शैली प्रसन्न, सरस, तथा मंजी कसी होती है। उसमें भाव और भाषा प्रेमपूर्वक साथ साथ चलते हैं।

मैथिली शरण गुप्त

यों तो प्रतापनारायण मिश्र ने जातीयता तथा देशभक्ति के प्रकृष्ट गीत गाए थे परन्तु वह गीत, कविता की वह पुस्तक, जिसने सुप्त हिन्दी जगत् को प्रबुद्ध हिन्दी जगत् में परिणत किया, भारतभारती है। इसे द्विवेदी जी के प्रिय शिष्य बा० मैथिलीशरण गुप्त ने खड़ी बोली में लिखा है। गुप्त जी ग्रन्थ के आरम्भ में प्रार्थना करते हैं।

मानसभवन में आर्य जन जिसकी उतारें आरती।
भगवान् भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती ॥

भारतभारती

भगवान् ने आप की प्रार्थना आशातीत सुनी और आपकी भारती का और उसके द्वारा खड़ी बोली का हिन्दी जगत् में भरपूर आदर सत्कार हुआ। भारतभारती के प्रकाशित होने पर द्विवेदी जी ने इसे हिन्दी में युगान्तर उपस्थित करनेवाली पुस्तक बताया था। यह निकली भी सचमुच ऐसी ही। इसमें वर्णन की गई भारत की प्राचीन दशा को पढ़ पाठक औज्ज्वल्य तथा अभिमान के कलधौत शिखर पर चढ़ जाता है। परन्तु वहां पहुँच जब वह अपनी वर्तमान पतित दशा पर दृष्टिपात करता है तब शोक

तथा विस्मय से स्तिमित हो नैराश्य के गंभीर गर्त में गिर पड़ता है। आत्मावमान के इस कूलंकष विषाद में कवि ने आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य सिद्ध कर मनुष्य के अनन्त तथा प्रसन्न भविष्य का आलोक देते हुए उसकी अपरिमित कर्मयोगशक्ति और उसके लोकोत्तर परिणाम का विशुद्ध चमत्कार उद्भासित करके पाठक को गीता का यह उपदेश सुनाया है--

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

रही यह बात कि भारत भारती हिन्दी जगत् में सदा के लिये टिक गई या नहीं इसका निर्णय समय की चलनी करेगी। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जिस ध्येय विशेष की पूर्ति के लिये भारत-भारती का हिन्दी जगत् में अवतार हुआ था वह उसे पूरा कर गई और भली प्रकार पूरा कर गई। पुस्तक लिखते समय लेखक ने प्रार्थना की थी—

'जग जांय तेरी नोक से सोये हुए हों भाव जो'

सामयिक कविता

उसकी प्रभावशाली लेखनी ने अपनी तीक्ष्ण नोक से जातीयता तथा राष्ट्रीयता के सुप्त भावों को जगा दिया और भारत के नवजीवन को गला उसे उन्नति के व्यापक सांचे में डाल दिया। इस सांचें में ढलने के पश्चात् प्रबुद्ध भारत का क्या रूप और आकार होगा इस बात को हमारा विकासोन्मुख प्रयत्न और समय बतायगा, नकि भारतभारती। उसका काम पूरा हो गया, उसकी आवश्यकता कुण्ठित हो गई। जातीयता तथा राष्ट्रीयता वस्तुतः मानव-समुद्र के सूक्ष्म बिन्दु का नाम है। यह बिन्दु, यह वीची, समुद्र में उठती है, कुछ काल उसकी फेनोज्ज्वल छाती पर नाचती है, और फिर अपने आप अपने ऐश्वर्य के आवेश को न संभाल सकने के कारण खिलखिला कर उसी में लीन हो जाती है। वीचि

के उत्थान और पतन के साथ हो उसका व्याख्यान करने वाली कविता भी समय के पद चिह्नों में समा जाती है। परन्तु समुद्र उस वीचि को, व्याख्यान करने वाली इस आविष्ट वाणी को नहीं भुला सकता, क्योंकि वास्तव में वीचियों के इस समुदाय का, उनके इस उत्थान और पतन का नाम ही सम्×उद्×र= (समुद्र) है।

विश्वजनीन कविता

वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, कबीर, सूर, तुलसी, शेक्सपियर, गोइथे, विक्टर ह्यूगो तथा रवीन्द्रनाथ की कविताएं विश्व जनीन हैं, क्योंकि ये सत्ता की तरल धारा के ऊपर तने हुए माया के गूढ आवरण को चीर पाठक को उसकी मौलिक सत्ता का आभास करा देती हैं। जीवन का व्याख्यान करते समय उक्त कवियों के आत्मा देश और काल की उपाधि से परिसीमित न थे, किन्तु वे इनसे मुक्त हो, विशुद्ध चिति की नामरूपात्मक विवर्तमान विभूतियों को, कोई पारस्परिक संघर्ष के द्वारा, और कोई पारस्परिक संकलन के द्वारा सदाके लिये ऐक्य को अविच्छिन्न मुद्रामें ढाल रहे थे। भेदों को अभेद में, और अनेकता को एकता में परिणत करने की आवश्यकता जब तक यह संसार है तब तक बनी रहेगी, और इसीलिये अभेद तथा ऐक्य को रागात्मक दृष्ट्या संपन्न करने वाली उक्त कवियों की कविताएं भी अनन्त काल तक जीवित रहती चली जायंगी।

इस प्रकार की विश्वजनीन तथा विश्वयुगीन कविताओं के साथ भारत भारती की तुलना करना अदूरदर्शिता है। वह तो युगविशेष के लिये निर्मित हुई थी, उस युग का काम उसने पूरा कर दिया। अब वह युग नहीं रहा है, इसलिये उसका व्याख्यान करने वाली कविता भी अनावश्यक हो गई है।

जयद्रथ वध

गुप्तजी का दूसरा काव्य 'जयद्रथवध' है। काव्य कला की दृष्टि से भारतभारती की

अपेक्षा इसे अच्छा बताया जाता है। जयद्रथ वध में वीर तथा करुणारस के दृश्य पढ़ने योग्य हैं—

फिर नृत्य सा करता हुआ धन्वा लिये निज हाथ में।
लड़ने लगा निर्भय वहां वह शूरता के साथ में॥
होता प्रविष्ट मृगेन्द्र शावक ज्यों गजेन्द्र समूह में।
करने लगा वह शौर्य त्यों उन वैरियों के व्यूह में॥
तब छोड़ते कोदण्ड से सब ओर चण्डशरावली।
मार्तण्डमण्डल के उदय की छवि मिली उसको भली।
यों विकट विक्रम देख उसका धैर्य रिपु खोने लगे।
उसके भयंकर वेग से अस्थिर सभी होने लगे॥

अभिमन्यु के शव पर उत्तरा यों विलाप करती है--

मैं हूं वही जिसका हुआ था ग्रन्थिबंधन साथ में।
मैं हूं वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में॥
मैं हूं वही जिसको किया था विधि विहित अर्धाङ्गिनी।
भूलो न मुझको नाथ? हूं मैं अनुचरी चिरसङ्गिनी॥
हे जीवितेश। उठो, उठो, यह नींद कैसी घोर है।
है क्या तुम्हारे योग्य, यह तो भूमिसेज कठोर है॥
रख शीष मेरी जांघ पर जो लेटते थे प्रीति से।
यह लेटना अतिभिन्न है, उस लेटने की रीति से॥
किसका करूंगी गर्व अब मैं, भाग्य के विस्तार से।
किसको रिझाऊंगी अहो! अब नित्य नव शृङ्गार से॥

मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त गुप्त जी ने 'मधुप' नाम से

मेघनादवध

बंगाल के सुप्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदनदत्त की विरहिणी व्रजाङ्गना तथा मेघनाद वध नामी महाकाव्य का और श्रीयुत चन्द्रसेन के 'पलाशिर युद्ध' का हिन्दी पद्य में सुन्दर अनुवाद भी किया है। मेघनाद वध अत्यन्त सुन्दर काव्य है। इसमें

प्राचीन काल से चले आने वाले रूढ़िवाद से विद्रोह करके मेघनाद का महत्त्व स्थापित किया गया है। रामायण के आदि कवि वाल्मीकि ने गार्हस्थ्य प्रधान हिन्दू समाज का जो कुछ कर्तव्य है, रामचन्द्र को उसी का अवतार बना कर दिखाया है। पुत्र रूप में, भ्रातृरूप में, पतिरूप में, मित्ररूप में, ब्राह्मण धर्म के रक्षक के रूप में और अन्त में राजा के रूप में वाल्मीकि के राम ने अपनी लोक-पूज्यता को प्रमाणित कर दिया है। उन्होंने एक मात्र अपनी धर्म-पत्नी के उद्धार के लिये रावण को मारा और प्रजारञ्जन के अनुरोध से अन्त में उसका परित्याग भी कर दिया। अपनी समग्र सहज प्रवृत्तियों को शास्त्र के कथनानुसार जीत कर समाजरक्षा के उच्चतम आदर्श को उन्होंने क्रियात्मक रूप में परिणत करके दिखा दिया। हमारी स्थिति प्रधान सभ्यता में पग पग पर जिस त्याग, क्षमा, और संयम की आवश्यकता होती है, रामचन्द्र के चरित्र में उसी के विकास को प्राप्त होने के कारण रामायण हिन्दू-समाज का महा काव्य बन गया है।

परन्तु यूरोप से एक प्रकार के नवीन विचारों का प्रवाह शीघ्रता के साथ भारत में आ रहा है, और वह हमारी मानसिक वृत्तियों में मौलिक परिवर्तन उत्पन्न कर रहा है। मेघनादवध में इसी प्रवाह का सर्वाङ्गीण प्रतिफलन है।

मेघनादवध में यूरोपीय प्रवृत्ति का सर्वांगीण प्रतिफलन है

'मेघनादवध काव्य की केवल छन्द रचना और रचना-प्रणाली में ही नहीं, किन्तु उसके आन्तरिक भाव और रस के अन्दर भी एक अपूर्व परिवर्तन देखा जाता है। यह परिवर्तन अपने को भूला हुआ नहीं है। इसमें एक प्रकार का विद्रोह है। यहां कवि ने तुकबन्दी की बेड़ी को तोड़ डाला है और बहुत दिनों से रामायण के विषय में जो हमारे दिल के अन्दर एक भावशृङ्खला चली आ रही थी,

कवि ने उद्दण्डता से उसके बन्धन को भी तोड़ डाला है । इस काव्य में राम और लक्ष्मण की अपेक्षा रावण और इन्द्रजित् का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। जो धर्मभीरुता हमेशा कौन सी वस्तु कितनी अच्छी और कितनी बुरी है इसी का एक मात्र सूक्ष्मतया विचार किया करती है, उसका त्याग, दीनता और आत्मसंयम इस कवि के हृदय को आकृष्ट नहीं कर सके हैं। वह स्वतः स्फूर्त शक्ति की उद्दाम लीला के अन्दर ही प्रसन्नता को अनुभव करता है। इस शक्ति के चहुँ ओर प्रभूत ऐश्वर्य है, इसके महल के शिखरों ने बादलों के रास्ते को रूंध दिया है; इसके रथ, रथी, घोड़ों और हाथियों से पृथ्वी कांप उठी है, इसने अपने बल से देवताओं को पराजित करके वायु, अग्नि और इन्द्र को अपना दास बना लिया है, यह शक्ति किसी भी शस्त्र या शास्त्र की रुकावट को मानने के लिये प्रस्तुत नहीं है । इतने दिनों का संचित अभ्रभेदी ऐश्वर्य चारों ओर फूटफूट कर रेणुसात् हो रहा है । सामान्य भिखारी राघव के साथ युद्ध करने में उसके प्राणों की अपेक्षा भी प्रिय पुत्र, पौत्र तथा अन्य संबन्धी मर रहे हैं, उनकी माताएं धिक्कार देकर रो रही हैं, तोभी जो अटल शक्ति भयंकर सर्वनाश के बीच में बैठ कर भी किसो प्रकार हार नहीं मानना चाहती, कवि ने उसी धर्म विद्रोही महादम्भ के पराभव पर समुद्रतट के श्मशान में दीर्घ निःश्वास फेंक कर अपने काव्य का उपसंहार किया है। जो शक्ति सब वस्तुओं को अत्यन्त सावधानी से मानकर चलती है, मानों उसका मन ही मन तिरस्कार करके, जो शक्ति उद्दण्डता पूर्वक किसी भी चीज को कुछ भी नहीं मानना चाहती, बिदाई के अवसर पर काव्य लक्ष्मी ने अपनी आंसुओं से भीगी हुई माला को उसी के गले में पहना दिया है।"*

यूरोप से आने वाली इस विद्रोहात्मक प्रवृत्ति को उकसाने के

---

* रवीन्द्रनाथ ठाकुर रचित साहित्य

लिये ही महाकवि गुप्त ने मेघनाद वध का हिन्दी में अनुवाद किया है। गुप्त का हृदय भारतीय लक्ष्मी के आर्तनाद को सुन सहम उठा है वह किसी न किसी प्रकार उसके मोक्ष को अपनी आंखों देखा चाहते हैं।

विरहिणी व्रजाङ्गना

'विरहिणी व्रजाङ्गना' के अनुवाद की भाषा इतनी मधुर, रुचिर तथा प्राञ्जल है कि उसने हिन्दी संसार में काव्य रचना की एक नई शैली ही पैदा कर दी है। अनुवाद के दो एक पद पढ़िये—

डाली भर कर फूल आज क्यों तोड़े हैं इतने सजनी ?
कभी पहनती है तारों की माला मेघावृत रजनी ॥
हाय करेंगी क्या अब लेकर सुमनरत्न व्रजबालाएं ?
अब क्या फिर वे पहन करेंगी फूलों की मृदुमालाएं ?
मलयाचल गृह सुना तुम्हारा, जहां विरहिणी गाती हैं।
यथा अप्सरा नन्दन वन में श्रवण सुधा बरसाती हैं ॥
हे मलियानिल ! कुसुमकामिनी अति कोमल कमला ऐसी।
सेवा करती सदा तुम्हारी रतिनायक की रति जैसी ॥
हाय ! आज व्रज में क्यों फिरते जाओ तुम सरसी के तीर।
मृदुल हिलोरयुक्त नलिनी को मुदित करो हे मलयसमीर ॥
जाओ जहां कोकिला गाती, मधुवर्षा सी होती है।
कुञ्जों में इसलिये विरहिणी राधा बैठी रोती है ॥

आपका करुणदृश्य देखने योग्य होता है। आप एक स्थान पर लिखते हैं—

बीत चुकी है बेला सारी,
आई किन्तु न मेरी वारी,
करूं कुटी की अब तैयारी,
वहीं बैठ पछताऊँ मैं ?
तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किसमें होकर आऊँ मैं ?

इत्यादि ।

गुप्त जी की देखा देखी खड़ी बोली में धड़ाके के साथ कविता होने लगी और बहुत से नवयुवक उत्साह के साथ कविता क्षेत्र में उतरने लगे। इन में से कइयों ने खासी उन्नति की। खड़ी बोली के इस वर्ग वाले समस्त कवियों का एक पृथक् स्कूल बना कर उसका नाम द्विवेदी स्कूल रक्खा जासकता है। इस स्कूल के प्रमुख कवियों में गुप्त जी के अतिरिक्त पण्डित माधव शुक्ल, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, ठाकुर गोपालशरणसिंह, पण्डित बदरीनाथ भट्ट, पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी, और श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के नाम उल्लेख योग्य हैं। यद्यपि पण्डित गयाप्रसाद जी शुक्ल अपना पृथक् ही एक स्कूल स्थापित किया चाहते हैं परन्तु उनकी रचना शैली पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि वे भी 'द्विवेदी स्कूल' में संमिलित हैं, । ये कवि ब्रजभाषा में भी चोखी कविता कर लेते हैं। पर इन की प्रतिभा का विकास खड़ी बोली ही में हुआ है। इनकी कविता में ब्रजभाषा का प्रयोग उसी मात्रा तक है जिस मात्रा तक भारतेन्दु बाबू और उनके मित्रवर्ग की रचनाओं में खड़ी बोली का प्रयोग होता था।'

द्विवेदी स्कूल

काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी अध्यापक पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय कई प्रकार की कविता करने में कौशल दिखा चुके हैं। 'प्रिय प्रवास' नामक महाकाव्य में आपने श्रीकृष्णजी की जीवनी का एक अंश अत्यन्त मनोरमता के साथ चित्रित किया है। प्रियप्रवास की भाषा एक प्रकार से विभक्तिरहित संस्कृत कही जा सकती है। प्रिय प्रवास की कोमलकान्त पदावली अज्ञ और तज्ज्ञ सभी को समान रूप से मोह लेती है। महाकाव्य का आरम्भ 'लोहितरङ्ग' में इस प्रकार होता है—

अयोध्यासिंह उपाध्याय

दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला ।
तरु शिखा पर थी अब राजती, कमलिनीकुलवल्लभ की प्रभा ॥
विपिन बीच विहङ्गम वृन्द का, कलनिनाद समुत्थित था हुआ ।
ध्वनिमयी विविधा विहगावली, उड़ रही नभ मण्डल मध्य थी ॥

शब्दाडम्बर के आटोप में कविता का लौहित्य पीला पड़ गया है ।

प्रियप्रवास

प्रतीत होता है कि कवि कादम्बरी के 'संध्या-वर्णन' को परास्त करने के लिये कमलिनी-कुलवल्लभ की दुहाई देकर प्रकृति को और उसके साथ कविताकामिनी को बलात् अपनी प्रतिभा के लोहितरङ्ग में लाल बनाना चाहते हैं । उक्त कविता कमनीय तथा विशुद्ध होने पर भी कृत्रिम तथा कठोर सी होगई है। उसने अपने सहज सौन्दर्य को अलङ्कारों के भार में दबा दिया है ।

उपाध्याय जी की कतिपय कविताएं अत्यन्त सरस, तथा उपदेशपूर्ण हैं । 'फूल और कांटे' के विषय में आप लिखते हैं—

हैं जनम लेते जगह में एक ही ।
एक ही पौदा उन्हें है पालता ॥
रात में उन पर चमकता चांद भी ।
एक ही सी चाँदनी है डालता ॥
मेह उन पर है बरसता एक सा ।
एक सी उन पर हवाएं हैं वहीं ॥
पर सदा ही यह दिखाता है हमें ।
ढङ्ग उनके एक से होते नहीं ॥
छेदकर काँटा किसी की उँगलियाँ ।
फाड़ देता है किसी का वर वसन ॥
प्यार डूबी तितलियों का पर कतर ।
भौंर का है वेध देता श्याम तन ॥

इत्यादि ।

आपकी 'आंख का आंसू' नाम की कविता अत्यन्त सुन्दर है। आप लिखते हैं—

वह कलेजा हो कई टुकड़े अभी,
नाम सुनकर जो पिघल जाता नहीं ।
फूट जावे आंख वह जिसमें कभी,
प्रेम का आंसू उमड़ आता नहीं ॥

इन्होंने ठेठ बोली में निराली कविता की है । चौपदे में प्रेम के संबन्ध में आप लिखते हैं—

जो किसी के भी नहीं बाँधे बँधे ।
प्रेम बन्धन से गए वे भी कसे ॥
तीन लोकों में नहीं जो बस सके ।
प्यारवाली आंख में वे ही बसे ॥

'एक बँद' के विषय में आप लिखते हैं—

जो निकलकर बादलों की गोद से,
थी अभी एक बूँद कुछ आगे बढ़ी ॥
सोचने फिर फिर यही जी में लगी ।
आह क्यों घर छोड़कर यों मैं कढ़ी ॥
दैव मेरे भाग में क्या है बदा ।
मैं बचूँगी या मिलूँगी धूल में ॥
या जलूँगी गिर अङ्गारे पर किसी ।
चू पड़ूँगी या कमल के फूल में ॥
वह गई उस काल इक ऐसी हवा ।
वह समुन्दर ओर आई अनमनी ॥
एक सुन्दर सीप का मुंह था खुला ।
वह उसी में जा पड़ी मोती बनी ॥

इत्यादि ।

उपाध्याय जी के विषय प्रायः सामाजिक होते हैं । इनकी रचना में मुहावरों का खासा चमत्कार रहता है । आप लिखते हैं--

जो न उसमें झलक दिखायंगी,
सब भली चाहते ठिकाने से।
आपके तो खिले हुए मुँह की,
थी रहेगी न श्री लगाने से ॥
नेक के सिर पर पड़ी कठिनाइयां,
नेकियों की ही लहर में हैं वही ॥
तुम तिलक धूलते व पुंछते ही रहे,
पर तुम्हारी पूँछ होती ही रही ॥

माधव शुक्ल

द्विवेदी द्वारा स्थापित और गुप्त द्वारा परिवर्द्धित खड़ी बोली के स्कूल में माधव शुक्ल का स्थान आदर के योग्य है। आपकी छाती में राष्ट्रीयता का प्रसन्न स्रोत बहता है। आपकी कविता सजीव तथा भावपूर्ण होती है। आप लिखते हैं—

जिनके शुभ्र स्वच्छ हियपट पर, जगविकार का लगा न दाग।
भरा हुआ है अटल जिन्हों में, केवल मातृदेवि अनुराग ॥
बँधी हुई मुट्ठी को जिनने, अब तक नहीं पसारा है।
जिनको हाथों से पैरों का, अधिक अंगूठा प्यारा है ॥
उन्हीं अनूठे कानों में यह, मेरी स्वरमय आत्मपुकार।
पहुँचे आशलता की जड़ में, जिसमें होय शक्ति संचार ॥

बालक की सरलता का मनोरम वर्णन है।

रामनरेश त्रिपाठी

त्रिपाठी जी की कविता उच्च भावों से ओत प्रोत रहती है। आपका 'पथिक' हिन्दी ससार में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। पथिक की भाषा कहीं कहीं क्लिष्ट होगई है। पथिक की वेदना पत्थर के दिल को तरल बना देती है। पथिक कहता है—

होते जो किसी के विरहाकुल हृदय हम।
होते यदि आंसू किसी प्रेमी के नयन के ॥

गर पतझड़ में वसन्त की बयार होते।
होते हम जो कहीं मनोरथ किसी सुजन के ।।
दुखदलितों में हम आशकी किरन होते।
होते यदि शोक अविवेकियों के मन में ।।
मानते तो विधि का अधिक उपकार हम।
होते गांठ के धन कहीं जो दीन जन के ।।

त्रिपाठी की विशेषता

विषण्ण आत्मा के कैसे पुनीत उद्गार हैं ? कविता के प्रत्येक शब्द में वाह्य प्रकृति के साथ एक प्रकार की समवेदना प्रकट होती है जो कवि को पार्थिव जगत् से उठा लोकोत्तर जगत् में पहुँचा देती है। 'दुखदलितों में हम आशकी किरन होते' संसार के कितने कवियों ने समवेदना का भाव ऐसे विषण्ण तथा विनीत शब्दों में दुखदलितों के कानों तक पहुंचाया है ? त्रिपाठी जी अपने हृदय में वहनेवाली समवेदना की प्रसन्न रसधारा में देखते हैं संसार का दुःख ! क्लेश ! और दारिद्र्य ! आपकी रचना में उस भाग्यहीन दलित और पतित समाज के लिये, जिसको विधाता के निर्दय विधान या संसार की आततायी व्यवस्था ने विषादमय कोना दे रक्खा है और जिनकी सूखी हड्डियों पर उन्हीं के रक्त और मांस से बनाये हुए ऐश्वर्य महलों में मुट्ठी भर भाग्यशाली धनिक ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं एक अगाध सहानुभूति भरी रहती है। त्रिपाठी जी दीनों की आह में अनहद का नाद सुनते हैं, पतितों की श्रान्त चेष्टाओं में विश्वात्मा का विकृत विस्तार पाते हैं। यह विकृत, विकल, तनछीन, मनमलीन, चेष्टा ही त्रिपाठी का आराध्य देव है। और संसार के कौन से सुधारक कवि ने इन विकल, विशुष्क हड्डियों के विच्छिन्न स्नायुजाल में इन्द्रधनुष का सौन्दर्य नहीं परखा ? किसने इन दीन दुखियों की तप्त आहों में मूक प्रकृति का असहाय रुदन नहीं सुना ? विक्टर ह्यूगो का

प्रसिद्ध नायक तमाम उम्र इसी आह को ठण्डा करने में लगा रहा। ईसा ने अपनी अशेष आयु इसी दरिद्रनारायण की पूजा में बिताई थी! त्रिपाठी की आत्मा में इसी अकिंचन नरकंकाल ने कविता की छवि चमकाई है। असहयोग के दिनों में आगरा जेल में रहते हुए आप गाया करते थे—

मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुञ्ज और वन में।
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में॥
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता संगीत में भजन में॥
मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था, तेरी किसी चमन में॥
बनकर किसी का आंसू मेरे लिये बहा तू।
मैं देखता तुझे था माशूक के वदन में॥
मैं था विरक्त तुझ से जग की अनित्यता पर।
उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन में॥
तेरा पता सिकन्दर को मैं समझ रहा था।
पर तू बसा हुआ था फ़रहाद कोहकन में॥
क्रीसस की हाय में था करता विनोद तू ही।
तू ही विहंस रहा था महमूद के रुदन में॥
प्रह्लाद जानता था तेरा सही ठिकाना।
तू ही मचल रहा था मंसूर की रटन में॥
आखिर चमक पड़ा तू गान्धी की हड्डियों में।
मैं तो समझ रहा था सुहराब पोलतन में॥
कैसे तुझे मिलूँगा जब भेद इस क़दर है।
हैरान होके भगवन् आया हूँ मैं सरन में॥

नर नारायण और दरिद्र नारायण के ऐक्य का उत्थान इससे सुन्दर और क्या हो सकता है? त्रिपाठी ने इस पद्य में श्रान्त

चेष्टा के लोकोत्तर विषाद में दैविक भावयोग का चमत्कार दिखा कर बड़ी खूबी से सुख दुःख समन्वित अन्तःसंज्ञ प्रकृति का सत्ता के परिष्कृततम आत्म तत्त्व के साथ तादात्म्य सिद्ध किया है।

पण्डित गयाप्रसाद शुक्ल राष्ट्रीय कविताएं 'त्रिशूल' नाम से और अन्य रचनाएं 'सनेही' नाम से किया करते हैं। आपका ब्रजभाषा पर भी यथेष्ट अधिकार है। परन्तु सनेही की अपेक्षा त्रिशूल की कविता कहीं अधिक चुभने वाली होती है। आपकी उर्दू कविता अत्यन्त सजीव तथा दिल को फड़काने वाली होती है। आप लिखते हैं—

गयाप्रसाद शुक्ल

तुम होगे सुकरात, जहर के प्याले होंगे।
हाथों में हथकड़ी, पदों में छाले होंगे॥
ईसा से तुम, और जान के लाले होंगे।
होगे तुम निश्चेष्ट, डस रहे काले होंगे॥
होना मत व्याकुल कहीं, इस भवजनित विषाद से।
अपने आग्रह पर अटल, रहना बस प्रह्लाद से॥
सत्यरूप हे नाथ! तुम्हारी शरण रहूंगा।
जो व्रत है ले लिया, लिये आमरण रहूंगा॥
ग्रहण किये मैं सदा आपके चरण रहूंगा।
भीत किसी से और न हे भयहरण रहूंगा॥
पहली मंजिल मौत है, प्रेमपन्थ है दूर का।
सुनता हूँ मत था यही सूली पर मंसूर का॥

सत्याग्रही के कठिन व्रत का कैसा कठोर खाका है? मर जाना पर व्रत न छोड़ना! सूली पर चढ़ जाना, पर सत्य से मुंह न मोड़ना! जहर का प्याला पी जाना, पर चरित्र से भ्रष्ट न होना! सत्याग्रही! अन्त में क्रूर संसार तेरी पूजा करेगा। यह क्लिष्ट यातनाएं, पुष्पों का यह मूक क्रन्दन, कलियों के यह सफेद आंसू

क्रूरता को बहा देंगे, आततायिता को ध्वस्त कर देंगे !

'द्विवेदी स्कूल की बड़ों वाली पीढ़ी में सुभद्राकुमारी चौहान को सब से अन्तिम कवि समझना चाहिये। इनके बाद नई पीढ़ी के कवियों का समय आ जाता है।'

सुभद्राकुमारी चौहान
जन्म १९०४

कुमारी की कविता बड़ी सरल, सुबोध, सजीव और सुकुमार हुआ करती है। आपके भाव अत्यन्त परिष्कृत तथा आत्मसंवेदक होते हैं। कुमारी की कविता में संगीत का रुचिर प्रवाह छलछलाता है। सुभद्रा की गणना उन कवि श्रेष्ठों में की जा सकती है जो अनन्त विश्व का पुनीत प्रतीक अपने विधुर आत्मा में खोजते हैं।

असहयोग के युग में किसी के बिदा होने के समय कुमारी आंखों में आंसू भर कर प्रवासी का हाथ पकड़ कर कहती है—

तुम मुझे पूछते हो जाऊं, मैं क्या जवाब दूं तुम्हीं कहो ?
'जा' कहते रुकती है जबान, किस मुंह तुमसे कहूँ रहो ?
सेवा करना था जहां मुझे, कुछ भक्तिभाव दर्शाना था।
उन कृपा कटाक्षों का बदला, बलि होकर जहां चुकाना था॥
मैं सदा रूठती ही आई प्रिय ! तुम्हें न मैंने पहचाना।
वह मान बाण सा चुभता है अब, देख तुम्हारा यह जाना॥

अपनी 'ठुकरा दो या प्यार करो' शीर्षक वाली कविता में आप लिखती हैं—

धूप नहीं नैवेद्य नहीं है, झांकी का श्रृङ्गार नहीं।
हाय गले में पहनाने को, फूलों का भी हार नहीं॥
स्तुति मैं कैसे करूं कि स्वर में, मेरे है माधुरी नहीं।
मन का भाव प्रकट करने को, मुझमें है चातुरी नहीं॥
नहीं दान है नहीं दक्षिणा, खाली हाथ चली आई।
पूजा की भी विधि न जानती, फिर भी नाथ चली आई॥

पूजा और पुजापा प्रभुवर, इसी पुजारिन को समझो।
दान दक्षिणा और निछावर, इसी भिखारिन को समझो॥
मैं उन्मत्त प्रेम की लोभी, हृदय दिखाने आई हूँ।
जो कुछ है वस यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ॥
चरणों पर है अर्पण इसको, चाहे तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो॥

प्रेम लिप्सु मानव हृदय का चित्र भी इस महिला का खासा है--

थी मेरा आदर्श वालपन से तुम मानिनि राधे।
तुम सी वन जाने को मैंने, व्रत नियमादिक साधे॥
अपने को माना करती थी, मैं वृपभानु किशोरी।
भावगगन के कृष्ण चन्द्र की, थी मैं वृपभानु किशोरी॥

परन्तु यौवन का रंग आया और मैं बदल गई—

वचपन गया नया रङ्ग आया और मिला यह प्यारा।
मैं राधा वन गई न था वह कृष्णचन्द्र से न्यारा॥
किन्तु कृष्ण यह कभी किसी पर जरा प्रेम दिखलाता।
नखसिख से तो जल जाती हूँ खाना पीना नहिं भाता॥
मुझे वता दो मानिनि राधे! प्रीति रीति वह न्यारी।
क्योंकर थी उस मनमोहन पर, निश्चल भक्ति तुम्हारी॥
ले आदर्श तुम्हारा मन को, रह रह कर समझाती हूँ।
किन्तु वदलते भाव न मेरे, शान्ति नहीं मैं पाती हूँ॥

हृदय के इन स्वाभाविक भावों का चित्र उतार कर कुमारी ने प्रेमार्त मन का सवाक् चित्र खींच दिया है। संसार में विरले ही ऐसे नरनारी होंगे जो इस वर्णन में अपनी हां न मिला सकेंगे। भावों की यह उथल पुथल, प्रेम के यह परिवर्तन मनुष्य के भावुक हृदय में नैसर्गिक हैं और इसी लिये इनकी व्याख्या के द्वारा मनुष्य को चंचलता के कटुक विपाक का आभास कराना और उसको स्थायी प्रेम की दीक्षा देना साहित्य का एक उद्देश्य वन गया है।

आप प्राचीनता के उपासक हैं और ब्रजभाषा के अनन्य भक्त हैं। पहले आप उर्दू में कविता करते थे। आपने

जगन्नाथदास रत्नाकर

हरिश्चन्द्र, साहित्य रत्नाकर, हिण्डौला आदि अनेक ग्रन्थ रचे हैं आपने बिहारी की सतसई पर भी एक बृहत् तथा उत्तम टीका लिखी है। आपका रचा 'गङ्गावतरण' नामक महाकाव्य प्रसिद्ध है। इसकी कविता सानु-प्रास तथा प्रशंसनीय है। जैसे—

सीतल सुखद समीर धीर परिमल बगरावत ।
कूजत विविध विहङ्ग मधुप गूंजत मन भावत ।।
वह सुगन्ध वह रङ्ग ढङ्ग की लखि चटकाई ।
लगति चित्र सी नन्दनादि वन की चटकाई ।।

ढोंग जात्यो ढरकि, हरकि उर सोग जात्यो,
जोग जात्यो सरकि, सकम्प पैखियानि तैं ।
कहै रतनाकर न करते प्रपञ्च ऐंठि,
बैठि धरा देखते कहूंधौं नखियानि तें ।।
रहते अदेख नहीं वेष वह देखत हूं,
देखत हमारे जान मोर पंखियानि तें ।
ऊधौ ब्रह्मज्ञान को बखान करते न नैकु,
देखि लेते कान्ह जो हमारि अंखियानि तें ।।

भाषा और शैली की भांति उपर्युक्त पद्यों के भाव भी प्रचीन हैं। रत्नाकर जी ने आधुनिक युग में भी ब्रजभाषा की उपासना करके अपना एक नवीन संप्रदाय स्थापित किया है जिसमें—

रामशङ्कर शुक्ल

का नाम उल्लेख योग्य है। श्रीयुत रसाल का एक कवित्त यहां दिया जाता है —

रसाल

मुरली;

जामैं ना सुमन फैलि फूलत कबीले कहुँ,
जामैं गांस फांस कौ विसाल जाल छायौ है ।

काया कूबरी है, पोर पोर में पोलाई परी,
जीवन विफल जासु विधि ने बनायो है ॥
ताहु पै दवारि बारि वंस वंस नासिबे कौं,
विधि ने सकलविधि ठाट ठहरायो है ॥
देखि हरि यारि अपनायो ताहि वंसी करि,
हरि ने रसाल अधरामृत पियायो है ॥

स्वर्गीय पण्डित सत्यनारायण आगरा के रहने वाले थे। आप ब्रजभाषा के आचार्य थे और उसमें उत्कृष्ट कविता करते थे। आपने संस्कृत के अनेक कठिन काव्यों का हिन्दी कविता में बड़ा ही सरस, मधुर तथा तथ्य अनुवाद किया है। आपके हिन्दी मालती-माधव में मौलिकता का आनन्द आता है। भवभूति की क्लिष्ट पदावली तथा प्रलम्ब समासों को आपने सरल तथा मधुर ब्रजभाषा में जनताके समुंख प्रस्तुत कर दिया है।

सत्यनारायण कविरत्न

रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक हैं। इन्हों ने बंगला भाषा के शशाङ्क आदि उपन्यासों का ललित अनुवाद किया है। शुक्लजी ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में सुन्दर कविता करते हैं। आपने अवधी में 'बुद्धचरित' नामी काव्य लिखा है। प्रकृति-वर्णन में शुक्ल जी ने वास्तविक चित्र खींचने और साधारण पदार्थों के वर्णन करने में कई जगह कमाल किया है। आप लिखते हैं—

रामचन्द्र शुक्ल

नगर से कुछ दूर गांव की थी बस्ती एक,
हरे भरे खेतों के समीप अति अभिराम।
जहां पत्र जाल अन्धराल से झलकते हैं,
लाल खपरैल, श्वेत छज्जों के संवारे धाम ॥

आगे चल कर आप बरगद, महुआ, आम, नीम, पीपल, गन्ना

तथा मूली आदि का बड़ा सजीव और अनूठा वर्णन करते हैं। 'अछूत की आह' शीर्षक वाली कविता में आपने अपनी सहृदयता का पूरा परिचय दिया है। 'जन्म के दिन फूल की थाली बजी' कह कर तो आपने कमाल ही कर दिया है।

'आमन्त्रण' नामक कविता में शुक्ल जी लिखते हैं—

दृग के प्रतिरूप सरोज हमारे उन्हें जग ज्योति जगाती जहां ;
जलबीच कलम्ब करम्बित कूल से दूर छटा छहराती जहाँ ;
घन अंजन वर्ण खड़े तृण ताल की झांई पड़ी दरसातो जहां ;
बिखरे वक के निखरे सित पंख विलोक वकी बिक जाती जहां ;
द्रुम अंकित दूब भरी जलखण्ड जड़ी धरती छवि छाती जहां ;
हर हीरक हेम मरक्त प्रभा ! ढल चन्द्रकला है चढ़ाती जहां ;
हँसती मृदु मूर्ति कलाधर की कुमुदों के कलाप खिलाती जहां;
घनचित्रित अंबर अंक धरे सुषमा सरसी सरसाती जहां ;
निधि खोल किसानों के धूल सने श्रम का फल भूमि बिछाती जहाँ;
चुन के कुछ चोंच चला करके चिड़ियां निज भाग बँटाती जहाँ ;
कगरों पर कांस की फैली हुई धवलो अवली लहराती जहां ;
मिल गोपों की टोली कछार के बीच है गाती औ गाय चराती जहाँ;
जननी धरणी निज अङ्क लिये बहु कीट पतङ्ग खिलाती जहां ;
ममता से भरी हरी बाँह की छांह पसार के नीड बसाती जहां ;
मृदुवाणी मनोहर वर्ण अनेक लगाकर पंख उड़ाती जहां ;
उजली कँकरीली तटी में धँसी तनुधार लटी बल खाती जहाँ ;
दलराशि उठी खरे आतप में हिल चञ्चल औंध मचाती जहां ;
उस एक हरे रङ्ग में हलकी गहरी लहरी पड़ जाती जहां ;
कल कर्बुरता नभ को प्रतिविम्बित खञ्जन में मनभाती जहां ;
कविता वह ! हाथ उठाए हुए, चलिये कविवृन्द बुलाती वहां।

कविता के लीलाक्षेत्र का इससे अधिक सुन्दर, सरस, स्वा-

शुक्ल का कवित्व

भाविक तथा तथ्य वर्णन हिन्दी संसार में दूसरा नहीं है। यहां कवि, कविता की निसर्गपीयूपता को सिद्ध करने के लिये प्रकृति की स्थूल सुषमा के परदे को चीर उसकी सूक्ष्म सुषमा में पहुँचता है और वहां प्रकृति के विभिन्न सौम्यरूपों का और मनुष्य की कोमल वृत्तियों का समुद्बोधन कर अन्त में छायावाद की व्यापक दृष्टि से उनका तादात्म्य प्रदर्शित करता है। श्रीधर पाठक ने अपने कश्मीर वर्णन में विभिन्नवर्णा प्रकृति सुन्दरी का अत्यन्त ललित वर्णन किया है, परन्तु वह वर्णन, कविता की वह रागात्मक दृष्टि, प्रकृति के वर्णगन्ध तक ही परिसीमित है। उसमें कवि प्रकृति को प्रतिभा की विद्युन्मयी किरणोंसे गला छायात्मा नहीं बनादेता। उसने प्रकृति को पृथिवी, अप्, तेज, वायु आदि का विमूढ समवाय न बता बड़ी विलक्षणता के साथ उसे हरी, लाल, पीली साड़ियाँ पहरने वाली स्मितवदना सुन्दरी तो बनाया है, परन्तु उसने उसे ज्योतिर्मय आकाशात्मक सूक्ष्मद्रव्य में परिवर्तित न कर सकने के कारण अमरत्व की दीक्षा नहीं दे पाई है। यह

शुक्ल का छायावाद

काम रामचन्द्र शुक्ल ने अपूर्व कौशल से संपादित किया है। वह प्रकृति के स्थूल आवरण को चीर उसकी अन्तस्तली में पहुँचते हैं और वहां के कल्पनामेचकित वायुवितान में एक साथ प्रकृति के सूक्ष्मतम अमर सौन्दर्य को और मानव श्रम की श्रान्त धूलि को खचित कर देते हैं। प्रबुद्ध कल्पना के इस स्वप्न कछार में गोपों की गीत गाती टोलियाँ गाय-चरा रही हैं, और हरितवसना धरणीमाता अपनी छायात्मक कलित भुजाओं से अंबर के विशाल टेबल पर ममता के प्याले सजा २ कर रख रही है। संसार के अगणित नरनारी इन प्यालों की रसमयी वारुणी को पी ममता में मस्त हो रहे हैं और

*माया के वशीभूत हो धरणीमाता के सन्तति रूपी कटुप्रवाह को चलाते जारहे हैं ममता की इस अदम्य वृत्ति से बड़ा संसार में और कौन सा आश्चर्य होगा ?

अहन्यनि गच्छन्ति भूतानि यममन्दिरम् ।
शेषा जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥

रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी कविता में इस आश्चर्य की रागात्मक व्याख्या करके हिन्दी साहित्य में एक प्रकार के नवीन छायावाद की स्थापना की है ।

परन्तु स्मरण रहे रामचन्द्र शुक्ल के छायावाद में, प्रकृति
तथा मनुष्य का व्यक्तित्व तरल हो जाने
भेदों की वैयक्तिक सत्ता पर भी, नीहारधारा में पड़ने वाली सूर्य-

---

*कार्यकारण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ गीता
चित्त स्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद् द्वयम् ।
चित्तं निर्विषयं नित्यमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥
योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ ।
परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः ॥
कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिविम्बकः ।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥

गौडपादाचार्य ।

पुरुष अज्ञान के कारण प्रकृति के गुणों में, अथवा माया के विवर्त में फँसकर सुःखदुःखों का उपभोग करता है । ज्ञान होजाने पर उसकी आरोपित ममता बुद्धि का निरास हो जाता है और वह सुखदुःखादि द्वन्द्वों से और उसके साथ ही संसार चक्र से उपरत होजाता है ।

और उनका तादात्म्य

किरणों की भांति, भग्नाभग्न सा बना अवश्य रहता है। छायावाद के ज्वार में, जीवन की स्थूलता का ऐकान्तिक प्रत्याख्यान करके यह कवि विश्व की समष्ट्यात्मक विश्वता को लुप्त नहीं किया चाहता, उसका प्रमुख ध्येय तो अज्ञ जीव की भ्रान्ति को दूर करने के लिये स्थूल सत्ताका सूक्ष्मरूप चरम सत्ता में समन्वयमात्र कर देना है। शुक्ल शंकर के ऐकान्तिक अद्वैत में विश्वास न कर रामानुज के विशिष्टाद्वैत में आस्था रखता है। फलतः उसकी रागात्मक दृष्टि में स्थूल और सूक्ष्म का, प्रकृति और पुरुष का, जीवन और निर्वाण का विकासात्मक तारतम्य अटूट बना रहता है।

छायावाद का मौलिक आधार

इस प्रकार के छायावाद का हिन्दी में शीघ्रता के साथ प्रचार हो रहा है। और इसमें कारण भी विशेष है। संसार अगणित सदियों से मूक ऐश्वर्य की उपासना करता आया है। उसने सहस्रों वर्षों से हिरण्य की रश्मियों को सत्ता का उत्कृष्ट रूप समझ उनके संचित करने में सर्वस्व न्यौछावर किया है। उसने व्यावहारिक सत्ता का, और उस सत्ता को प्रवर्तित रखने के लिये अपेक्षित हुए सब प्रकार के वैयक्तिक, सामाजिक, नैतिक तथा आत्मिक साधनों का हिरण्य की इन चंचल रश्मियों में समन्वय कर दिया है। अगणित वर्षों से उसके जीवन का प्रमुख आधार चमकने वाला 'सुवर्ण' रहता आया है। परन्तु चंचल रश्मियों में सत्य का, त्रिकालाबाधित आनन्द का अवभास असंभव है। उसकी प्राप्ति के लिये हिरण्य की स्थूल सत्ता को गलाकर*

---

* हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

ईशोपनिषत्।

चंचल रश्मियों की केंचुली को फाड़ कर, चरम सत्ता के दर्शन करने होंगे। इस सत्ता के दर्शन हो जाने पर स्थूलता और सूक्ष्मता का, चंचलता और अचलता का, सुवर्ण का और सत्यवर्ण का, हिरण्य का और हर का तादात्म्य स्थापित हो जाता है और जीव श्रान्ति से सदा के लिये मुक्त हो जाता है।

छायावाद का मूल विद्रोह में है

छायावाद की इस प्रक्रिया में एक प्रकार का विद्रोह है। इसमें स्थूल जगत् के विरुद्ध सूक्ष्म जगत् की क्रान्ति है। यही कारण है कि जहां प्राचीनकाल में छायावाद की कविता विरल होती थी, वहां आजकल इस प्रकार की कविता का शीघ्रता के साथ सर्वत्र प्रचार हो रहा है। भावयोगनामक प्रकरण में हमने बताया था कि भारतीय भावयोग का मूलमन्त्र ईशोपनिषद् का--

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

यह मन्त्र है। इसमें जगत्साक्षिभूत मायावृत चैतन्य को हम से दूर तथा हमारे समीप बताकर उसके प्रति हमारे मन में भय तथा श्रद्धा उत्पन्न की गई है। अदृश्य नियन्ता के प्रति एक साथ भय तथा प्रेम की उत्पत्ति में *ही भावयोग का यथार्थ रहस्य है। परन्तु स्मरण रहे यह मन्त्र कर्मकाण्डी ब्राह्मणों के युगयुगागत, निराधार, परन्तु साटोप अनुष्ठानमण्डल को विचक्षणता के साथ फोड़ देने के लिये एक प्रकारका दार्शनिक विद्रोहहै। इस मन्त्रका ऋषि प्रकृतिके गुणों को, अथवा औपाधिक ब्रह्म के मायावरण को अपनी व्यापक दृष्टि से निरस्त करके सब जगह गुणातीत सत्ता का उद्भावन कर

* Nicholson रचित The Idea of Personality in Islam का प्रथम प्रकरण।

रहा है*। जब जब विद्रोह हुआ तब तब श्रान्त जीव ने स्थूल एवं क्षणभंगुर वस्तु तथा सिद्धान्त जात का प्रत्याख्यान करके सूक्ष्म तथा त्रिकालाबाधित सत्यवर्ण पदार्थों की शरण ली। ऋग्वेद के प्रसिद्ध नासदीय सूक्त में-

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्
नासीद्रजो न व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्न्
अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥२॥
तम आसीत्तमसा गूढमग्रे
ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्यपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतोबन्धु मसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्
अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।

यज्ञ के विरुद्ध ज्ञान का विद्रोह

---

* नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

गीता के इस कथन के अनुसार जब जीव प्रकृति के गुणों को अथवा चिदारोपित माया को सब काम करने वाला समझ अपने आपको निर्लेप देखने लगता है तब वह ब्रह्मरूप हो जाता है।

रेतोधा आसन् महिमान आसन्
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥५॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
सो अग वेद यदि वा न वेद ॥६॥

—युगयुगान्तरों से ब्राह्मणों के मुंह कभी यज्ञ* पुरुष के द्वारा, कभी †जलआदि तत्वों के द्वारा और कभी ‡ हिरण्यगर्भ आदि के द्वारा सृष्टि प्रक्रिया को सुन सुन कर श्रान्त हुए दार्शनिक आर्यहृदय का

---

* यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशून्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये॥
इत्यादि पुरुषसूक्त ऋग्वेद।

† आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
ऋग्वेद १०, १२१, ७

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥
ऋग्वेद १०. ८२. ६.

‡ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्॥
ऋ० १०. १२१. १.

ऋग्वेद के ७ सूक्तों में सृष्टि प्रक्रिया पर विचार किया गया है। सब सूक्तों में नासदीय सूक्त विशेष महत्त्व का है। आज कल के पाश्चात्य दार्शनिक भी सृष्टि प्रक्रिया के विषय में इसी परिणाम पर पहुंच रहे हैं।

स्थूलता का प्रत्याख्यान करके चरम सत्ता के स्वाभाविक* स्पन्दन की सतता में जगत् के उपादानाभिन्न† निमित्त कारण को स्थापित करने के लिये किया गया लोकोत्तर विद्रोह प्रतिध्वनित हो रहा है।

पौरस्त्य तथा पाश्चात्य छायावाद के मौलिक आधार में भेद है

परन्तु स्मरण रहे जहां प्राचीन भारतीय भावयोग का मूल धार्मिक जिज्ञासा है वहां पाश्चात्य छायावाद का मूल पश्चिम की अशान्त राजनैतिक परिस्थिति है। सुप्रसिद्ध छायावादी Shelley और Rossetti अपने अपने युग की परिस्थितियों से क्लिष्ट हो सूक्ष्मसत्ता तथा सूक्ष्मकलाओं में आत्मिक शान्ति ढूंढ रहे थे। Rossetti ने अपनी कविता तथा चित्रकला में उस सौन्दर्यका, उस सत्यवर्ण

---

* स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। उपनिषत्

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा॥

गौडपादाचार्य।

के अनुसार स्वाभाविक स्पन्दन के सातत्य का नाम ही सृष्टि है।

† मायावृत चिति ही जगत् का उपादानाभिन्न निमित्तकारण है। इस में प्रमाण—

स तपोऽतप्यत। सोऽकामयत। एकोऽस्यांबहु प्रजायेय।
उपनिषत्।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। गीता।

कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः॥

गौडपादाचार्य।

आनन्दमय ईशोऽयं बहु स्यामित्यवैक्षत।
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत् सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत्॥

पञ्चदशी।

त्रिकालाबाधित कुंचित चितवन का व्याख्यान किया है, जिसे सुप्त तथा स्तब्ध जगत् पर स्मितवदना विभावरी फेंका करती है, जो घनान्धकार का सर्वाङ्गीण आलिङ्गन करते समय अरुणवर्णा उषा देवी के मुकुलित नयनों में होती है, और जो निर्जन विपिन में ताराकीर्ण नभोमण्डल की हेकड़ी को दलित करने के लिये खिल-खिला कर बहने वाली सरिताओं की, उठ उठ कर हंसने वाली वीचियों में दृष्टिगत होती है। Shelley और Rossetti द्वारा खींचे गए प्रकृति के यह चित्र संसार में अमर रहेंगे।

भारत का नवीन छाया-वाद पश्चिम से लिया हुआ है

पाश्चात्य तथा पौरस्त्य सभ्यता के घनिष्ठ संसर्ग में भारत पर पाश्चात्य विचारों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। पश्चिम के प्रभाव ने जहां भारत को सुवर्ण की पूजा करनी सिखाई वहां उसने उसे सत्ताधीशों के विरुद्ध आन्दोलन करना भी सिखाया। आज समाज तथा राष्ट्रोंकी क्रूर प्रवञ्चकता से उत्पन्न हुई आततायी परिस्थिति में भारत का नवप्रबुद्ध आत्मा जीवन की भली और बुरी सब प्रकार की बातों से विद्रोह कर सर्वाङ्गीण स्वातन्त्र्य का अभिलाषी बना हुआ है। फलतः उसके साहित्य में, विशेषतः उसकी कविता में एक प्रकार का उद्दाम छायावाद सुनाई पड़ता है।

रवीन्द्र की गीताञ्जलि

साहित्यसम्राट् श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस छायावाद के आदर्श है। आप की गीताञ्जलि, जिसे छायावाद तथा कवित्व की दृष्टि से लोकोत्तर रचना कहा जाता है, भारतीय कवियों के लिये छायात्मक कविता का अनन्त भण्डार बन गई है। इसमें से रंगबिरङ्गे पुष्पों को ले भारत के नवजात कवि अपने अपने गुलदस्ते बनाने में संलग्न हैं।

हिन्दी में इस प्रकार की कविता करने वाले अनेक कवियों में

सूर्यकान्त त्रिपाठी, रामकुमार वर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त, मुकुटधर पाण्डेय, सियाराम शरण गुप्त, मोहनलाल महतो, भगवती चरण, गुलाबरत्न आदि के नाम उल्लेखयोग्य हैं। इनमें से एक दो की कविता का दिग्दर्शन कराना पर्याप्त होगा।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला — आप छायावादी कविता के सिद्धहस्त लेखक हैं। 'विधवा' नामक कविता में आप लिखते हैं—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीप शिखा सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूरकालताण्डव की स्मृति रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन-
दलित भारत की विधवा है।

निराली विधवा — षड् ऋतुओं का शृङ्गार,
कुसुमित कानन में नीरव पद संचार,
अमर कल्पना में स्वच्छ विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है
उसका एक स्वप्न अथवा है।
उसके मधु सुहाग का दर्पण,
जिसमें देखा था उसने
बस, एक बार विम्बित अपना जीवनधन,
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा—वह ध्रुवतारा—
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा।
हैं करुणा रस से पुलकित आंखे,
देखो तो भीगीं मन मधुकर की पांखें
रसावेश में निकला जो गुंजार

वह और न था कुछ, था बस हाहाकार ।
करुणा की सरिता के मलिन पुलिन पर
टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ा कर
छिन्न हुए भीगे आंचल में मन को—
रूखे सूखे अधर-त्रस्त चितवन को
दुनिया की नजरों से दूर बचाकर
वह रोती अस्फुट स्वर में,
सुनता है आकाश धीर निश्चल समीर—
सरिता की लहरें भी ठहर ठहर कर ।

विधवा भारतमाता

यहां कविता के पंखों पर उड़ता हुआ पाठक अभ्रमण्डल के मुकुटित मस्तक पर पहुँच क्षीणवदना भारत रमणी के बुझते हुए सौभाग्यदीप को देखता है और संसार के सुरभित उपवन में अगणित पुष्पों के स्फीत हास्यमण्डल के बीच में फटे पुराने परिधान को लपेट आततायियों की कुटिल क्रूरताओं पर सिसकने वाली इस विधवा पर आंसू बहाता है, फूट फूट कर, कलेजे को थाम थाम कर रोता है और श्यामाभ अम्बर के ऐश्वर्य-जगत् को करुणा की अनन्त सरिता में बहा देता है। यहां कवि ने विधवा की पार्थिव सत्ता को प्रतिभा की तप्त रश्मियों में गला उसकी प्रलयंकरी आत्मवेदना का सर्वाङ्गीण चित्रण किया है, उसने विधवा की नैराश्य-स्तिमित अलौकिक वेदना को शब्दों के कंपित पट पर सदा के लिये खचित कर दिया है। छायावादी कविता के कल्पना-जगत् में पाठक के संमुख प्रत्येक वस्तु अपना रागात्मक रूप धारण करके आती है और उसे नाम रूप के औपाधिक जगत् से उठा अपने रूपमें, अर्थात् रागात्मक चिदानन्द में विलीन कर देती

कूलङ्कष आत्म वेदना में पार्थिव सत्ता का तिरोधान हो जाता है

है। यही कारण है कि रसिक जनों पर सामान्य कविता की अपेक्षा छायात्मक कविता का कहीं अधिक गहरा तथा चिरस्थायी प्रभाव पड़ता है।

सुमित्रानन्दन पन्त अब उक्त तथ्य को सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में पढ़िये—

इस पीपल के तरु के नीचे
किसे खोजते हो खद्योत !
जहां मलिनता विचर रही है,
जहां शून्यता का है स्रोत।
सदन लौटता हुआ प्रवासी
तप्त अश्रुजल अंजलि दे,
पूत कर गया था जिस तरु को
सकल स्वार्थ की निज बलि दे।

पन्त की प्रेता विरहिणी

क्षीण ज्योति में निज किसका धन
ढूंढ रहे हो कर तम भङ्ग ?
किस अज्ञाता के जीवन को
ज्योतित हो कर रहे पतङ्ग ?
उस निर्दोषा का क्या जिसकी
वायु भक्षिणी वेणी में,
पड़कर तड़पा हाय ! प्रवासी
लुटे हुओं की श्रेणी में !
किन्तु शलभवर ! उसे न छेड़ो
सोने दो उसको उस पार,
वहीं स्वप्न में पा लेगी वह
अपने प्रियतम का उपहार।
जब जीवन के स्रोत संमिलित
हो जाते हैं किसी प्रकार।

उन्हें नहीं तव बिछुड़ा सकता सखे स्वयं तारक करतार ॥

त्रिपाठी की विधुरा से पन्त की विधुरा कहीं अधिक सूक्ष्म तथा दयनीय है

यहां कवि त्रिपाठी से एक कदम आगे बढ़ विधुरवदना सुन्दरी को नैराश्य में लुप्त करके उसे शून्यता के स्रोत पीपलतरु के नीचे शलभों द्वारा ढुंढवाता है। पन्त की विरहिणी, वेदना की ज्वालाओं में गलकर प्रेतरूप बन गई है, अब उसे व्यावहारिक जगत् में लाने के लिये प्रियतम के लोकोत्तर मोदमिलन के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। इधर पन्त के प्रवासी की दशा भी शोचनीय है। वह प्रेयसी की याद में तड़प तड़प कर मोहात्मक शून्य के हाथों लुट रहा है। परन्तु प्रवासी को मर्मोपघाती विधुर दशा में पहुँचाने का दोष प्रेयसी को नहीं; वह बिचारी इस बात में निर्दोष है। संयोग के इस कटुक विपाक का आदि मूल चेतना की उस परिपक्वावस्था में है जिसकी प्रोल्वणता ने प्रकृति अथवा मायावृत चेतना के साम्यावस्थारूप स्वप्ननीड को कंपित करके उसमें काम, अथवा अनेकरूपों में विकसित होने के संकल्प की पहली रश्मि उत्पन्न की थी। पन्त के मत में वह नैसर्गिक काम-प्रवृत्ति, वह स्वाभाविक विकासोन्मुख सङ्कल्प जिसने एकता को अनेकता में विभाजित करके पुरुष और स्त्री के प्रतीपी लिङ्गों का एक जोड़ा प्रस्तुत किया था, हो प्रेम के इस कटुक विपाक का यथार्थ कारण है। *सन्तप्त विरही मूर्छा के आवेश में माया के प्रपंच को भूल अपनी मौलिक दशा को प्राप्त कर लेता है। इसलिये

---

* मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत् किंचित् सचराचरम्।
मनसोह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥

गौडपादाचार्य के कथनानुसार प्रोल्वण आत्म विपाद से उत्पन्न हुए ज्ञान का आलोक होने पर मनोवृत्तियाँ स्तिमित हो जाती हैं और भय तथा क्लेश के हेतुभूत द्वैत का निरास हो जाता है।

ओ शलभ ! मोहात्मक निर्वाण में पहुँचे हुए विरहियों के इस युगल को न छेड़ ! इसे जीवन के उस पार, जहां संयोग और वियोग एक हो जाते हैं, जहां आनन्द और विषाद एक ही रस के दो नाम वन जाते हैं, मूर्छित हुआ सोने दे !!

साम्यावस्था के स्वप्ननीड का, और उसमें होने वाले 'काम' अथवा 'सङ्कल्प' के रसमय स्पन्दन का पन्त जी इस प्रकार वर्णन करते हैं—

प्रकृति के स्पप्ननीड में काम का आरंभिक कंपन

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि !
तूने कैसे पहिचाना ?
कहां कहां हे बालविहङ्गिनि !
पाया तू ने यह गाना ?
सोई थी तू स्वप्ननीड में
पंखों के सुख में छिपकर,
ऊंघ रहे थे, घूम द्वार पर,
प्रहरी से जुगनू नाना ;
शशिकिरणों से उतर उतर कर
भू पर कामरूप नभचर
चूम नवल कलियों का मृदुमुख
सिखा रहे थे मुसकाना ;
स्नेहहीन तारों के दीपक,
श्वासशून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में,
तम ने था मण्डप ताना ;
कूक उठी सहसा तरुवासिनि ?
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुमको अन्तर्यामिनि !
बतलाया उसका आना ?

निकल सृष्टि के अन्धगर्भ से
छाया तन बहु छाया हीन,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक टोना माना ;
छिपा रही थी मुख शशिबाला
निशि के श्रम से हो श्रीहीन,
कमलक्रोड में बन्दी था अलि,
कोक शोक से दीवाना,
मूर्छित थीं इन्द्रियां, स्तब्ध जग,
जड चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उरमें केवल
सांसों का आना जाना;
तूने ही पहले बहुदर्शिनि !
गाया जागृति का गाना,
श्रीसुख सौरभ का नभचारिणि !
गूंथ दिया तानाबाना !
निराकार तम मानो सहसा
ज्योति पुञ्जमें हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत जाल में
धर कर नामरूप नाना;
सिहर उठे पुलकित हो द्रुमदल,
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम अधरों पर
हिल मोती का सा दाना;
खुले पलक फैली सुवर्ण छवि,
खिली सुरभि डोले मधुबाल,
स्पंदन कंपन औ नव जीवन

सीखा जग ने अपनाना ;
प्रथम रश्मिका आना रङ्गिणि !
तू ने कैसे पहचाना ?
कहां कहां हे, बालविहङ्गिनि !
पाया यह स्वर्गिक गाना ?

सृष्टि के प्रभात का रसवद् वर्णन

सृष्टि के आदिम प्रभात का, तथा प्रतिदिन के सामान्य प्रभात का इससे अधिक सुन्दर, सरस तथा दार्शनिक वर्णन नवीन साहित्य में कठिनता से मिलेगा। यहां कवि ने दार्शनिक तत्त्वों को जाने बिना ही केवल अपनी प्रतिभा के बल से उनका रसवद् व्याख्यान कर दिया है। कोई भी विचक्षण दार्शनिक पन्त जी की उपर्युक्त पंक्तियोंमें 'नासदीय सूक्त' की सृष्टि-प्रक्रिया के भावयुक्त तारतम्य का उद्भावन कर सकता है।

यहां कवि 'नासदीय सूक्त' का आश्रय लेता हुआ सृष्टिप्रक्रिया की युगयुगागत विवेचनाओं से विद्रोह करता है और अपनी छायात्मक अलौकिक दृष्टि से माया के आवरण को चीर नाम और रूप के उस आदि स्रोत पर पहुँचता है जिसके विषय में उपनिषद् कहती है 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म,' 'स तपोऽतप्यत। सोऽकामयत एकोस्यां बहु प्रजायेय' इत्यादि। सृष्टिके इस चरम तथ्य का ऐसे सरस तथा रागात्मक शब्दों में व्याख्यान कर के पन्त ने सचमुच कमाल का जादू खेला है।

निर्झर के झर झर शब्द को सुन पन्त जी अपने मनको निम्नलिखित शब्दों में 'कर्मयोग' की शिक्षा देते हैं—

निर्झर का कर्मयोग

निर्झर की निर्भय झरझर !
निबल ! देख लो शीतल जल में
अन्तर्हित इच्छा की आग,
भूरि भिन्नता में अभिन्नता,

छिपा स्वार्थ में सुखमय त्याग !
गा लो वीणा में स्वर भर,—
जो न अश्रु अंजलि देता हो
वह क्योंकर सुख पायेगा ?
जिसे नहीं देना आता हो
वह किससे कैसे लेगा ?
फिर गिरि निर्झर की झर झर !

कितना सुन्दर उपदेश है ? शीतल जल में इच्छा की अविरल अग्नि का कैसा विचक्षण उद्बोधन किया गया है ? पन्त की कविता उपदेशों के इन सुनहले पत्रों से छपी पड़ी है। आप एक स्थान पर लिखते हैं—

माता के प्रति बालक के लोकोत्तर प्रश्न

स्नेह चाहिये सत्य सरल !
कैसा ऊँचा नीचा पथ है
मां ! उस सरिता का अविरल
तेरे गीतों को वह जिसमें
गाती है टल् टल् छल् छल् ।
मैं भी उससे गीत सीखने
आज गई थी उसके पास
उसके कैसे मृदुल भाव हैं ?
उज्ज्वल तन मन भी उज्ज्वल !
कितने छन्दों में लहराकर
गाती है वह तेरे गीत ?
एक भाव से अपने सुखदु:ख
तुझे सुनाती है कल् कल् ?
मां उसको किसने बतलाया
उस अनन्त का पथ अज्ञात ?
वह न कभी पीछे फिरती है

कैसा होगा उसका बल ?
एक ग्रन्थि भी नहीं पड़ी है
उसके सरल मृदुल उर में,
उसका कैसा कर्मयोग है,
वह चञ्चल है या अविचल ?

बालक के मुंह माता के प्रति यह बातें कहा कर पन्त जी ने सोने में सुगन्ध बसा दी है। 'मां! उसको किसने बतलाया उस अनन्त का पथ अज्ञात' कैसा रुचिर तथा भावपूर्ण प्रश्न है ? अनन्त पथ के श्रान्त यात्री के विपय में इससे अधिक गंभीर प्रश्न और क्या हो सकता था ?

छायावादी कवियों में रामकुमार का स्थान आदर के योग्य है। आपका आत्मिक रुदन उत्तान होता है और श्रोता को अदृश्य की अन्तस्तली में गन्धक के धूम्रमण्डल की नांई ऐंठने वाले लोकोत्तर विपाद का आभास दिलाने वाला होता है। अभिशाप का परिचय कराते हुए आप लिखते हैं—

रामकुमार

हाय सिसकती सी वर्षा में
यह गूँथा है हार।
समता करने को बरसातीं—
हैं आंखें जलधार॥
आंखों में जल है, ऊपर से,
भी है जल का स्राव।
हिम से शीतल बन कर गिरते,
मन के भारी भाव॥

अभिशाप का परिचय

छल छल कर जल गिरता, पर मन जल जल कर है धूल।
उस पर हँसते हैं नभ के मिटते से दो दस फूल॥

करुण क्रन्दन पर मिटते हुए क्षणभंगुर खपुष्पों का हँसना कैसा

अखरता है ? कुमार की कविता विषाद के कङ्काल को स्मृति की मरुस्थली में नङ्गा नचा देती है। वह हृदय के टूटे तारों को खींचने में अत्यन्त पटु है। कुमार विषण्णात्माओं के सन्तप्त निःश्वासों को कविता की कोथली में बन्द करके नैराश्यरञ्जित स्तब्धता के उत्तुङ्ग शिखर पर चढ़ जाता है और वहां छायात्मा बनकर उद्-गाढ शोक के कूलंकष गैसको विरही तथा विरहिणियों के नासापुटों में छोड़ देता है। इस गैस में छटपटाते हुए कुमार के विरहिजन रो रोकर अपने प्रेमियों से इस प्रकार भिक्षा मांगते हैं—

अरे तोड़ दो हार, तोड़ दो वीणा के सब तार।
बिखरी कलियों से कर लूँगी, मैं अपना शृङ्गार॥
दूर ! दूर ! मत भरो कान में,
वह मतवाला राग ;
यही चाहते हो मैं कर लूँ
इस जग से अनुराग ?
गिरते हुए फूल से कर लूँ
क्या अपना शृङ्गार ?
करने को कहते हो मुझ से,
निश्चल शव ऐ प्यार !
गिन डालूँ कितनी आहों में अपने मन के भाव ?
पथराई आंखों से कैसे देखूँ विष का स्राव ?
अरे सत्य की भाषा ही में
क्यों कहते हो पाप ?
क्षणिक सुखों की नीवों पर
क्यों उठा रहे सन्ताप ?
सुमन रङ्ग से किस आशा पर
करते अमर विहार ?
ओसकणों में देख रहे हो—

नैराश्य में आवेश

सारे नभ का यह श्रृङ्गार ?
प्यार प्यार क्यों प्यार कर रहे नश्वरता से प्यार ?
यहां जीत में छिपी हुई है इस जीवन की हार !!
मृत्यु वही है जिसमें होती,
जीवित क्षण की हार,
वे ही क्षण क्यों भाग रहे हैं
वर्तमान के पार ?
मेरे आगे ही मेरे
जीवन का यह नाश विलास,
झाँक शुष्कता रही चोर सी
हृदय सुमन के पास ;

कुमार की यह निराशा हृदय सुमन को चाटे डालती है। पता नहीं किन कलियों की मर्मान्तकरी वेदना को यह गीत रो रहे हैं ?

काले भावों की रजनी में
आशा का अभिसार,
मैंने छिपकर देखा था,
देखा था कितनी बार ?
क्लिष्ट मोद मिलन उनका आना और समुत्सुक—
मेरे मनका प्यार,
दोनों भाव बना देते थे
लज्जित लोचन चार ;
किन्तु, मुझे क्या मिलता था ? क्या बतला दूँ उपहार ?
शीतल ओठों का मुरझाया सा चुम्बन उस बार ॥
उत्सुकता के बदले में यह
भीषण अत्याचार ?
घृणा घृणा शत जिह्वा से
डसती थी बारंबार ॥

समस्त हृदय के गल जाने पर, बह जाने पर, मुझे क्या मिलता था ? मुझे मिलती थीं दो आंखें । मुझे मिलता था ठण्डा सा चुम्बन । बस ! फिर वे चले जाते थे, मैं अकेली रह जाती थी, चाँद मुझे देखा करता था, तारे मुझ पर हँसा करते थे, रात मुझे घूरा करती थी ! मोह के तिमिरपुञ्ज में मैं लोकान्तरित हो जाती थी, घड़ियों के लिये लोकान्तरित हो जाती थी । दुर्दान्त समय की अदम्य टाप मुझे नहीं जगा सकती थी, हां ! समीरण की चूँटियों को भी मैं चुपचाप सह जाती थी । घड़ियां बीतती थीं, वह फिर आते थे और मुझे कुछ उपहार दिया चाहते थे । मुझ से यह बात न सही जाती थी हां ! उनकी वह कठोर मंजुलता न सही जाती थी । अन्त में मैंने उनसे प्रार्थना की—

मुझे न छूना जतलाओ मत अपना झूठा प्यार ।
धूल समझ कर छोड़ चुकी हूँ यह कलुषित संसार ॥
यही निराशामय उलझन है क्या माया का जाल ?
यहां लता में लिपटा रहता छिपकर भीषण व्याल ॥

निराशा में आत्म दर्शन

हास्य कहां है ? उसमें भी है,
रोदन का परिणाम,
प्रेम कहां है ? घृणा उसी में
करती है विश्राम,
दया कहां है ? दूषित उसको—
करता रहता रोष,
पुण्य कहां है उसमें भी तो
छिपा हुआ है दोष;

धूल हाय ! बनने ही को, खिलता है यह फूल अनूप
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहिला रूप ॥
मदमाती आंखों वाले ओ ! ठहर अरे ! नादान !!
एक फूल की माला है उस पर इतना अभिमान ?

क्या शरीर है ? शुष्क धूल का—
थोड़ा सा छविजाल,
उस छवि में ही छिपा हुआ है
वह भीषण कङ्काल ।
पड़ा हुआ है मृत सा भूपर, जीवन दीप प्रकाश ।
अरी वेदने ! विखर रहा है वह तेरा उपहास ॥

अन्तिम घड़ियों के कैसे विनीत ताने तथा उपदेश हैं ? पता नहीं कुमार ने कितने विरहियों के सुप्तमीन स्वान्त ह्रद में विषाद की यह वैजयन्ती सदा के लिये गाड़ दी है ? 'कुमार' के कलित पाणि-पल्लव द्वारा एक वार गाड़ी जाकर 'प्रेमपीर' की यह लोकोत्तर 'गांस' फिर नहीं निकलती, हां ! इस जीवन में फिर कभी नहीं निकलती । हिलहिल कर, हंस २ कर, कानमें मन्त्र पढ़ पढ़कर यह क्लिष्टों को कलसाती है, उनके जर्जर हृदय के शीर्ण तटों को हंसती हुई ठुकरा ठुकरा कर तोड़ा करती है ।

'ये गजरे तारों वाले' नामक गीत में कुमार जी लिखते हैं—

इस सोते संसार वीच, जग कर सज कर रजनी वाले !
कहां वेचने ले जाती हो, ये गजरे तारों वाले ?
मोल करेगा कौन ? सो रही हैं उत्सुक आंखें सारी ।
मत कुम्हलाने दो सूनेपन में अपनी निधियां न्यारी ॥
निर्झर के निर्मल जल में ये गजरे हिलाहिला धोना ।
लहर हहरकर यदि चूमें तो किंचित विचलित मत होना ॥
हो प्रतिविम्व विचुम्बित, पर हो लहरों ही में लहराना ।
'लो मेरे तारों के गजरे' निर्झर स्वर में यह गाना ॥

यदि प्रभात तक कोई आकर,
तुमसे हाय न मोल करे ।
तो फूलों पर ओस रूप में,
विखरा देना सव गजरे ॥

कैसी मनोरम तथा सुकुमार कल्पना है ? शिव के असीम प्रच्छद पट को झाड़ किस लोकोत्तर चातुर्य से गजरे गूंथने के लिये मोती हथियाये गए हैं ? परन्तु कुमार ! इन असमर्त्य गजरों का मोल कौन करेगा ? संसार की विलासिनियों को तो चन्द्रिका ने पर्यङ्कों में कस रक्खा है। वे स्तब्ध हैं और प्रेत जगत् के किसी कोने में आंखमिचौनी खेल रही हैं। इसलिये कृपा करो ! कल्पना के इन असमर्त्य गजरों को अपनी ही कलित कलाइयों में शरण दो।

भावयोगाविष्ट कवि देश और काल की उपाधि से मुक्त हो जाता है

कविता का चरमविकास छायावाद अथवा भावयोग में होता है। भावयोग के आवेश में आ कवि परिधियों के आरोपित बन्धनों को तोड़ देता है और उसकी पहुंच चर्मचक्षुओं से न दीख पड़ने वाले सूक्ष्म स्पन्दन तक हो जाती है। सत् और असत्, सगुण और निर्गुण, पुरुष और प्रकृति के तादात्म्य का बौद्धिक आभास हो जाने के कारण वह सामान्य से सामान्य वस्तु में पराकाष्ठा के चमत्कार का उद्‌बोधन कर सकता है। यही कारण है कि आदर्श छायावादी सत्ता के अत्यन्त साधारण प्रतीकों में लोकोत्तर ऐन्द्रि-यता का प्रतिफलन कर, उसका मनुष्य की कृत्रिम ऐन्द्रियता के साथ सांमुख्य प्रस्तुत करके विशुद्ध शृङ्गार, अथवा सत्, चित्, आनन्द रूप ऐन्द्रियता का उपदेश देते हुए देखे जाते हैं।

I saw her upon a nearer view
A spirit, yet a woman too;

में महाकवि Wordsworth इसी तत्त्व का उपदेश दे रहा है।

लोकोत्तर शृङ्गारमें भौतिक तत्त्वों का तिरोधान हो जाता है

दार्शनिक दृष्टि से देखने पर ललना का सुन्दर शरीर लोकोत्तर सौन्दर्यका परिधान-मात्र ठहरता है। भावयोगी कवि रमणी के वहिरङ्ग और अन्तरङ्ग को सौन्दर्य के

सर्वव्यापक रस में घोल अन्तःकरण द्वारा प्रेयसी के लोकोत्तर स्थायी सौन्दर्य का रसपान करता है। इस रसपान में, इस लोकोत्तर शृङ्गार में विषयैपणा लुप्त हो जाती है और वृत्तियों के सर्वात्मना अन्तर्मुखीन होने से रस मात्र के आदि स्रोत* सच्चिदानन्द की प्रत्यभिज्ञा दृढ हो जाती है।

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ गीता।

में कृष्ण इसी तत्त्व का प्रतिपादन कर रहे हैं। Shelley, Rossetti आदि छायावादी कवियों की यही दशा थी।

Her voice was like the voice the stars
Had when they sang together.

में Rossetti इसी सिद्धान्त की आवृत्ति कर रहा है। यही

बिहारी और पन्त के शृङ्गार में भेद है

दशा नवोदित हिन्दीकवि निराला, पन्त, तथा कुमार आदि की है। इन लोगों की प्रतिभा बिहारी के समान रमणी के क्षणविभ्रंशि सुवर्ण में न फंस कर उसकी अन्तस्तली में घुसती है और वहां पार्थिव प्रेम के उत्थान और पतन का चुभता हुआ नाटक खेलकर असीम तथा अपरिमित लोकोत्तर सौन्दर्य का चमत्कार देखती है। इसी लिये जहां बिहारी आदि प्राचीन कवियों का रमणी चित्रण मन में विषयैषणा की गुदगुदी उठाता है वहां कुमार का प्रेमचित्रण विषयैषणा पर हिमजल बरसा 'चेतनकणों' की धूमायमान अग्नि को शान्त कर देता है।

---

* यद्यत्सुखं भवेत्तत्तद् ब्रह्मैव प्रतिबिम्बनात्।
वृत्तिष्वन्तर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम् ॥

पंचदशी.

विशुद्ध शृङ्गार में चैतन्य की वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है और आनन्दरूप ब्रह्म का अविकल आलोक खिल जाता है।

आधुनिक छायावादी सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होना चाहते हैं

हमने बताया था कि प्रत्येक प्रकार के छायावाद का मूल किसी न किसी अंश में प्रचलित परिस्थिति के विरुद्ध विद्रोह करना होता है। उत्कृष्ट छायावादी व्यक्ति, समाज, धर्म और कर्म सब प्रकार के काल्पनिक बंधनों को तोड़ भेद मात्र के टापुओं के अधस्तल में बहने वाले प्रेम रूप अभेद सागर की थाह लिया करता है। फलतः कभी कभी वह उमर खय्याम के इन शब्दों में—

'Let us make up in the tavern, for the time we have wasted in the mosque' कह बैठता है। परन्तु हमें उसके इन अप्रिय शब्दों का यथार्थ आशय समझकर अपनी वर्तमान परिस्थिति का उस आदर्श परिस्थिति के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना चाहिये, जिसके लिये कि छायावादी अहर्निश तड़पता रहता है। इसीलिये हम मेघनादवध के मूल लेखक को और हिन्दी में उसका अनुवाद करने वाले मैथिली शरण गुप्त को किसी प्रकार का उपालम्भ देने का साहस नहीं करते। दोनों कवियों ने उक्त काव्य में लाखों वर्षों से चली आने वाली रूढि का प्रत्याख्यान करके जरा जीर्ण जाति के संमुख मेघनाद तथा रावण की अदम्य युद्धैषणा का आदर्श उपस्थित किया है। गुप्त की इस प्रवृत्ति का आज हिन्दी संसार में वेग से प्रचार हो रहा है। हिन्दी के छायावादी कवि परंपरागत भाव, भाषा, छन्द, धर्म, कर्म, वैयक्तिक तथा सामाजिक नियम, सभी प्रकार की रूढियों का प्रत्याख्यान करके साहित्य को एक नवीन धारा में प्रवाहित कर रहे हैं। इस नवीन धारा का आगे चल कर क्या रूप होगा, यह बात भविष्य के गर्भ में है। इस पर यहां विचार करना अनावश्यक है।

यह हुई वर्तमान हिन्दी कविता के विकास की कुछ बातें।

उपसंहार

प्रस्तुत अध्याय में वर्तमान हिन्दी कवियों पर सूक्ष्मरूप से विचार किया है और उनकी अपनी अपनी शैलियों पर भग्न प्रकाश डाला गया है। इनकी कविता विश्वजनीन है या नहीं इस बात का निर्णय समय करेगा। कुछभी हो, हमें उनकी आरंभिक कठिनाइयों पर ध्यान देते हुए उनके उपकारों के लिये आभारी होना चाहिये। स्मरण रहे नैसर्गिक प्रतिभा सब में नहीं हुआ करती। शताब्दियों की सामान्य प्रतिभाओं का समष्ट्यात्मक अविकल प्रकाशन तो विरले ही कवियों में हुआ करता है। आकस्मिक और विलक्षण कहलाने वाली प्रतिभाएँ छोटी छोटी असंख्य प्रतिभाओंका उद्गारमात्र होती हैं। कबीर, तुलसी और सूर की लोकोत्तर रचनाओं में उनके प्रागगामी असंख्य भक्तों की प्रबल भक्ति का अविकल परिस्फुटन हुआ था। 'अब वर्तमान कवियों ने बड़े परिश्रम से ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया है * जिसमें किसो न किसी लोकोत्तर प्रतिभा का आलोकित होना अवश्यम्भावी है। उसके प्रखर प्रकाश में इन दीपकों के मन्द पड़ जाने ही में इनका महत्त्व है। परन्तु इनकी उपयोगिता का एकान्ततः नष्ट हो जाना उतना ही असंभव है जितना कि वह हमारे लिये हानिकर है। हमारे जीवन में ऐसे अन्धकारमय कोने भी होते हैं जहां जगद्विजयिनी प्रतिभाओं का प्रकाश नहीं पहुँच पाता। ऐसे कोनों में हम इन्हीं टिमटिमाते दीपकों से अपना काम चलाते हैं।' इसमें सन्देह नहीं कि हरिश्चन्द्र से लेकर आज तक कोई भी ऐसा कवि नहीं हुआ जिसकी रचना का तुलसी अथवा सूर की रचनाओं से सांमुख्य किया जा सके। परन्तु इसके साथ ही हम यह भी कहेंगे कि इन दिनों का हिन्दी-संसार किसी ऐसे प्रबल आवेग से आलोडित भी नहीं हुआ जिस का सांमुख्य फ्रान्स की राज्यक्रान्ति, शेक्सपेरियन युग, अथवा

---

* परिषद् निबन्धावली।

रूस के राज्य विप्लव से किया जा सके। समाज की इन उद्दण्ड क्रान्तियों में समाज के युगयुगागत भावों तथा सिद्धान्तों का क्रियात्मक संघर्ष होता है। आवश्यकता के समय अकस्मात् उदित होनेवाली लोकोत्तर प्रतिभाओं में इस संघर्ष का वाचात्मक प्रकाशन होता है। भारत में बङ्गविच्छेद तथा खिलाफत जैसे आन्दोलन हुए। फलतः उसमें रवीन्द्रनाथ तथा महात्मा गान्धी जैसी प्रतिभाएँ भी उत्पन्न हुईं। रूस में बोल्शेविज्म की प्रकाण्ड क्रान्ति हुई, फलतः वहाँ Dostoevsky जैसे विश्वजनीन लेखक भी उत्पन्न हुए, जिनकी विश्वविजयिनी प्रतिभा के संमुख विरोधी जाति के प्रसिद्ध समालोचक Middleton Murray को भी निम्न-लिखित शब्दों के साथ नतमस्तक होना पड़ा—

'In Russian literature alone can be heard the trumpet note of a new world. Other writers of other nations do no more than play about the feet of the jiants who are Tolstoy and Dostoevsky, fos even though the world knows it not, an epoch of the human mind came to an end in them. In them humanity stood on the brink of the revelation of a great secret.'

इस महान् रहस्य का भारत में महात्मा गान्धीने व्याख्यान किया है, परन्तु वह व्याख्यान दुर्भाग्यसे इंगलिशमें है न कि हिन्दी में। अभी हिन्दीकवियों को समाजने कोई ऐसे नये विचार अथवा भावनाएँ नहीं दीं जिनके आधार पर वे किसी प्रकार की विश्वजनीन कविता का निर्माण कर सकते। 'जिस अनिश्चित सन्तोष के साथ हम अपने जीर्णशीर्ण धार्मिक विश्वासों और संकीर्ण सामाजिक संस्कारों में अपना जीवन घसीटते आए हैं उसी शिथिलता के

साथ हमारे कवियों ने प्राचीन काव्यशास्त्र की रीतियों में अन्ध-श्रद्धा के साथ निर्जीव कविताएँ की हैं। जिस हिचक के साथ हमने नये विचारों और सुधारों को ग्रहण किया उसी झिझक के साथ उन्होंने नये विषयों और शैलियों का हाथ पकड़ा। अतीत का अन्धप्रेम हम से अब तक नहीं छूटा है। वर्तमान का यथार्थ आशय हमने अब तक नहीं समझा है। भविष्य का चित्र हमारे संमुख अब तक नहीं आया है। इन कठिनाइयों के सघन कानन में से हमारे वर्तमान कवियों ने पगडण्डियां निकाली हैं। उनपर राजपथ बनाना हमारा काम है।' हमारे संमुख भिन्न भिन्न प्रकार की शैलियां उपस्थित हैं। सौभाग्य से खड़ी बोली और ब्रजभाषा के वादविवादका भी खड़ी बोली के पक्ष में निर्णय होगया है। इन सब सुविधाओं के उपस्थित रहते हमें राष्ट्रभाषा हिन्दी के सर्वाङ्गीण विकास के लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये।

———

अध्याय १८

आधुनिक युग—हिन्दी गद्य

१९वीं सदी के आरंभ तक का हिन्दी साहित्य पद्य में है
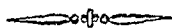
उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक का हिन्दी साहित्य प्रायः पद्य में मिलता है। इसके कुछ अपवाद भी हैं। चौदहवीं सदी में गोरखनाथ ने एक पुस्तक गद्य में लिखी थी। सोलहवीं शताब्दी में विट्ठलनाथ ने मुण्डन और गोकुलनाथ ने चौरासीवार्ता नामक पुस्तकें गद्य में लिखी थीं। सत्रहवीं सदी में दामोदरदास ने मार्कण्डेय पुराण का हिन्दी गद्य में अनुवाद किया था। इनके अतिरिक्त कुछ टीकाएं भी गद्य में लिखी गई थीं। १९वीं सदी तक के साहित्य में उपर्युक्त पांछ छः गद्य पुस्तकों का होना समुद्र में बूंद के समान है।

लल्लूजीलाल के साथ हिन्दी गद्य का आरम्भ

हिन्दी गद्य का आधुनिग युग लल्लूजीलाल के जमाने में १८१० के लगभग प्रारंभ होता है। उन्हों ने तथा उनके मित्र सदल मिश्र आदि ने खड़ी बोली में गद्य के अनेक उपयुक्त ग्रन्थ लिखे। उनके बाद राजा शिवप्रसाद तथा लक्ष्मणसिंह आदि ने गद्य के विकास में अच्छा हाथ बंटाया। भारतेन्दु बाबू ने परंपरागत प्रणाली को बदला और उसमें समयानुकूल बातें सम्मिलित कीं। उन्हों ने हिन्दो साहित्य को धार्मिक भावों के उपवन से निकालकर संसार के अनन्त समुद्र के सम्मुख ला खड़ा किया। अब संकोच का स्थान विकास ने ले लिया और धर्म का स्थान देशप्रेम आदि ने छीन लिया। हिन्दो साहित्य में इस परिवर्तन को उत्पन्न कर भारत के नरनारियों को देशप्रेम की दीक्षा

देना ही भारतेन्दु के जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य था। इस काम में उन्हों ने १८७० ईसवीं के लगभग हाथ डाला और इसे पूरा करने के लिये अनेक सामयिक पुस्तकों के साथ साथ पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन भी प्रारंभ किया।

भारत की राष्ट्रीय महासभा का जन्म

भारतेन्दु का युग जागृति का युग था। उस समय इंग्लैण्ड का लिबरल दल उन्नति के शिखर पर था राजा राममोहनराय आदि विद्वान् पाश्चात्य देशों में घूम कर नये अनुभवों के साथ घर लौटे थे। विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले छात्रों का ध्यान राजनीति की ओर झुक चुका था। सामाजिक तथा राजनैतिक अभ्युदय की चाह उनके मनों में जाग चुकी थी। वे अंग्रेज जाति के विषम व्यवहार को परख चुके थे। इन सब बातों का सामूहिक परिणाम हुआ देश में राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) का जन्म।

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज

भारत के नवयुवक पाश्चात्य शिक्षा से चकाचौंध हो हजारों की संख्या में ईसाई बन रहे थे। मुसलमान भी लुके छिपे अपना काम कर रहे थे। हिन्दू समाज शिथिल होने के कारण अस्त-व्यस्त होने लगा था। स्वामी दयानन्द ने इसमें नवजीवन का संचार किया और इसके प्राणों की रक्षा की। आर्यसमाज ने ईसाई और मुसलमानों के आक्रमणों को रोका और बिछुड़े हुओं को फिर से गले लगाकर शुद्धि तथा अछूतोद्धार का उपदेश दिया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु के ऊपर इन सब बातों का प्रभाव पड़ना स्वभाविक था। उनके लेखों में मुसलमानों के प्रति द्वेष टपकता है और ईसाइयों के प्रति घृणा प्रकट होती है। वह सुधारों को चाहने पर

भी प्राचीनता को नहीं दुराते थे। वह राजनैतिक अभ्युदय की टीपटाप में धर्म को खोना नहीं पसन्द करते थे। फलतः उनके भावों में प्राचीनता और नवीनता दोनों की झलक है, उनकी भाषा में व्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों का संपर्क है, उनकी शैली में प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार की शैलियों का समझौता है।

गद्य के विकास की दृष्टि से उपर्युक्त घटनाएं अत्यन्त महत्व की थीं। इनके होते ही देशमें नई जान आगई और कर्मण्यताका संचार हो गया। नवजीवन का साहित्य में प्रतिफलन होना अनिवार्य था, क्योंकि जीवन के वाचात्मक प्रकाशन का ही दूसरा नाम साहित्य है।

साहित्य में परिवर्तन

अब साहित्य का कलेवर बदलने लगा, उसमें नवीनता आने लगी, भाषा और व्याकरण के प्रायः ज्यों का त्यों रहने पर भी शैली बदल गई, भाव परिवर्तित हो गये। सामूहिक आन्दोलनों का सार्वजनिक प्रकाशन कविता से असंभव है। कविता में विचारों का घनीभवन होता है, मनोभावों की तीव्रता होती है, अनुभव की घनता होती है। दूसरी ओर गद्य में इन सब बातों का विकिरण अथवा विस्तार होता है। फलतः सामाजिक आन्दोलन का प्रकाशन कविता द्वारा न हो सदा से गद्यद्वारा होता आया है। यह बात इस युग के हिन्दीसाहित्य के विषय में भी पूर्ण रूप से चरितार्थ हुई। हिन्दी में गद्यग्रन्थ लिखे जाने लगे, उसमें पटुता आने लगी, भाषा प्रांजल होने लगी, और उसकी व्यापकता बढ़ने लगी।

इस युग के प्रमुख लेखक

इस समय के प्रमुख लेखकों में पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, बा० देवकीनन्दन, बा० बालमुकुन्द गुप्त, तथा पं० रामशङ्कर व्यास विशेष-रूपेण स्मर्तव्य हैं। इन लोगोंके लेख चमत्कृत होते थे, अनूठे होते थे, उनमें तीक्ष्णता होने पर भी मृदुलता रहती

थी। इनके लेख कोरे राजनैतिक न होते थे, एकान्ततः सामाजिक भी न होते थे, उनमें समय समय पर यथार्थ साहित्य का रस वहता था, और विश्वजनीनता की आभा रहती थी।

नाटक

बा० हरिश्चन्द्र ने नाटक लिखने में भी कौशल दिखाया। इन नाटकों में जान थी, अभिनय था, और सत्यता की छाया थी। इनके भाव नवीन थे, परन्तु शैली प्राचीन थी, यह बहुत सी बातों में अब भी संस्कृत के पीछे चलते थे। इनमें कला की न्यूनता थी। इनके विषय प्रायः देश और समाज के उत्थान से संवन्ध रखने वाले होते थे।

उपन्यास बा० देवकीनन्दन खत्री

इसी समय देवकीनन्दनने हिन्दीमें, चन्द्रकान्ता रच उपन्यास रचना का सूत्रपात किया। इनसे पहले भी हिन्दी में अनेक आख्यायिकाएं लिखी जा चुकी थीं। लल्लूजीलाल के समकालीन सदलमिश्र तथा सैयद इंशा अल्लाखां ने रानीकेतकी की कहानी तथा नासिकेतोपाख्यान लिखे थे। पर ये थी आख्यायिकाएं, और आख्यायिका तथा उपन्यास में भारी भेद है। आख्यायिका और उपन्यास दोनों ही में मनुष्य के जीवन से संवन्ध रखने वाली घटनाओं का उल्लेख होता है, दोनोंमें सुख दुःख का विवेचन किया जाता है, इतने पर भी दोनों एक वस्तु नहीं हैं। कहानी में जीवन के केवल एक पक्ष का प्रतिविम्ब उपस्थित किया जाता है, उपन्यास में जीवन की प्रत्येक घटना का विस्तृत समालोचन होता है। कहानी में आदि से अंत तक केवल एक भाव की प्रधानता रहती है, उपन्यास में समय समय पर भावों का परिवर्तन होता रहता है। उसमें एक ही भाव कभी उच्च से उच्च सीमा तक पहुँच जाता है और कभी निम्न से निम्न दशा में गिर जाता

है। जितना और जिस प्रकार का भेद कविता तथा महाकाव्य में है उतना और वैसा ही भेद आख्यायिका तथा उपन्यास में है।

बाबू देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों का उद्देश्य देश अथवा सामाजिक सुधार नहीं था। उनकी कथाएं वैचित्र्यपूर्ण थीं और रोचक थीं। उनका एकमात्र उद्देश्य था ऐयारी की कला दिखाना और हिन्दी संसार का मनोरंजन करना।

जागृति के उस युग में ऐसे उपन्यासों का आशय क्या हो सकता था यह प्रश्न महत्त्व का है।

हिन्दी उपन्यास का आधार उर्दू उपन्यास है

वास्तव में हिन्दी उपन्यासों की सृष्टि उर्दू उपन्यासों के आदर्श पर हुई है। उर्दू के उपन्यासों में वैचित्र्य का अंश प्रधान होता है, अथवा यों कहिये कि वैचित्र्यांश में ही उर्दू उपन्यास अथवा साहित्य का मुख्य जीवन है। बाबू देवकीनन्दन के उपन्यासों में यह वैचित्र्यांश उर्दू उपन्यासों से आया प्रतीत होता है।

हिन्दी के प्रचार में उपन्यासों का पर्याप्त हाथ है। खत्रीकी शैली रोचक थी, सरल थी, मनोज्ञ तथा मंजुल थी। कुछ दिनों तक ऐय्यारी के उपन्यासों की धूम रही।

नागरी प्रचारिणी आदि सभाओं का सूत्रपात

१९०५ तक हिन्दी साहित्य की यही दशा रही। देश तथा समाज सुधार को लक्ष्य में रख अच्छा काम किया गया। १९०५ के लगभग बंग-विच्छेद हुआ और भारत में तीव्र शासन-प्रणाली का सूत्रपात हुआ। इन्हीं दिनों जापान ने रूस पर विजय प्राप्त की। दोनों घटनाओं का हिन्दी संसारपर भारी प्रभाव पड़ा। भारत में नवीन स्फूर्ति का संचार हुआ, स्वदेश प्रेम तथा मातृभाषाप्रेम का मंत्र पढ़ा जाने लगा, हिन्दी-के सुदिन आए, अंग्रेजी के उपासकों की आंखें खुलीं, उन्हों ने औदास्यमय उत्ताप के साथ हिन्दी का अंचल पकड़ा, अंग्रेजी से

विछोह करना उन्हें अखरा, परन्तु यह विछोह अनिवार्य था। मातृ भाषा को सुसंपन्न करने के लिये प्रयत्न किये जाने लगे, विदेश-यात्रा को प्रोत्साहन मिला, और संगठन के मन्त्र की धूम रही। नागरीप्रचारिणी आदि सभाओं का सूत्रपात हुआ। बंग देश का सहारा ले हिन्दी संसार आगे चलने लगा। बंगाल तथा यू.पी. दोनों का मार्मिक जीवन समान है, बहुतसी परिस्थितियां दोनों पर समान-रूपसे लागू हैं, फलतः यू. पी. की हिन्दी को बंगला में अच्छी रसायन मिली, बंगला उपन्यासों तथा आख्यायिकाओं के धड़ाधड़ अनुवाद होने लगे और इन अनुवादों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ने लगी।

बंगला पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद

वर्तमान युग के इस पार्श्व की सीमा १९१८ तक समझनी चाहिये। यह युग क्रिया का युग था, परन्तु वह क्रिया मौलिक नहीं थी, प्रतिभाजन्य नहीं थी। शांति कुटीर, छत्रसाल, मोहिनी, आंख की किरकिरी, में हमारा अपना क्या है? हमारा तो बरतन है, शराब दूसरों की है, मोती दूसरों के हैं। हमारे यहां नाटक नहीं के समान थे, जो थे भी वह निर्जीव थे, और आभास मात्र थे। हमने नाटकों का अभिनय बंगाल से लिया। शांति भूषण तथा द्विजेन्द्रलाल के नाटकों के अनुवाद प्रकाशित किये गए।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इन दिनों अच्छा काम किया। आपने खड़ीबोली में जान डाली और गद्य की श्रेष्ठशैली का आदर्श उपस्थित किया। अनुवादों ने गद्य की शैली को भ्रष्ट कर दिया था। द्विवेदी जी ने सरस्वती में प्रामाणिक लेख लिख कर गद्य तथा उसकी शैली को किसी सीमा तक निश्चित किया। द्विवेदी जी का संपत्तिशास्त्र भाषा, भाव, तथा

शैली तीनों की दृष्टि से स्तुत्य है। इनका रचा महाभारत गद्य का आदर्श ग्रन्थ है।

१९१२ के लगभग हिन्दी में गल्पलेखन का सूत्रपात हुआ। यह प्रथा बंगला से उधार ली गई है, परन्तु इसमें अच्छे अच्छे परिशोध किये गए हैं।

मुंशी देवीप्रसाद ने इतिहास क्षेत्र में बड़ा भारी काम किया।

इतिहास लेखक मुंशी देवीप्रसाद

इन्हों ने हिन्दी में अनेक प्रामाणिक इतिहास लिख कर उसके इतिहास भाग की पूर्ति की। कतिपय जीवनियों के अतिरिक्त इन्हों ने दो काव्य संग्रह भी प्रकाशित किये। कुल मिलाकर इन्हों ने पचास के लगभग ग्रन्थ लिखे हैं। हिन्दी गद्य में लिखने से पहले यह उर्दू गद्य तथा पद्य में रचना करते थे। इन के गद्य में उर्दू का प्रभाव स्पष्ट है। इन की भाषा सरल बोल चाल की भाषा है। उसमें मुहावरे खूब रहते हैं। आप का गद्य प्रसन्न तथा स्वाभाविक है।

पण्डित गौरी शङ्कर हीराचन्द ओझा भारत के सर्वश्रेष्ठ पुरातत्त्वानुसन्धायक इतिहासज्ञों में से एक हैं।

पण्डित गौरी शङ्कर हीराचन्द ओझा

आप प्राचीन भारतीय लिपियों के ख्यातनामा आचार्य हैं। आपने अपने सुप्रसिद्ध 'प्राचीन-भारतीय लिपिमाला' नामक ग्रन्थ में व्युहलर (Buhler) आदि पाश्चात्य पुरातत्त्वानुसन्धायकों के पक्षपातपूर्ण सिद्धान्तों का बड़ी योग्यता से खण्डन करके ब्राह्मी लिपि को भारत ही में उत्पन्न हुआ सिद्ध करते हुए बौद्धजातक, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी, प्रातिशाख्य, शिक्षा, ब्राह्मण तथा अन्त में ऋग्वेद के—

न मा मिमेथ न जिहीड एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामपजायामरोधम्।

ऋग्वेद १०, ३४, २

इत्यादि मन्त्रों द्वारा उसके आदिरूप की वैदिककालीनता को प्रमाणित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। आप का रचा राजस्थान का इतिहास ऐतिहासिक दृष्टि से अपने विषय का अपूर्व ग्रन्थ है। समय समय पर आपके प्रामाणिक लेख नागरीप्रचारिणी आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। आपने एक लेख में पृथ्वीराज रासो की अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विस्तृत समालोचना करके उस ग्रन्थ को जाली बता कर उसकी प्राचीनता तथा ऐतिहासिक प्रामाणिकता के विषय में फैले हुए परंपरागत विचारों को दूर करने का मौलिक प्रयत्न किया है। ओझा जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ लेखकों में से एक हैं। आप की भाषा प्राञ्जल तथा प्रौढ होती है। आप ने हिन्दी साहित्य की अमूल्य सेवा की है।

स्वराज्य आन्दोलन और हिन्दी

१९१४ में विश्वव्यापी युद्ध छिड़ा । इसका हिन्दी संसार पर सीधा प्रभाव नहीं के बराबर पड़ा । पत्र-पत्रिकाओं की भरमार रही, पर इनमें साहित्यिक पहलू से कोई भी विशेषता नहीं थी। १९१९ में विश्वव्यापी युद्ध की समाप्ति हुई। संसार में शान्ति हुई परन्तु भारत में अशान्ति का युग प्रारम्भ हुआ। खिलाफत की समस्या ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक कर दिया। दोनों को महात्मा गान्धी जैसा कर्मण्य नेता मिल गया। पंजाब में हत्याकाण्ड हुए और भारत में बिजली दौड़ गई। हिन्दुस्तान में जागृति हुई, और हिन्दी में नव जीवन का संचार होगया। हिन्दू कारागारों में गये, हिन्दी में राष्ट्रीय कविता का उत्थान हुआ। राष्ट्रीय भक्त कारावास में सड़ रहे थे, उनके तीव्र उच्छ्वास हिन्दीकविताका रूपधारण कर जनता में विद्युत्संचार कर रहे थे। रामनरेश त्रिपाठी की 'मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुञ्ज और वन में' वाली अत्यन्त सुन्दर कविता आगरे की जेल में लिखी गई थी। १९२२ तक का युग हिन्दी के लिये अत्यन्त महत्त्व का

फारसी तथा उर्दू के धुरन्धर विद्वान् हैं। उत्तर भारत के प्रमुख संस्कृत विद्यालय महाविद्यालय ज्वालापुर में आप दस बारह वरस तक संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य के प्रधानाध्यापक रहे हैं। लेखक को भी आप के भी चरणों में बैठ कर अक्षराभ्यास करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

शर्मा जी प्रतिभासपंन्न भावुक आर्य हैं। 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्' में भरोसा रखते हुए आप सदा से प्राचीनता और नवीनता के रागात्मक सामञ्जस्य को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील रहते आये हैं। आप का सतसई संजीवन भाष्य इसी प्रवृत्ति का फल है। इसमें आप ने बिहारी पर किये गए आक्षेपों का निराकरण करते हुए उस का संस्कृत, हिन्दी, फारसी तथा उर्दू कवियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करके बिहारी को सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध करने का मौलिक प्रयत्न किया है। शर्मा जी के कुछ प्रस्तावों से (जैसे कि विहारी के अस्वाभाविक विरह वर्णन) सहमत न होने पर भी हम यह निःसङ्कोच हो कह सकते हैं कि आपने विहारी के नर्म विहारको खूब समझा है और उसे लोकोत्तररीत्या जनता के संमुख प्रस्तुत किया है।

शर्मा जी की शैली अनोखी है। आपने अपने उद्भट हिन्दी गद्य को जगह जगह संस्कृत, फारसी, तथा उर्दू के चुभते हुए पद-विन्यासों द्वारा अलङ्कृत किया है। समालोचना करते समय कभी कभी आप प्रतिपक्षी को आड़े हाथों ले उसका शङ्कराचार्य के 'निरङ्कुशत्वात्ते तुण्डस्य' इत्यादि शब्दों में परिहास करने लगते हैं। यह वात, और ऐसी ही कुछ और वातें गुण हों या दोष, किन्तु इस में सन्देह नहीं कि हिन्दीजगत् ने एक स्वर हो शर्मा जी के मस्तक पर 'समालोचकशिरोमणि' का सेहरा वांध दिया है और यह सेहरा अपने इस नवीन अधृष्य तथा अधिगम्य स्थान पर शोभायमान भी खूब हो रहा है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर हिन्दी गद्य का विकास इस क्रम में रक्खा जा सकता है—

१. मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाने वाली (हिन्दुस्तानी) भाषा को खड़ी बोली कहते हैं। यही आजकल उत्तर भारत के हिन्दुओं की साहित्यिक गद्यभाषा है।

२. मुसलिम साम्राज्य की स्थापना से पहले खड़ी बोली इसी केन्द्र में परिसीमित थी। किन्तु जब मुसलमानों ने साम्राज्य स्थापन करके दिल्ली को अपना केन्द्र बनाया तब उन्होंने राजकीय व्यवस्था की सुविधा के लिये इसी प्रदेशकी भाषा (खड़ी बोली) को अपनाया। मुसलिम साम्राज्य की प्रधान आधारशिला सेना थी। सेना में अरब, फारस तथा तुर्किस्तान से आने वाले मुसलमान न्यून थे और भारतीय अधिक। देशी तथा विदेशी सिपाहियों की बोलचाल में शब्दों का प्रचुर आदानप्रदान हुआ। हिन्दी में अरबी फारसी के शब्द मिल गये। छावनी में उत्पन्न हुई इस मिश्रित भाषा का नाम उर्दू पड़ा।

३. इस मिश्रित भाषा का शरीर भारतीय था और परिधान विदेशी। सेनाओं के यातायात के साथ इसका प्रचार बढ़ने लगा। इसके प्रचार में व्यापारी तथा साधु सन्तों ने भी अच्छा हाथ बंटाया। शनैः शनै मिश्रित भाषा देश के कोने कोने में फैल गई।

४. मुसलमानों ने इस्लाम की वैयक्तिक सत्ता को स्थिर रखने के लिये अपनी भाषा को हिन्दुओं की इस हिन्दी से पृथक् करना उचित समझा। उन्होंने मिश्रित भाषा में अरबी फारसी के शब्दों की भरमार करते हुए उसके व्याकरण को फारसी भाषा के व्याकरण पर ढाला और उस पर फारसी के लालित्य तथा इस्लाम के भावों की छाप लगा दी। यही भाषा आजकल शिष्ट मुसलमानों तथा फारसी पढ़े हिन्दुओं की बोलचाल की भाषा है।

५. जहां एक ओर मिश्रित भाषा पर मुसलमानों का विदेशी प्रभाव

काम कर रहा था वहां दूसरी ओर उस पर हिन्दू साधु सन्तों का देशी प्रभाव भी काम कर रहा था। मिश्रित भाषा की हिन्दवी धारा शिष्टों के भाषण के रूप में विद्यमान रही। इसका लिखित रूप गङ्गभाट (सं० १६२०) कृत 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' में तथा जटमल (सं० १६८०) रचित 'गोराबादल की कथा' में मिलता है। पहले ग्रन्थ की अपेक्षा पिछले की भाषा में हिन्दीपन अधिक है। उसमें राजस्थानीपन की पुट लगी हुई है। कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी नियन्त्रण की व्यवस्था होने से पहले ही मुंशी सदासुख (जन्म सं० १८०३) भागवत का 'सुख-सागर' नामक अनुवाद कर चुके थे। इंशा अल्लाखां ने सं० १८५५ और १८६० के मध्य 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' लिखी। उक्त पुस्तकों में खड़ी बोली की हिन्दवी (प्रधान) शाखा का क्रमिक विकास प्रतिफलित है।

६. इसके पश्चात् लल्लूजीलाल तथा सदलमिश्र का समय आता है। लल्लूजीलाल के प्रेमसागर से सदलमिश्र के नासिकेतोपाख्यान की भाषा अधिक पुष्ट और सुन्दर है। प्रेमसागर में अनेक प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करी, करिके, बुलाय, बुलाय करि, बुलाय करिके, बुलायकर आदि अनेक रूप अधिकता से मिलते हैं। सदलमिश्र में यह बात नहीं है। लल्लूजीलाल तथा सदलमिश्र के लेखों ने हिन्दी को सुव्यवस्थित तथा परिमार्जित बनाया। 'जिस प्रकार मुसलमानों की कृपा से हिन्दी का प्रचार और प्रसार बढ़ा उसी प्रकार गिलक्रिस्ट आदि अंग्रेजों की कृपा से हिन्दी गद्य का रूप परिमार्जित और स्थिर होकर हिन्दी साहित्य में एक नया युग उपस्थित हुआ।'

७. इंशा अल्लाखां, लल्लूजीलाल, सदलमिश्र तथा सदासुख के पश्चात् हिन्दी गद्य के प्रचार में ईसाई पादरियों का स्थान है। लल्लूजी लाल की भाषा में ब्रज की बोली मिली हुई है। पादरियों ने देश के

विस्तृत भूभाग में फैली हुई खड़ी बोली में बाइबिल का अनुवाद करके खड़ी बोली के आगामी प्रसार की शुभ आशा दिलाई। इसी युग में छापेखाने का आगमन हुआ जिस ने धार्मिक गद्य पुस्तकें छापकर हिन्दी प्रचार में भारी सहायता पहुंचाई।

८. इसी समय सरकारी पाठशालाएं खुलीं। मुसलमानों ने पाठशालाओं में अकेली उर्दूलिपि तथा भाषा के आयोजन का भरसक प्रयत्न किया। किन्तु राजा शिवप्रसाद के प्रयत्नों से देवनागरी लिपि स्वीकार की गई और स्कूलोंमें हिन्दीको स्थानमिला। राजासाहबकी अधिकांश पुस्तकों में उर्दू बिखरी पड़ी है। इसके विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह ने अपने शकुन्तलानाटक में संस्कृतविशिष्ट खड़ी बोली का उपयोग किया।

९. अब तक हिन्दी में प्रायः पाठावलियां निकल रही थीं। भारतेन्दु के युग में हिन्दी के सर्वाङ्गीण विकास पर ध्यान दिया गया। भारतेन्दु ने बंगला नाटकों का अनुवाद किया और मौलिक नाटक रचे। तात्कालिक लेखकों में पण्डित बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह मुख्य हैं। आर्यसमाज में स्वामी दयानन्द के पश्चात् पं० भीमसेन शर्मा ने अच्छा साहित्य निकाला। संपादकों में पं० बालमुकुन्द गुप्त ने प्रशस्य काम किया। इनकी लेखनी में हिन्दी के बाल्य की झलक है और यौवन की अरुणिमा सूचित है।

१०. सं० १९०४ में काशी नागरीप्रचारिणी सभा स्थापित हुई। इसी युग में श्रद्धेय पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती के द्वारा हिन्दी को सुव्यवस्थित तथा सुसंस्कृत किया। सरस्वती ने भाषा को काट छांट कर दुरुस्त किया, व्याकरण की प्रतिष्ठा की, नवीन लेखकों का उत्साह बढ़ाया, और अंग्रेजी की ओर झुके हुए लेखकों को हिन्दी सेवा में प्रवृत्त किया। नागरीप्रचारिणी पत्रिका ने प्राचीनतत्वा-नुसंधान में प्रशंसनीय कार्य किया। सभाने हिन्दी शब्द सागर नामक

कोष का संकलन किया। सरस्वतीके प्रकाशन और नागरी प्रचारिणी सभाकी स्थापनाके उपरान्त हिन्दी गद्यकी दिनदूनी और रातचौगुनी उन्नति होने लगी। भाषा में प्रौढता आई और रुचिर शैलियों का आविर्भाव हुआ। 'काशी के लेखक संस्कृत प्रधान भाषा को पसन्द करते हैं, कानपुर और लखनऊ के लेखकों पर द्विवेदी जी का प्रभाव है, प्रयाग में दोनों श्रेणियों के लेखक मिलते हैं, और देहली केन्द्र में पण्डित पद्मसिंहशर्मा अपनी चटपटी शैली के लिये प्रख्यात हैं'। नवोदित अंग्रजी भाषा के विद्वानों ने हिन्दी पर अपनी छाप लगाई। मासिक पत्रिकाओं से साहित्य का कलेवर श्रीयुत हुआ। राजनीतिक आन्दोलन ने हिन्दी को राष्ट्र् भाषा बनाने में सबसे अधिक सहायता दी। संक्षेप में इस समय हिन्दी का सर्वांङ्गीण विकास हो रहा है। विश्वविद्यालयों की उच्चतम कक्षाओं में हिन्दी को स्थान मिल रहा है। हिन्दी का वर्तमान शुभ्र है, उसका भविष्य इस से भी कहीं अधिक शुभ्र होगा।

हिन्दी भाषा विज्ञान

हिन्दी भाषा ।

हिन्दी भाषा उस भाषा-कुल से सम्बन्ध रखती है जिसे इण्डो-यूरपीन कहते हैं। भारतवर्ष तथा यूरप और उन के मध्यवर्ती प्रदेशों की बहुत सी भाषाएं इसी भाषा-कुल के अन्तर्गत हैं। कभी २ इस भाषाकुल को केवल आर्य ही कह देते हैं, परन्तु आर्य शब्द अब बहुधा संस्कृत-जन्य भारतीय भाषाओं के लिये बोला जाता है। हिन्दी भाषा और उस की बोलियों का इतिहास तथा विकासक्रम जानने के लिये इण्डो-यूरपीन कुल की अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में गवेषणा करने की आवश्यकता नहीं। केवल जिस समय से आर्य भाषा ने इस भारत भूमि पर अपना पांव रक्खा तब से लेकर आज पर्यन्त इस भूमि पर आर्य भाषा का इतिहास और विकास-क्रम जानना ही अत्यावश्यक है।

२—आर्य भाषा का भारतवर्ष में आगमन आज से कोई चार हजार वर्ष पहिले हुआ। यही समय प्रायः ऋग्वेद के मन्त्रों का निर्माण-काल समझा जाता है। इण्डो-यूरपीन भाषा-कुल के जितने ग्रन्थ तथा लेखादि आज तक उपलब्ध हुए हैं उन में ऋग्वेद के मन्त्र सब से पुराने ठहरते हैं। भारत भूमि पर आर्य भाषा का इतिहास तथा विकास-क्रम मुख्यतया तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है, अर्थात् १—वैदिक अवस्था—वि० पू०२००० वर्ष से वि० पू० ६०० वर्ष तक, २—प्राकृत-अवस्था—वि० पू० ६०० वर्ष से वि० सं० १००० तक और ३— आधुनिक अवस्था—वि० सं० १००० से अब तक।

३—जब आर्य लोग भारतवर्ष में आए तो वह कई बोलियां बोलते थे जो एक दूसरे से कुछ २ भिन्न थीं। इन ही में से एक बोली ऋग्वेद के मन्त्रों के लिये व्यवहृत हुई जिस में शेष बोलियों का भी कुछ अंश मिश्रित हुआ प्रतीत होता है। भारतवर्ष में उस समय बोली जाने वाली आर्य-भाषा को आदिम या प्राचीनकालिक आर्य भाषा कहते हैं। इस के साहित्यिक रूप की साक्षी-भूत वैदिक भाषा है जिस में ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य की रचना हुई। और बोलचाल के रूप की साक्षी वह बोलियां थीं जो

समय के प्रभाव से बदलते २ पहिले प्राकृत बनीं और फिर होते २ आधुनिक आर्य भाषाओं में परिणत हो गई। सर्वसाधारण की यह प्रचीन आर्य बोलियां वैदिक भाषा से कुछ विशेष भेद न रखती थीं। प्राचीन समय की आर्य भाषा सर्वथा विभक्तिमय थी, अर्थात् उस में संज्ञा, विशेषण और सर्वनाम शब्दों में लिङ्ग वचन और कारक का भेद बतलाने के लिये उन के साथ सुबादि प्रत्यय जोड़े जाते थे। इसी प्रकार क्रियाओं में काल, वचन, पुरुष, वाच्यादि का भेद प्रकट करने के लिये धातु के पीछे तिङादि प्रत्यय जोड़े जाते थे। यह सुप् और तिङ् आदि प्रत्यय शब्द या धातु से मिल कर ऐसे तन्मय हो जाते थे कि अपनी सत्ता खोकर एक शब्द बन जाते थे। उदाहरणार्थ, जब किसी को कहना होता था "घर में" (जो हिन्दी में दो पृथक् शब्द समझे जाते हैं) तो वह कहता था "गृहे" अर्थात् 'गृह' शब्द के साथ 'इ' प्रत्यय को इस प्रकार जोड़ते थे कि दोनों मिलकर एक शब्द बन जाता था। उस समय के उच्चारण में यह विशेषता थी कि शब्दों के आदि और मध्य में संयुक्त वर्ण प्रचुरता से बोले जाते थे। केवल शब्द के अन्त में संयुक्त वर्णों में से एक का लोप हो जाता था। उदाहरण—क्त—नक्तादि शब्दों में; श्व—श्वास, अश्व आदि शब्दों में इत्यादि। शब्दों के भिन्न २ अक्षरों के उच्चारण में बल की अपेक्षा स्वर अधिक प्रधान था *। शिक्षा, प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में बल का कोई स्पष्ट उल्लेख अभी

---

* बोलने में शब्द के सभी अक्षर एक ही बल या एक ही स्वर के साथ नहीं बोले जाते। कोई २ अक्षर अन्य अक्षरों की अपेक्षा अधिक बल के साथ बोला जाता है। जिस अक्षर को अधिक बल से बोलें उसे "बली" अक्षर कहते हैं और शेष "निर्बल" अक्षर कहे जाते हैं। इसी प्रकार शब्द के किसी अक्षर को ऊंचे स्वर में और किसी को नीचे स्वर में उच्चारण करते हैं। वैदिक भाषा में स्वर की दृष्टि से अक्षर तीन प्रकार के थे– उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। "बल" और "स्वर" सभी भाषाओं में पाए जाते हैं, किसी में कोई प्रधान होता है किसी में कोई। वैदिक भाषा में स्वर प्रधान था और बल गौण।, परन्तु आधुनिक आर्य भाषाओं में बल प्रधान और स्वर गौण हो गया है। पञ्जाबी में दोनों पाए जाते हैं। अंग्रेजी में स्वर की अपेक्षा बल अधिक प्रधान है।

तक नहीं मिला। जब हम वाक्य-रचना की ओर देखते हैं तो मालूम होता है कि वैदिक भाषा में तिङन्त क्रिया-रूपों की भरमार थी और उन के स्थान में कृदन्त (सत्, निष्ठादि प्रत्ययान्त) रूप प्रयुक्त नहीं किये जाते थे। कृदन्त रूप बहुधा विशेषण होकर ही आते थे। वैदिक भाषा में छन्द इतने अधिक न थे जितने कि वह पीछे संस्कृत में हो गए। और उन में पाद के पिछले पांच चार अक्षरों को छोड़ कर दूसरों के गुरुलाघव में भी कवियों को बड़ी स्वाधीनता थी।

४—वैदिक समय में आर्य-सभ्यता का केन्द्र पञ्जाब प्रान्त था। परन्तु समय के प्रवाह के साथ २ यह केन्द्र पूर्व की ओर सरकता गया और कुछ काल पीछे गङ्गा और यमुना नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश का उत्तरीय भाग इस सभ्यता का केन्द्रस्थान हो गया। संस्कृत ग्रन्थों में इसे मध्य-देश के नाम से पुकारा है। यह देश पूर्व में प्रयाग (अलाहाबाद), पश्चिम में सरस्वती, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्याचल के बीचों बीच फैला हुआ था। आर्य-सभ्यता के केन्द्र-परिवर्तन के साथ आर्य-भाषा में भी परिवर्तन होता गया। साहित्यिक दशा में यह अपने वैदिक रूप से संस्कृत रूप में परिवर्तित

हिन्दी के वैयाकरण "बल" के लिये "स्वराघात" परिभाषा का प्रयोग करते हैं। मेरी समझ में "स्वराघात" की अपेक्षा "बल" अधिक उचित मालूम देता है, क्योंकि "बल" का स्वरूप "स्वर" से भिन्न है और स्वर शब्द पहिले ही कई अर्थों में प्रयुक्त हो रहा है। हिन्दी लिखने या छापने में बली अक्षर को निर्दिष्ट करने की प्रथा नहीं है और न ही इस कार्य के लिये कोई चिह्न नियत है। इस लेख में बली अक्षर के दाईं ओर जरा ऊपर को स्वास्तिक चिह्न (×) दिया जायगा। जैसे—

च+ला (बल प्रथम अक्षर पर) अर्थ—भूतकाल की सामान्य क्रिया।

चला+ (बल दूसरे अक्षर पर) अर्थ—प्रेरणार्थक आज्ञा वाची।

बली अक्षर अपनी सत्ता स्थिर रखते हैं परन्तु निर्बल अक्षर धीरे २ घिसते रहते हैं। प्राचीन शब्दों के अन्त के निर्बल अक्षर, विशेष कर उनके स्वर भाग तो आधुनिक आर्य भाषाओं में सर्वथा ही लुप्त हो गए हैं।

हो गई, जिस पर तत्कालीन मध्यदेश की बोलचाल की भाषा का भी अच्छा प्रभाव है। यद्यपि संस्कृत को तो कुछ ही काल में वैयाकरणों ने व्याकरण की शृङ्खलाओं से ऐसा जकड़ा कि फिर वह इन से कभी न छूटी और सर्वदा के लिये पाशबद्ध होकर परिवर्तन से भी मुक्त हो गई, परन्तु ऐसा होने पर भी यह अखिल भारत में शिष्ट और पण्डित लोगों की भाषा बनी रही। साधारण बोलचाल की आर्य-भाषा ने अब प्राकृतों का रूप धारण कर लिया था। कई एक प्राकृत तो स्वतन्त्र ग्रन्थों से जानी जाती हैं, कई शिला-लेखों से और कई संस्कृत नाटकों से; क्योंकि संस्कृत नाटकों में विशेष २ पात्र भिन्न २ प्राकृत बोलते हैं। आर्य भाषा की इस अवस्था को "प्राकृत" या मध्यमकालीन अवस्था कहते हैं। इस के अन्दर महाराज अशोक के लेखों की भाषा, जैन साहित्य की "अर्धमागधी" तथा बौद्धग्रन्थों की "पाली" संमिलित हैं।

५—वैदिक भाषा की तरह प्राकृत अवस्था में भी आर्य भाषा पूर्णतया विभक्तिमय रही, तथापि इस का व्याकरण बहुत सरल हो गया था। इस की नाम-विभक्ति पर अकारान्त पुल्लिङ्ग विभक्ति का, और इसकी क्रिया-विभक्ति पर भ्वादि गण की परस्मैपद विभक्ति का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। परिणाम यह हुआ कि नाम और क्रिया के बहुत से रूप अपने संकुचित मार्ग (ऋकारान्त शब्द, हलन्त शब्द) को छोड़ कर विशाल मार्ग (अकारान्त पुंल्लिङ्ग, भ्वादि गण, परस्मैपद) पर चले आए। लङ्, लुङ्, लिट् लृङ् आदि क्रियाओं के रूप तो सर्वथा लुप्त हो गए। इसी प्रकार द्विवचन तथा चतुर्थी विभक्ति (सम्प्रदान) के रूप व्यवहार में आने से बन्द हो गए। उच्चारण पक्ष में सब से अधिक परिवर्तन संयुक्त वर्णों तथा अन्तिम व्यञ्जनों में हुआ। अन्तिम अनुस्वार न् और म् को छोड़कर और सभी अन्तिम व्यञ्जन लुप्त हो गए। अनुस्वार, न् और म्, तीनों के स्थान में अनुस्वार हो गया। संयुक्त वर्णों के उच्चारण में पर-सवर्ण और पूर्व-सवर्ण का आदेश होकर बहुत ही सरलता आ गई। उदाहरणार्थ, संस्कृत के पश्चात्, गच्छन्, पुत्रः, दुग्धम्, सप्त आदि शब्द प्राकृत में पच्छा, गच्छं, पुत्तो, दुद्धं, सत्त आदि बन गए। वैदिक भाषा का गीतात्मक उदात्त स्वर श्वासात्मक बल में बदल गया और साथ ही यह नियम भी न रहा

कि जिस अक्षर पर पहिले उदात्त स्वर था उसी पर बल भी पड़े। वाक्य-रचना में कृदन्त रूपों का प्रचार बहुत बढ़ गया। तिङन्त के स्थान में बहुधा कृदन्तरूप ही प्रयुक्त होने लगे। जहां पहिले लोग कहते थे "रामःपुष्पं ददर्श," अब कहने लगे "रामेण पुप्फं दिठ्ठं"। वैदिक समय की अपेक्षा अब छन्दों में भी भेद आगया था। अनुष्टुप् और आर्या छन्दों का प्रचार बहुत अधिक था।

६—आर्य-भाषा की प्राकृत या मध्यमकालीन अवस्था कोई वि० पू० ६०० वर्ष से वि सं० १००० तक रही, और इस सुदीर्घ काल में सरलता लाने वाली शक्तियां निरन्तर अपना काम करता रहीं। वि० सं० १००० के लग भग आर्य भाषा की उस अवस्था का प्रारम्भ होता है जिसे आधुनिक अवस्था कहते हैं। इस अवस्था की सबसे बड़ी विशेषतया यह है कि नाम की, और बहुत अंशों तक धातु की रूप रचना अब विभक्तिमय नहीं रही। नाम रूप रचना में अब आठ या सात विभक्तियों के स्थान में केवल दो (या सम्बोधन समेत तीन) ही रूप रह गए। दूसरे कारकों का बोध कराने के लिए विभक्ति प्रत्ययों के स्थान में अब ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं जो प्राचीन संज्ञा या विशेषण शब्दों के अवशेष हैं और वाक्य रचना में अपने से सम्बन्ध रखने वाले नाम से भिन्न रहते हैं। उच्चारण में भी बहुत परिवर्तन हुआ है। उदाहरणार्थ, उस ध्वनि को लीजिये जिस को प्रकट करने के लिये देव नागरी लिपि में "अ" सङ्केत है। 'अ' का उच्चारण बंगला भाषा में कुछ२ "ओ" से मिलता है। हिन्दी और पञ्जाबी के उच्चारण से पाठक गण परिचित ही हैं। मराठी भाषा में भी "अ" के उच्चारण में कुछ विशेषता है। आधुनिक आर्य भाषाओं के उच्चारण में ध्यान देने योग्य एक यह बात है कि पञ्जाबी, लहन्दी, और सिन्धी के अतिरिक्त और सब भाषाओं में प्राचीन संयुक्त वर्णों के पूर्ववर्ती मध्यम कालीन ह्रस्व स्वर अब दीर्घ हो गए हैं, जिसका परिणाम यह हुआ है कि इन भाषाओं में वैदिक कालीन स्वरों की ह्रस्व दीर्घता का भेद लुप्त हो गया है। उदाहरण के लिये देखिये, संस्कृत शब्द "सप्त" और "काष्ठ"। प्राकृत अवस्था में दोनों शब्द क्रमशः "सत्त" और "कठ्ठ" बन गए, अर्थात् दोनों शब्दों के प्रथम अक्षर में ह्रस्व "अ" था और इस से वैदिक कालीन ह्रस्वदीर्घता का बोध नहीं होता। आधुनिक समय में हिन्दी

गुजराती, बंगला और मराठी में यह शब्द "सात" और "काठ हो गए हैं, अर्थात् मध्यम कालीन ह्रस्व "अ" दीर्घ हो गया है परन्तु यहां भी वैदिक कालीन ह्रस्व दीर्घता का भेद वैसे ही लुप्त रहा। इसके विपरीत पञ्जाबी, लहन्दी और सिन्धी में यह शब्द "सत्त" (सिन्धी 'सत') और 'काठ' हैं, और यहां प्राचीन कालिक ह्रस्वदीर्घता का भेद बना रहा है। वाक्य-स्वर-संक्रम (वाक्य में ध्वनियों का ऊंचे नीचे सुर में बोलना) भी प्रत्येक भाषा का भिन्न २ है। जब भिन्न २ भाषा बोलने वाली जातियों का आपस में सम्पर्क होता है तो उन की भाषांए एक दूसरे के कुछ अंश ग्रहण कर लेती हैं। भाषाओं में परस्पर का यह लेन-देन प्रायः शब्दों तक ही परिमित रहता है, व्याकरण पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता। जब आर्य लोगों का भारत की आदिम जातियों से सम्पर्क हुआ तो आर्य भाषा में आदिम जातियों की बोलियों के बहुत से शब्द संमिलित हो गए जिनका अब पता लगाना सहज बात नहीं रही। मुसलमानों का भारत पर आक्रमण आर्य भाषाओं के जन्म के समकालीन है। कई सौ बरस तक मुस॰ लमानों का राज्य रहा। इस कारण आधुनिक-आर्य-भाषाओं के शब्द भण्डार में अरबी फारसी के अनेक शब्द संमिलित हो गए हैं, परन्तु उन के रूप में अभी इतना विकार नहीं हुआ कि वह पहिचाने न जासकें। जब से अंग्रेजों का शासन हुआ है, अंग्रेजी भाषा के शब्द धड़ाधड़ आर्यभाषाओं में मिल रहे हैं। प्रत्येक भाषा की छन्दरचना अपनी भाषा के स्वरूप से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। जो छन्द संस्कृत प्राकृत काल में प्रचलित थे वह आधुनिक आर्य भाषाओं में अच्छी तरह नहीं बनाए जा सकते। इस लिये आधुनिक भाषाओं में नवीन प्रकार के छन्द चल पड़े हैं।

७—भारत भूमि पर आर्य भाषा के इस संक्षिप्त इतिहास और विकास क्रम का वर्णन बन्द करने से पहिले "अपभ्रंश" का उल्लेख करना जरूरी है। प्राकृत अवस्था की अन्तिम सीमा अपभ्रंश कही जाती है। अपभ्रंश के पश्चात् आधुनिक-भाषा-युग प्रारम्भ होता है। परन्तु अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं के प्राचीन रूप में अत्यन्त सादृश्य है, जैसा कि चन्दवरदाई कृत "पृथिराज रासौ" की भाषा से स्पष्ट प्रतीत होता है, जो हिन्दी भाषा का सबसे पुराना नमूना

माना जाता है।

८—स्वाभाविक बात है कि जो भाषा ४००० वर्से की आयु भोग चुकी हो और जिस ने हजारों मील लम्बे चौड़े क्षेत्र में वृद्धि पाई हो, उस की कई शाखाएं बन जायं। आर्य भाषा इस नियम से विरुद्ध नहीं चली। आज वही प्राचीन आर्य भाषा की कली एक दर्जन से भी अधिक भिन्न २ भाषा रूप पंखड़ियों में खिली हुई दिखाई दे रही है। यहां यह बात भी कह देने योग्य है कि इन आर्य भाषाओं का विकास एक दूसरे से स्वतन्त्र और पृथक् रह कर नहीं हुआ, किन्तु उन्हों ने आपस में एक दूसरे पर बहुत गहरा प्रभाव डाला है। इस प्रभाव का स्वरूप और परिणाम अभी तक निश्चित नहीं हुआ। इन में से कई एक तो साहित्य क्षेत्र में बड़ी प्रधान भाषाएं हैं और कई में साहित्य नाम मात्र को भी नहीं। कई भाषाएं अपने बोलने वालों की नैतिक, धार्मिक वा आर्थिक उच्चता के कारण इतर प्रदेशों में भी बोली जाती हैं और कई को अपने क्षेत्र के बाहिर कोई जानता भी नहीं। इस स्थान पर इन भाषाओं का संक्षिप्त वर्णन कर देना अनुचित न होगा।

९—सर् जार्ज ए० ग्रियर्सन ने, जो कि भारतीय भाषाओं के अद्वितीय पण्डित हैं अपने "लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया" नामक ग्रन्थ में आधुनिक आर्य भाषाओं के व्याकरण पर पूर्णतया विचार करके उनकी इस प्रकार बांट की है।

१—प्राच्यवर्ग—जिस में बंगला, आसामी, बिहारी तथा उड़िया भाषाएं शामिल हैं।

२—मध्यम वर्ग—जिस में केवल पूर्वी हिन्दी समझी जाती है।

३—दक्षिणीय वर्ग—जिस में मराठी भाषा समझी जाती है।

४—उत्तर-पश्चिमीय वर्ग—जिस में सिन्धी, लहन्दी, कश्मीरी तथा अन्य दारद भाषाएं शामिल हैं।

५—केन्द्रीय वर्ग—जिस में पन्जाबी और पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती, भीली और खानदेशी तथा पहाड़ी भाषाएं शामिल हैं।

भाषा आसाम तराई के लखीमपुर और ग्वालपाड़ा जिलों में तथा उन के मध्यवर्ती भाग में बोली जाती है। आसाम में और भी भाषाएं बोली जाती हैं। आसामी भाषा बोलने वालों की संख्या १९लाख के लग भग है। आसाम को संस्कृत में "कामरूप" कहते हैं, परन्तु बंगाली लोग उसे "ओशोम" (संस्कृत-अ सम, अर्थात् ऊंचा नीचा प्रदेश) कहते हैं और इसी से वह लोग वहां की भाषा को "आशामी" कहते हैं जो बंगला और नागरी लिपि में "आसामी" करके लिखा जाता है

बंगला और आसामी एक दूसरे से बहुत मिलती जुलती भाषाएं हैं इसी लिये कई विद्वान् आसामी को बंगला की एक बोली ही मानते हैं। कई बार दो भाषाओं को उनके व्याकरण में समता रहने पर भी पृथक् माना जाता है यदि उन के साहित्यों में कोई विशेष भेद हो। बंगला और आसामी के साहित्य एक दूसरे से स्वतन्त्र है तथा आसामी पर संस्कृत व्याकरण और शब्द कोष का इतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि बंगला पर पड़ा है। अतएव इन को पृथक् भाषाएं मानने में कोई बाधा नहीं है।

आसामी साहित्य उतना ही पुराना और सौ सवा सौ साल पहिले तक उतना ही विस्तृत था जितना कि बंगला का साहित्य। आसामी साहित्य का प्रधान अङ्ग ऐतिहासिक रचनाएं है जिनको आसामी लोग "बूरञ्जी" कहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ धार्मिक ग्रन्थ भी पाए जाते हैं जिनमें 'श्रीशङ्कर' कृत भागवत पुराण का अनुवाद विशेष उल्लेखनीय है, जिसको किये हुए अनुमानत: ५०० वर्ष हुए और जो आसामी साहित्य में सब से प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है

११—आसामी की पड़ोसिन, पश्चिम की ओर बंगला भाषा है जो आधुनिक आर्य भाषाओं में बड़ा ऊंचा स्थान रखती है। यह भाषा बङ्गाल प्रान्त में बोली जाती है और इसके बोलने वालों की संख्या साढ़े चार करोड़ के लग भग है। बङ्गाली लोग अपनी भाषा को 'बाङ्ला" या बङ्गभाषा (अथात् बङ्ग देश की बोली) कहते हैं।

उस साहित्यिक बंगला ने जिसे बंगाली 'साधुभाषा' कहते हैं थोड़े काल से ही जन्म लिया है। इसके जन्मदाता थे कलकत्ता के धुरीण संस्कृत पण्डित

इन पण्डितों का अन्तरङ्ग आशय चाहे कितना ही भला हो, परन्तु उन्होंने बंगला भाषा को संस्कृत व्याकरण, विशेष कर संस्कृत शब्दों का प्रचुर दान देकर एक प्रकार का अत्याचार ही किया है, क्योंकि जहां यह पहिले सर्व साधारण की भाषा थी और साहित्यिक रूपमें आकर अपने बोलने वालों का भला करती, उन्हें बिना अधिक परिश्रम के विद्वान् बनाती, वहां अब यह उन से अपना मुंह छिपाए रखती है और वह बेचारे बड़ा कष्ट उठाकर इस का दर्शन कर पाते हैं। शोक है कि हिन्दी की भी अब यही दशा हो चली है।

आधुनिक आर्य भाषाओं में बंगला का साहित्य सब से अधिक मौलिक और विस्तृत है। अपने साहित्य और विशेष कर श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं के कारण बंगला का नाम दुनिया भर में प्रसिद्ध हो गया है। साधु भाषा का साहित्य तो सौ सवा सौ साल के अन्दर ही लिखा गया। बंगला के प्राचीन साहित्य में मानकचंद का गीत सब से पुराना ख्याल किया जाता है, परन्तु इस की भाषा का रूप बहुत कुछ बदल गया है। चण्डी दास जिन्होंने श्रीकृष्ण की भक्ति के गीत लिखे, चौदहवीं शताब्दी में हुए, और चैतन्य महाप्रभु, जो उच्चकोटि के धार्मिक कवि थे सोलहवीं शताब्दी में हुए। इन के पश्चात् बंगला के और बहुत से प्रसिद्ध कवि और लेखक हुए।

१२—बंगला के साथ लगती पश्चिम दिशा में उड़िया भाषा है जो उड़ीसा में तथा बिहार, मध्य प्रान्त और मद्रास इहाते के निकटवर्ती भागों में बोली जाती है। इस के बोलने वालों की संख्या सवा करोड़ के लग भग है।

नरसिंहदेव (द्वितीय) के एक शिला लेख में, जो विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का है कुछ ऐसे शब्द पाए जाते हैं जो उड़िया का सब से पुराना रूप प्रकट करते हैं। उड़िया भाषा में कुछ अधिक साहित्य नहीं मिलता। इस का पहिला लेखक उपेन्द्र भञ्ज समझा जाता है जिसने कुछ धार्मिक कविता की है। कृष्णदास का "रसकल्लोल" नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। आधुनिक साहित्य में मौलिकता नहीं देखी जाती।

१३—बिहारी भाषा * सारे बिहार प्रान्त तथा आगरा प्रान्त के पूर्वी

---

* हर्नेल महोदय अपनी "गौडियन ग्रामर" (सन् १८८०) में बिहारी भाषा को "पूर्वी हिन्दी, के नाम से उल्लेख करते हैं।

जिलों और अवध के एक छोटे से भाग में बोली जाती है। इस के बोलने वालों की संख्या कोइ पौने चार करोड़ है। इसके उत्तर में भारतचीनी भाषाएं, पूर्व में बंगला, दक्षिण में उड़िया, तथा पश्चिम में पूर्वी हिन्दी बोली जाती है।

बिहारी भाषा की तीन मुख्य बोलियां हैं—(१) मैथिली, जिसे तिरहुतिया भी कहते हैं (२) मगही और (३) भोजपुरी। इन में साहित्य की दृष्टि से केवल मैथिली ही महत्त्वपूर्ण है। मिथिला देश चिरकाल से अपने संस्कृत (न्याय, मीमांसा आदि के)पण्डितों के लिये प्रसिद्ध रहा है। इसी देश में लखिमा ठाकुरानी नामक एक विदुषी १५ वीं शताब्दी में हुई, जिस ने साहित्य क्षेत्र में अच्छी प्रसिद्धि पाई। विद्यापति ठाकुर, जिनको हिन्दी और बंगला वाले दोनों अपना करके मानते हैं इसी मिथिला देश में हुए। इन के अतिरिक्त और भी बहुत से मैथिली के लेखक हुए। मगही और भोजपुरी में कुछ साहित्य नहीं मिलता। हां, भोजपुरी में कुछ गीत सुने जाते हैं जो बड़े मधुर और भाव पूर्ण हैं, परन्तु अभी प्रकाशित नहीं हुए।

१४—आर्य भाषाओं के दक्षिणीय वर्ग के अन्तर्गत केवल एक ही भाषा है और वह मराठी है। मराठी भाषा बम्बई प्रान्त, बरार, मध्यप्रान्त, मध्यभारत तथा मद्रास प्रान्त के कुछ हिस्सों में बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या दो करोड़ के लग भग है।

मराठी भाषा की तीन बोलियां हैं—(१) देशी, जो दक्षिण देश में बोली जाती है और साहित्यिक तथा शिष्ट भाषा समझी जाती है (१) कोकंणी जो समुद्र तटके साथ २ बोली जाती है (३) बराडी नागपुरी जो बरार और नागपुर में बोली जाती है। गोआ के आस पास की बोली भी मराठी से सम्बन्ध रखती है, किन्तु कई अंशों में उससे भिन्न भी है।

मराठी का पुराना रूप ताम्र तथा शिला-लेखों में पाया जाता है, जिनका समय विक्रम की १२ वीं शताब्दी है। मराठी के साहित्य का जन्म वैष्णव धर्म के साथ २ हुआ। प्राचीन कवियों में से यह कवि प्रसिद्ध हैं जिनके ग्रन्थ अब तक विद्यमान हैं। मुकुन्दराज (विक्रम की १३ वीं शताब्दी), ज्ञानदेव जिन्होंने सं० १३४७ में भगवद्गीता पर "ज्ञानेश्वरी" नामक टीका लिखी, नाम-

देस जो ज्ञानदेव के समकालीन थे तथा जिनकी कुछ कविता सिक्खों के आदि-ग्रन्थ में पाई जाती है। पीछे के लेखकों में से अभङ्गों के कर्ता एकनाथ, जिन की मृत्यु सं० १६६६ में हुई और "दासबोध" के कर्ता रामदास जो शिवाजी के गुरु थे, प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त मोरपन्त (सं० १७८६—१८५१) अत्यन्त प्रसिद्ध कवि हुए हैं जिन की कविता बड़ी सुन्दर और सरस है। आधुनिक मराठी साहित्य बहुत विस्तृत है। बंगला की भांति उपन्यास इसका प्रधान अङ्ग है।

१५—आर्य भाषाओं के दक्षिणीय वर्ग की भांति मध्यम वर्ग भी एक ही भाषा का बना हुआ है, जिसका नाम है पूर्वी हिन्दी। यह भाषा पश्चिमी हिन्दी के पूर्व में संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त तथा मध्यभारत के हिस्सों में बोली जाती है। इस के बोलने वालों की संख्या अढ़ाई करोड़ के लग भग है। पूर्वी हिन्दी की मुख्य तीन बोलियां हैं —(१) अवधी (२) बाघेली और (३) छत्तीसगढ़ी, परन्तु साहित्य की दृष्टि से इन सब में अवधी ही प्रधान है। रामभक्ति के शिरोमणि कवि गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने अपना "रामचरित मानस" जो सर्वसाधारण में 'तुलसी रामायण' के नाम से प्रसिद्ध है और हिन्दी साहित्य क्या, सारे संसार के साहित्यों में एक अमूल्य रत्न है, इसी भाषा में लिखा है। तुलसीदास से पहिले कई मुसलमान कवि हुए हैं जिन्हों ने दोहे चौपाई में मनोहर और उपदेश दायक काव्यरूप कथाएं लिखीं। इन में जायस के रहने वाले मलिक मुहम्मद जायसी सब से प्रसिद्ध हैं। इन्हों ने सं० १६०० के लग भग "पद्मावती" नाम की कथा लिखी। इसके पश्चात् नूरमुहम्मद ने "इन्द्रावती" और कुतबन ने मृगावती लिखी। इस प्रकार के कथा-काव्य हिन्दू कवियों ने भी लिखे हैं।

हिन्दीभाषा और उसकी बोलियां।

१६—आर्य भाषाओं के केन्द्रीय वर्ग में पश्चिमी हिन्दी नमूने की भाषा है। इस का विस्तृत वर्णन आगे किया जायेगा। यहां केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इस के बोलने वालों की संख्या चार करोड़ के लग भग है और इस की पांच बोलियां हैं। १ ब्रज भाषा, जो ब्रज मण्डल में मथुरा और आगरा

के आस पास बोली जाती है। (२) कन्नौजी जो गङ्गा दो-आव के उत्तरीय भाग में ब्रज भाषा के पूर्व में बोली जाती है। (३) बुन्देली जो बुन्देलखण्ड और मध्य भारत के एक हिस्से में बोली जाती है। (४) बांगरू जो पूर्व-दक्षिण पञ्जाब में और (५) बोल चाल की हिन्दोस्तानी जो ब्रज भाषा के उत्तर में अम्बाला से रियास्त रामपूर तक बोली जाती हैं। इस को बोलचाल की हिन्दुस्तानी इस लिये कहते हैं कि साहित्यक हिन्दुस्तानी अर्थात् हिन्दी या खड़ी बोली और उर्दू इसी के सम्मार्जित रूप हैं।

पश्चिमी हिन्दी का सब से प्राचीन ग्रन्थ चन्दवरदाई कृत "पृथीराज-रासौ" है, परन्तु रासौ की भाषा पर प्राकृत तथा अपभ्रंश का गहरा प्रभाव पड़ा हुआ है। प्राकृत पिङ्गल की भाषा, जो अपभ्रंश का छन्दोग्रन्थ कहलाता है और जो चौदहवीं शताब्दी का लिखा हुआ है पश्चिमी हिन्दी का ही एक रूप है।

पश्चिमी हिन्दी की पांचों बोलियों में से साहित्य की दृष्टि से ब्रज भाषा सब से प्रधान है। प्रायः समग्र उत्तरीय भारत की कविता पर शताब्दियों से इसका साम्राज्य रहा है। न केवल यही प्रत्युत इतर भाषाओं की कविता पर भी इस की छाप लगी हुई है। यद्यपि अब कुछ काल से खड़ी बोली में भी कविता होने लगी है तथापि बहुत से लोग अपनी कविता ब्रज भाषा में ही करते हैं, चाहे वार्तालाप करते समय तथा गद्य लिखते समय वे खड़ी बोली का ही आश्रय लेते हों।

ब्रज भाषा में कविता लिखने का महान् प्रयत्न महाप्रभु गोस्वामी श्रीवल्लभाचार्य ने किया जो विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में हुए हैं। उन्हों ने वैष्णवसम्प्रदाय (कृष्णशाखा) की स्थापना की और गोकुल को अपने उपदेश का केन्द्र बनाया। उन्हों ने तथा उनके शिष्यों ने इसी देश की, अर्थात् ब्रजमण्डल की भाषा में उपदेश दिया और उसी देश की भाषा में कविता रची। ब्रज भाषा के कवियों में सूरदास जी अग्रगण्य हैं। ये श्रीवल्लभाचार्य जी के शिष्य थे और चर्मचक्षु विहीन थे। इन की कविता की संख्या एक लाख से भी अधिक है।

"बिहारी सतसई" का कर्ता बिहारीलाल सतरहवीं शताब्दी का

प्रसिद्ध कवि हुआ है। सतसई का एक एक दोहा भावपूर्ण है। विहारी' का माधुर्य, रस, तथा ध्वनि ऐसे हैं कि किसी दूसरे साहित्य में वहुत कम देखने में आते हैं।

जबसे खड़ी बोली की कविता मैदान में आई है तबसे ब्रज भाषा की स्थिति निर्बल होती जाती है। ऐसा अनुमान होता है कि एक न एक दिन खड़ी बोली ब्रज भाषा का स्थान ले लेगी।

१७—आर्य भाषाओं के केन्द्रीय वर्ग की दूसरी भाषा राजस्थानी है। यह भाषा राजपूताना, अर्थात् राजस्थान में बोली जाती है और इस के बोलने वालों की संख्या १$\frac{9}{2}$ करोड़ के लग भग है। इसकी कई बोलियां हैं। उन में से मारवाड़ी सब से अधिक प्रसिद्ध है। यह मारवाड़, मेवाड़, पूर्वीसिन्ध, जैसलमेर, पञ्जाब के दक्षिण, तथा जयपुर के उत्तर-पश्चिमी भाग में बोली जाती है। राजस्थानी की मारवाड़ी ही एक ऐसी बोली है जिस में साहित्य पाया जाता है। यह साहित्य केवल समय की दृष्टि से प्राचीन ही नहीं, प्रत्युत विस्तार में भी अति विस्तृत है। प्राचीन मारवाड़ी भाषा जिस में कविता मिलती है "डिङ्गल", कहलाती है। यद्यपि "पृथिराजरासौ" राजपूत-इतिहास की पुस्तक है तथापि लिखी हुई है यह पश्चिमी हिन्दी के प्राचीन रूप में।

१८—आर्य भाषाओं के केन्द्रीय वर्ग की तीसरी भाषा गुजराती है जो गुजरात और काठियावाड़ (सोरठ) में बोली जाती है। इस के बोलने वालों की संख्या १$\frac{9}{2}$ करोड़ के लग भग है। देश भेद से गुजराती की और बोलियां नहीं। हां, पढ़े लिखे और अनपढ़ लोगों की बोली में कुछ भेद है। जो बोली व्याकरण पुस्तकों में वर्णित है वह पढ़े लिखे लोगों की बोली है।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि गुजराती बोलने वाले मुसलमान लोग बहुधा मूर्धन्य और दन्त्य वर्णों के उच्चारण में भेद नहीं करते। इसी प्रकार हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान तथा पारसी लोग फारसी अरबी शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं। गुजराती और राजस्थानी की शृङ्खला को मिलाने वाली भील भाषाएं है। यद्यपि इन की राजस्थानी की अपेक्षा गुजराती से अधिक समानता है, तथापि इनका वर्णन एक पृथक् भाषा-समूह में किया गया है।

गुजराती साहित्य अति विस्तृत है। प्राचीन काल से इसकी शृङ्खला अटूट चली आ रही है। गुजराती साहित्य के निर्माण में सब से अधिक श्रम जैन भिक्षुओं ने किया। यद्यपि उनकी कृति का बहुत बड़ा भाग जैन धर्म से सम्बन्ध रखता है तथापि उन्हों ने अनेक लम्बे २ काव्य लिखे हैं, जिन्हें "रासो" या "रास" कहते हैं। इन में ऐतिहासिक पुरुषों की जीवनियां हैं जो नीति और उपदेश से भरी हुई हैं। पारसी लोगों ने कुछ गुजराती साहित्य लिखा है। यह भी महिमाशाली है।

गुजराती का सब से प्राचीन कवि नरसिंह मेहता है जिस का जन्म जूनागढ़ में सं० १४७० में हुआ। यह जाति का नागर ब्राह्मण था। इसकी रचना छोटे २ पद हैं, जो अत्यन्त सरस और भक्तिपूर्ण हैं।

पीछे के कवियों में परमानन्द भट्ट, वल्लभ, कालिदास, प्रीतम, रेवाशङ्कर, श्यामल भट्ट, ब्रह्मानन्द और दयाराम प्रसिद्ध हैं। गुजराती साहित्य का एक और अङ्ग है ऐतिहासिक रास संग्रह ॐ। फॉर्बस साहिब ने अपनी पुस्तक "रास माला" अर्थात् गुजरात का इतिहास, लिखने में इन रासों से बहुत सहायता ली थी।

राजस्थान, मध्यभारत, मध्यप्रान्त तथा बम्बई प्रेसिडेन्सी के बीच के प्रदेश में भील, अहीर आदि जातियां बसती हैं जिन की संख्या अनुमान बीस लाख है। इन जातियों की भाषाएं गुजराती से बहुत कुछ मिलती हैं। इन में साहित्य का सर्वथा अभाव है।

१६—पञ्जाबी भाषा भी केन्द्रीय वर्ग के अन्तर्गत है। पञ्जाबी शब्द का अर्थ है पञ्जाब, अर्थात् पांच नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश की भाषा। वास्तव में पञ्जाबी बोलने वाले सभी लोग इस प्रदेश में नहीं बसते और न ही वह सभी लोग जो इस प्रदेश में बसते हैं पञ्जाबी बोलते हैं। इस प्रदेश के पूर्व की ओर पञ्जाबी नहीं बोली जाती। पञ्जाब देश की राजकीय सीमा के अन्दर कई और बोलियां बोली जाती हैं।

ॐ कई एक रास श्री यशोविजय जैन ग्रन्थ माला, भावनगर में प्रकाशित हो चुके हैं।

सतलुज नदी के पार बहुत दूर तक पञ्जाबी बोली जाती है और इसी प्रकार इस प्रदेश के पश्चिम में अर्थात् बारी, रचना और चज दोआबों के बड़े भाग में।

सर् जॉर्ज ग्रियर्सन् ने पञ्जाबी शब्द को उन बोलियों के लिये प्रयुक्त किया है जिन के बोलने वालों की संख्या डेढ़ करोड़ के लग भग है और जो पञ्जाब के पूर्वी भाग, बीकानेर रियासत के उत्तरी भाग, तथा जम्मू रियासत के दक्षिण भाग में बोली जाती है। पञ्जाबी के मुख्य दो रूप हैं—साधारण पञ्जाबी तथा जम्मू और कांगड़े की बोली जिसे डोगरी कहते हैं। पाश्चात्य लोगों ने पहिले पहल लुधियानी पञ्जाबी का अध्ययन किया और इसी का व्याकरण तथा कोश बनाया। पञ्जाब वासियों के मत में लाहौर और अमृतसर के ज़िलों की माझी बोली पञ्जाबी का ठेठ रूप है। आज कल प्रेस में तथा प्लैटफार्म पर इसी का व्यवहार होता है।

पञ्जाबी भाषा में कुछ अधिक साहित्य नहीं पाया जाता। सिक्ख लोगों की धर्म पुस्तक श्री आदिग्रन्थ पञ्जाबी का सब से प्राचीन नमूना माना जाता है परन्तु वास्तव में आदिग्रन्थ का थोड़ा भाग ही पञ्जाबी में है, शेष पुरानी हिन्दी में है। कुछ पद बङ्गला, मैथिली, तथा मराठी के पाए जाते हैं, परन्तु उनका रूप बहुत बदल गया है।

मुसलमान लोगों ने गुजरात; तथा गुजरांवाला में बोली जाने वाली पञ्जाबी को लेकर साहित्य रचना की। इनकी भाषा हिन्दू लेखकों की अपेक्षा अधिक ठेठ है। हिन्दू लोग अपने कविता-भावों को ब्रज भाषा से, अथवा तुलसी और कबीर के ग्रन्थों से लेते थे। इसीलिये उनकी भाषा में हिन्दी का अंश मिला रहता था। इस मिश्रित भाषा में कितना ही साहित्य विद्यमान है। अब भी कई साधु तथा पण्डित इस प्रकार की मिश्रित भाषा में अपना उपदेश करते हैं।

जो लोग हिन्दू धर्म छोड़ कर मुसलमान हुए थे वे प्रायः अनपढ़ थे। इस लिये उनके निमित्त मौलवियों ने मुसलमान धर्म की बहुत सी पुस्तकें पञ्जाबी भाषा में लिखीं। इन में से अब्दुल्ला आसी कृत "अनवाअ बारां" बहुत प्रसिद्ध है, जो लग भग तीन सौ वर्ष पुरानी है। हज़रत इमाम हुसैन तथा इमाम हसन

का यजाद के साथ जो युद्ध हुआ उसका वर्णन करने वाले अनेक जङ्गनाम मिलते हैं। इसी प्रकार कुरान शरीफ की १२ वीं पुस्तक में वर्णित यूसफ जुलेखा की कथा भी छन्दोबद्ध मिलती है।

कथा-साहित्य में हीर रांझे की कथा बहुत प्रसिद्ध है। सय्यद वारिस शाह कृत हीरको ठेठ पञ्जाबी का नमूना समझा जाता है। पिछले पच्चीस तीस वर्षों से पञ्जाबी साहित्य खूब बढ़ने लगा है और आशा की जाती है कि कुछ काल में पञ्जाबी अपने प्रान्त में उर्दू और हिन्दी का स्थान प्राप्त कर लेगी।

२०—केन्द्रीय वर्ग की अन्तिम भाषा पहाड़ी है। जैसा कि इस के नाम से प्रकट होता है पहाड़ी के अन्तर्गत नेपाल से लेकर पञ्जाब तक हिमालय पहाड़ के दामन में बोली जाने वाली भाषाएं हैं। यह भाषाएं तीन भागों में विभक्त हैं—

(१) पूर्वी पहाड़ी जिसे खसकुरा या नेपाली कहते हैं। (२) मंझली पहाड़ी अर्थात् गढ़वाली और कमाउनी, और (३) पश्चिमी पहाड़ी जिस में शिमले के आस पास से लेकर मण्डी तक की पहाड़ी बोलियां शामिल हैं। मरी पहाड़ और हजारा जिला के गूजरों की गूजरी बोली भी पहाड़ी बोली से सम्बन्ध रखती है। पहाड़ी बोली बोलने वालों की संख्या बीसलाख के लग भग है।

यद्यपि पहाड़ी बोलियां बिहारी, हिन्दी, तथा पञ्जाबी के निकट वर्त्ति-प्रदेशों में बोली जाती हैं तथापि इन की अधिक समानता गुजराती तथा राजस्थानी भाषाओं से है। इसका कारण यह है कि प्राचीन काल में राजस्थान के राजपूत लोग पहाड़ी प्रदेशों में जा बसे थे और उन्हों ने वहां के पूर्व निवासियों को हिन्दू धर्म में लाकर उन पर अपनी भाषा की छाप लगा दी थी।

२१—आर्य भाषाओं के उत्तर-पश्चिमीय वर्ग में सिन्धी भाषा बहुत प्रसिद्ध है। यह सिन्ध तथा कच्छ देश में बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या ३५ लाख के लग भग है। इसकी पांच मुख्य बोलियां हैं—

१- विचोली जो विचोलो अर्थात् हैदराबाद के इर्द गिर्द बोली जाती है। यह ठेठ सिन्धी है। पढ़े लिखे लोग इसी को बोलते हैं, और साहित्य की भी यही भाषा है। (२) दूसरी का नाम थरेली है जो "थरु" अर्थात् थल प्रदेश में बोली

का उद्देश्य (drama=thing done) केवल साथियों की मजाक उड़ाना रहा हो (जैसा कि अरिस्टोटल की, अनुकरण करने से प्राप्त होने वाले हर्ष की विश्वजनीनता वाली बात से प्रकट होता है) किन्तु अभिनय के ऋतुविशेषों में होने वाले धार्मिक अनुष्ठानों के रूप में परिवर्तित होते ही इस अनुकरण का ध्येय गंभीर तथा धार्मिक बन जाता है। केवल मनोविनोद के लिये नाटकों में भाग लेनेका विचार आधुनिकयुग में उत्पन्न हुआ है न कि प्राचीन काल में। प्राचीन कालकी सभी जातियां सुखान्त तथा दुःखान्त दोनों प्रकार के नाटक को एक प्रकार का आवश्यक धार्मिक अनुष्ठान माना करती थीं। यह तो एकान्ततः आधुनिक युग तथा सभ्यता के पूर्ण विकासका फल है कि आज नाटक को धर्म के गंभीर वातावरण से मुक्ति मिल गई है और उसे एकमात्र मनोविनोद का साधन समझा जाने लगा है। किन्तु George Bernard Shaw इस प्रवृत्तिका विरोध कर रहे हैं। वे नाटक को फिर से समाज सुधार के गंभीर काम में लगाना चाहते है।

ऊपर के सन्दर्भ से स्पष्ट होगया होगा कि संसार के सब देशों तथा जातियों में किसी न किसी प्रकार के नाटक का होना स्वाभाविक है। फलतः हम संसार की सभी उन्नत भाषाओं में नाटक का पूर्ण विकास पाते हैं। परन्तु अरबी, फारसी, उर्दू तथा हिन्दी इस नियम के अपवाद हैं। इस अपवाद का क्या कारण है ?

पहले अरबी को लीजिये। अरब लोगों ने कविता, तथा वैद्यक आदि विद्याओं में असामान्य उन्नति की थी। इसलिये अरब लोगों के विषय में Andre Servier का यह कहना —

'Epic and dramatic poetry, which depend upon high imaginative gifts, do not exist among the Arabs, a further proof of their poverty of imagination.' *अनुचित तथा असत्य है। इतिहास बताता है कि

* Islam and the Psychology of the Musalman. पृष्ठ २३३

इस्लाम के जन्म से पहले अरब में मूर्तिपूजा तथा मन्दिरों से संबन्ध रखने वाले मेले हुआ करते थे। *इन में देश की भिन्न भिन्न जातियां एकत्र हो आमोद प्रमोद के साथ अपने धार्मिक अनुष्ठानों को मनाया करती थीं। देश के प्रख्यात कवि एकत्र होते थे और अपनी कविताओं से सत्ताधीशों का मनोरञ्जन किया करते थे। मेलों मे होने वाले मौखिक प्रचार की सहायता से ही अरबी कविता:-

"Flew faster than arrows across the desert"

शीघ्रता के साथ देशके एक कोनेसे दूसरे कोने तक पहुंच जाती थी। इन मेलों में किसी न किसी प्रकार के नाटकों का खेला जाना स्वाभाविक तथा अनिवार्य था।

किन्तु अरबमें इस्लाम का जन्म होते ही देश से मूर्तिपूजा और उसकी आधारशिला पर खड़े होने वाले उक्त मेले, और उन मेलों में होने वाले नाटक सदा के लिए चल बसे। इस बात का क्या कारण है ?

सब जानते हैं कि नाटकों का आरम्भ नृत्य तथा गान के साथ हुआ है। इस बात में अंग्रेज़ी विश्वकोष का यह लेख प्रमाण है---

'Dramas did quite literally begin with song and dance and the most popular form of drama today is still mainly compect of song and dance.†

‡परन्तु इस्लाम में गाने बजाने का निषेध है। कुरान की 'We have

---

* Arabischen heidentum.

† Encyclopedia Britanica. (अन्तिम संस्करण) Drama नामक प्रकरण.

‡ In Music, the Arabs have shown the same nullity as in other branches of the fine arts. In a general way, the Musalmans considered it as a mercinary art, putting it in the same class as dancing.,
Salvador Daniel, रचित "La musique Arab"

not taught him versification' * इस आयत के अनुसार मोहम्मद साहिब तो कविता करने का भी घोर विरोध करते थे। † और यदि कहीं धार्मिक कट्टरपन में पिछले खलीफा पहले चार खलीफाओं का अनुकरण करते तो अरबी कविता का भाग्य शोचनीय हो जाता और साहित्य में धार्मिक चर्चा के अतिरिक्त और कुछ भी न सुनाई पड़ता। इब्न खल्दून (Ibn Khaldoun) स्पष्ट शब्दों में गाने बजाने की अवज्ञा करता है। वह कहता है:-

'हम जानते हैं कि मओवियाह (Maowiah) ने अपने पुत्र येज़िद को गान विद्या से प्रेम करने के कारण धमकाया था' ‡

इस्लाम की इन कठोर आज्ञाओं का परिणाम यह हुआ कि देश में नृत्य और गान की इति श्री होगई और इन दोनों कलाओं की आधार शिला पर खड़े होने वाले नाटक का अन्त होगया।

'The song and the dance were held in but light esteem in both Rome and Greece; and, as the Arabs imitated the fashions of Greco Latin civilisation, it is not impossible that they adopted its prejudices against music.' Yakub Artin Pasha, quoted by Andre Servier in Islam and the Psychology of the Musalman. पृष्ठ २३६

* Dr. Margoliouth रचित Early Development of Mohammadanism पृष्ठ १७७

† Encyclopedia Britanica का अरबी नामक प्रकरण

‡ Andre Servier ने अपनी Islam and the Psycho logy of the Musalman नामक पुस्तक के २३८ पृष्ठ पर उद्धृत किया है।